Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113067

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सम्मेलन पत्रिका

पौष : फाल्गुन शक १८८२ • भाग – ४७ : अंक – १

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113067

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सम्मेलन-पत्रिका

[ त्रैमासिक ]

113067

[भाग--४७, संख्या--१]

पौष-फाल्गुन शक १८८२

सम्पादक

ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

RT-0517

वार्षिक आठ रुपये } हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग { एक प्रति दो रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विषय-सूची


| | पृष्ठ |
|---|---|
| १. मौलाना दाऊद कृत 'चंदायन' [डाक्टर परमेश्वरीलाल गुप्त, एम० ए०, पी० एच-डी०] | ३ |
| २. संस्कृत काव्य-शास्त्र में साहित्यतत्त्व [आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०, शास्त्री] | १४ |
| ३. सूर-सारावली में कवि के आत्मकथन [डाक्टर प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०, पी० एच-डी०] | २७ |
| ४. बारहमासा की परंपरा और पद्मावत [डाक्टर श्यामूमनोहर पांडेय, एम० ए०, डी० फिल्] | ३७ |
| ५. अभिव्यंजना के मूलतत्त्व [डाक्टर आशा गुप्ता, एम० ए०, पी० एच-डी०] | ४४ |
| ६. हिन्दी भाषा में संदेहार्थ [डाक्टर व० प० लिपोरोवस्की ( मास्को )] | ६३ |
| ७. कवि बनारसीदास [डाक्टर प्रेमसागर जैन, एम० ए०, पी० एच-डी०] | ६८ |
| ८. खड़ीबोली के काव्य में मुहावरे [डाक्टर मोहन अवस्थी, एम० ए०, पी०एच-डी०] | ८१ |
| ९. मीराबाई के काव्य में लोक-जीवन [डाक्टर देवीदत्त शर्मा, एम० ए०, पी० एच-डी०] | ८७ |
| १०. शकों का जातीय जीवन और भौगोलिक स्थिति [श्री प्रशान्तकुमार जायसवाल, एम० ए०] | १०७ |
| ११. विविधा—(१) साधारणीकरण क्या और कैसे [डाक्टर रामदत्त भारद्वाज एम० ए०, डी० लिट्] | |
| (२) रीति कालीन कविपरिपटियों के प्रतीक [डाक्टर वीरेन्द्रसिंह एम० ए०, डी० फिल्] | ११७ |
| (३) हिन्दी साहित्य और गोर्की [डाक्टर महेन्द्र भटनागर एम० ए०, पी० एच-डी०] | |
| (४) प्राचीन राजस्थानी कवि 'भंडारी उदयचंद—श्री मदनराज दौलतराम मेहता | |
| (५) भोजपुरी लोकगीतों में सांस्कृतिक तत्व—श्री श्रीधर मिश्र एम० ए० | |
| १२. पुस्तक-परिचय—डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० लिट्; डाक्टर जयराम मिश्र एम० ए०, पी० एच-डी०; श्री विश्वम्भर 'मानव' एम० ए०; श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री; श्री कृष्णनारायण लाल एम० ए०, 'साहित्यरत्न'; श्री सत्या गुप्ता एम० ए०; श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय; श्री रामकीर्ति द्विवेदी; श्री सत्यार्थी एम० ए०, श्री देवदत्त शास्त्री। | १४१ |
| १३. सम्पादकीय | १७० |


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर परमेश्वरीलाल गुप्त

# मौलाना दाऊद कृत 'चन्दायन'

हिन्दी प्रेमाख्यानक परम्परा का आरम्भ कब हुआ, इस बात का निर्णय करने वाली कोई सामग्री अभी उपलब्ध नहीं है। किन्तु इस विषय की चर्चा जहाँ कहीं भी हुई है, वहाँ इसकी परम्परा का आरम्भ मौलाना दाऊद कृत 'चन्दायन' से माना गया है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने का कार्य फ्रेन्च विद्वान गार्सा द तासी और अंग्रेज विद्वान ग्रियर्सन ने आरम्भ किया था, किन्तु उसका स्वरूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' द्वारा स्थिर किया। किन्तु इन तीनों ही विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में मौलाना दाऊद अथवा उनकी कृति 'चन्दायन' का कोई उल्लेख नहीं किया है। स्पष्ट है कि शुक्ल जी के समय तक 'चन्दायन' के अस्तित्व सम्बन्धी सूत्र उपलब्ध नहीं थे।

सर्वप्रथम उसकी जानकारी मिश्रबंधु ने १९२८ ई० (वि० सं० १९७०) में अपनी पुस्तक "मिश्रबंधु-विनोद" द्वारा दी। उन्होंने अपने ग्रन्थ के "आदि प्रकरण" में लिखा है: "मुल्ला दाऊद अमीर खुसरो का समकालीन था। उसका कविता-काल संवत् १३८५ के लगभग था। इसने नूरक और चन्दा की प्रेम-कथा हिन्दी में रची। यह ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया।"[1] मिश्रबन्धु की इस सूचना का आधार क्या है, इसका संकेत उन्होंने नहीं किया है।

सात वर्ष पश्चात् "हरिऔध" का "हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास" प्रकाशित हुआ। उसमें इस सम्बन्ध में यह पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं—"अमीर खुसरो का समकालीन एक और मुल्ला दाऊद नामक ब्रजभाषा का कवि हुआ। कहा जाता है कि उसने नूरक एवं चन्दा की प्रेम-कथा नामक दो हिन्दी पद्य-ग्रन्थों की रचना की। किन्तु ये दोनों ग्रन्थ अप्राप्य से हैं। इस लिये इसकी रचना की भाषा के विषय में कुछ लिखना असम्भव है।"[2] मिश्रबन्धु की तरह हरिऔध ने भी अपनी सूचना का आधार नहीं दिया है। उस समय के हिन्दी के साहित्यिकों में इसकी परिपाटी प्रचलित न थी। उनके शब्दों से झलकता है कि मिश्रबन्धु के अतिरिक्त उनकी जानकारी का कोई अन्य साधन नहीं है। उन्होंने दो नयी बातें अवश्य कही हैं। (१) मुल्ला दाऊद ने नूरक और चन्दा नामक दो ग्रन्थों की रचना की। (२) वे ब्रजभषा के कवि थे। किन्तु दोनों

---

१. मिश्र-बन्धु-विनोद, प्रथम भाग, सं० १९७०, पृ० २४१

२. हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास, पटना, द्वितीय संस्करण, सं० १९९७, पृ० १४७



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ही बातें कवि-कल्पना मात्र है, यह तनिक ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है। दाऊद के ब्रजभाषा के कवि होने की बात का खण्डन उनकी अपनी ही पंक्तियों से हो जाता है। पहले वे उसे ब्रजभाषा का कवि कहते हैं, फिर उसके हिन्दी पद्य-रचना की बात कहते हैं और अन्त में यह भी कहते हैं कि उसकी भाषा के सम्बन्ध में कुछ लिखना असम्भव है। सारांश यह कि उन्हें दाऊद की भाषा के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी। दो ग्रन्थ की कल्पना का सूत्र तो स्पष्ट ही है, उसके सम्बन्ध में कुछ कहना अपेक्षित नहीं।

इन दोनों ग्रन्थों के पश्चात १९३६ ई० में हिन्दी का पहला शोध-निबन्ध डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल कृत "द निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोयट्री' प्रकाशित हुआ। उसमें दाऊद की चर्चा इन शब्दों में की गयी है: "सबसे पुराना ज्ञात प्रेमाख्यानक कवि मुल्ला दाऊद मालूम होता है, जो अलाउद्दीन के राजत्वकाल वि० सं० १४९७ (१४३९ ई०) के आसपास विद्यमान था। परन्तु मुल्ला दाऊद भी आदि प्रेमाख्यानक कवि था या नहीं कह नहीं सकते। उसकी नूरक चन्दा की कहानी का हमें नाम ही मालूम है।"[1] आधुनिक परिपाटी पर शोध-निबन्ध लिखते हुए डा० बड़थ्वाल ने पुरानी परिपाटी का ही अनुकरण किया है और कोई सन्दर्भ प्रस्तुत नहीं किया जिससे उनके कथन का सूत्र जाना जा सकता। उनके कथन में मिश्रबन्धु से इतनी ही भिन्नता है कि उन्होंने मुल्ला दाऊद का अस्तित्व अलाउद्दीन खिलजी के समय में बताया है और उसका समय वि० सं० १४९७ दिया है। देखने में यह बात नयी और महत्वपूर्ण जान पड़ती है। दाऊद का समय मिश्रबन्धु के बताये समय से सौ बरस से अधिक पीछे ठहरता है। पर बारीकी से देखने पर ज्ञात होता है कि बड़थ्वाल जी के कथन में ऐतिहासिक विरोध है। विक्रम संवत् १४९७ (१४३९ ई०) में अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली के तख्त पर न विराज कर स्वर्ग के दरबार में हाजिरी दे रहा था और दिल्ली में सैयदवंशीय सुल्तान मुबारकशाह द्वितीय का शासन था। यदि दाऊद की यह तिथि ठीक है तो वह आदि प्रेमाख्यानक कवि नहीं था। कुतबन की 'मिरगावती' उससे पहले की रचना है, जिसकी जानकारी शुक्लजी पहले ही दे चुके थे। यह बात बड़थ्वाल जी को ज्ञात न रही हो, यह बुद्धिग्राह्य नहीं है। अतः संभावना इस बात की ही अधिक है कि बड़थ्वाल जी ने दाऊद के लिये अलाउद्दीन की समसामयिक ही कोई तिथि दी होगी (अलाउद्दीन का राजत्वकाल वि० सं० १३५४ से १३७४ तक (१२९६–१३१६ ई०) था। हो सकता है किसी के प्रमाद से १२९७ ई० ने वि० सं० १४९७ का रूप ले लिया हो। तिथि का किसी प्रकार समाधान कर लेने पर भी प्रश्न रह जाता है कि बड़थ्वाल जी को दाऊद की अलाउद्दीन के साथ समसामयिकता का ज्ञान कहाँ से हुआ? इसका उत्तर कठिन नहीं है। अलाउद्दीन और अमीर खुसरो की समसामयिकता प्रसिद्ध है। अतः बड़थ्वाल जी ने मिश्रबन्धु से तथ्य ग्रहण कर अपनी शोध-बुद्धि का उपयोग किया और उनकी बात को नये ढंग से प्रस्तुत कर दिया।

बड़थ्वाल जी के उक्त शोध-निबन्ध के पश्चात् १९३८ ई० में डा० रामकुमार वर्मा का शोध-

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, सं० २००७, लखनऊ, पृ० २०-२१



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



निबन्ध "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" प्रकाश में आया। आपने अपने मूल निबन्ध में दाऊद के सम्बन्ध में क्या लिखा था, यह तो हमारे सामने नहीं है, किन्तु उसके प्रकाशित रूप के दूसरे संस्करण में, जो उपलब्ध है, कहा गया है कि "खुसरो का नाम जब समस्त उत्तरी भारत में एक महान कवि के रूप में फैल रहा था, उसी समय मुल्ला दाऊद का नाम भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में आता है। मुल्ला दाऊद की एक प्रेम कहानी प्रसिद्ध है, उसका नाम है "चन्दावन या चन्दावत।" यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है और इसके सम्बन्ध में कुछ भी प्रामाणिक रूप से ज्ञात नहीं है।"[१] वर्मा जी ने दाऊद को अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन मानते हुए उसका कविता-काल संवत् १३७५ (१३१७ ई०) ठहराया है। वर्मा जी ने भी अपने पूर्ववर्त्तियों के समान ही अपनी सूचना का सूत्र बताने की आवश्यकता नहीं समझी पर देखने से ही प्रकट हो जाता है कि उन्होंने मिश्रवन्धु और बड़थ्वाल जी के कथन को जोड़ कर अपने शब्दों में रख दिया है। उन्होंने एक मौलिक सूचना अवश्य दी है कि दाऊद के ग्रन्थ का नाम चन्दावन या चन्दावत था, नूरक-चन्दा नहीं। किन्तु इससे प्रमाणाभाव में यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उनके पास मिश्र-बन्धु और बड़थ्वाल के कथन के अतिरिक्त उनका कोई अपना निजी सूत्र भी था। हो सकता है यह बात पीछे ज्ञात तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत संस्करण में जोड़ दी गयी हो।

मूल सूत्रों के अभाव में इन विद्वानों के कथन से किसी प्रामाणिक निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता था। १९४० ई० (वि० सं० १९९८) में श्री ब्रजरत्नदास की पुस्तक "खड़ीबोली-हिन्दी साहित्य का इतिहास" प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने पहली बार दाऊद के सम्बन्ध में प्रमाण-युक्त तथ्य उपस्थित किये। मुगलकालीन सुप्रसिद्ध इतिहासकार अब्दुर्कादिर बदायूनी कृत "मुनतखब-उत्-तवारीख" के आधार पर यह सूचना दी गई कि मुल्ला दाऊद के "चन्दावन" की रचना फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल (१३५१-१३८८ ई०) में हुई।[२]

बदायूनी का कथन इस प्रकार है : "सन् ७७२ (हिजरी) (१३७० ई०) में खानजहाँ वजीर की मृत्यु हुई और जौनाशाह नामक उसका पुत्र उसी पदवी से प्रसिद्ध हुआ और चन्दायन (चन्दावन) को, जो हिन्दवी भाषा का एक मसनवी है, जिसमें लौरक (नूरक) और चन्दा नामक प्रेमी-प्रेमिका का वर्णन है और वास्तविक अनुभव से परिपूर्ण है, मौलाना दाऊद ने उसी के नाम से पद्यबद्ध किया। इस देश में अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण उसकी (चन्दायन) प्रशंसा अपेक्षित नहीं है। दिल्ली में मखदूम शेख तकीउद्दीन वायज रब्बानी इसके कुछ समर्थक पद मेंबर (व्यास-पीठ) से पढ़ा करते थे और उनके सुनने का लोगों पर विशेष प्रभाव पड़ता था। उस समय के कुछ विद्वानों ने शेख से पूछा कि इस हिन्दवी मसनवी के अपनाने का कारण क्या है तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह जौक (रुचि) के समस्त तत्वों तथा अर्थों से युक्त है तथा प्रेम और भक्ति के जिज्ञासु

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९५४ ई०, पृ० १३१

२. खड़ीबोली-हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, सं० १९९८, पृ० ९४-९५



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लोगों के उपयुक्त है, कुरान के कतिपय आयतों की (उसमें) व्याख्या है और वह हिन्द के श्रेष्ठ-जनों के अनुसार है। इस कारण इसको पढ़कर लोग हृदय रूपी अहेर को आकृष्ट करते हैं।" (मूल फारसी से अनुदित)[१]

"मुनतखब" के इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि दाऊद "मुल्ला" नहीं मौलाना कहे जाते थे और उनकी रचना का नाम चन्दायन था, जो नुक्तों के हेर-फेर से "चन्दावन" अथवा "चन्दावत" पढ़ा गया है। उसमें लौरक (जो किन्हीं प्रतियों में नूरक पढ़ा गया है) और चन्दा की प्रेम कथा है। "नूरक व चन्दा" पुस्तक का नाम नहीं है, जैसा कि कुछ विद्वानों ने समझ रखा था। सबसे महत्व की बात जो इस उद्धरण से ज्ञात होती है वह यह है कि "चन्दायन" की रचना फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल (१३५१ और १३८८ ई०) के बीच जौनशाह के मन्त्रित्वकाल में ७७२ हिजरी (१३७० ई०) के पश्चात् किसी समय हुई।

यह बात सामने अते ही मिश्रबन्धु के कथन की गुत्थी अनायास ही सुलझ जाती है। उन्होंने चन्दायन का रचना-काल लगभग १३८५ ठीक ही दिया है। उनका सूत्र प्रामाणिक था। उनसे भूल इतनी ही हुई है कि उन्होंने अपने सूत्र से ज्ञात ईस्वी सन् को विक्रम संवत् मान लिया और विक्रम संवत् के रूप में खुसरो की समकालीनता की कल्पना उनके लिए सहज ही थी।

मौलाना दाऊद का समय फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल में था, यह तथ्य "मुनतखब" के माध्यम से श्री ब्रजरत्नदास द्वारा प्रकाश में लाये जाने के बहुत पूर्व ही उत्तर-प्रदेश के प्रादेशिक गजेटियरों के प्रणेताओं को भली प्रकार ज्ञात था, किन्तु हमारे अनुसंधान करने वालों का ध्यान उनकी ओर कभी जा ही नहीं सकता था। रायबरेली जिले के गजेटियर में डलमऊ नगर के इतिहास के प्रसंग में कहा गया है कि "अल्तमश के शासनकाल में इस नगर (डलमऊ) ने समृद्धि प्राप्त की। उसके समय में यहाँ मखदूम बदरुद्दीन रहते थे। तत्पश्चात् यह फीरोजशाह तुगलक के समय तक उन्नति पर था। उसने जनता में मुस्लिम सिद्धान्तों के प्रसार के निमित्त यहाँ एक विद्यालय स्थापित किया। इस विद्यालय की उपयोगिता का अनुमान डलमऊ निवासी मुल्ला दाऊद द्वारा सम्पादित "चन्द्रैनी" नामक भाषा-पुस्तक को देख कर किया जा सकता है।"[२] अवध के प्रादेशिक गजेटियर में इस बात का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है—"फीरोजशाह तुगलक ने यहाँ (डलमऊ) मुस्लिम धर्म और विद्या के अध्ययन के लिये एक विद्यालय की स्थापना की। इसकी उपयोगिता इस बात से प्रकट है कि डलमऊ के मुल्ला दाऊद नामक कवि ने ७७९ हिजरी में भाषा में "चन्द्रैनी" नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया।"

---

१. मुनतखब-उत्-तवारीख (मौलवी अहमद अली सम्पादित) बिबलिओथिका सीरीज, १८६८ ई०, भाग १, पृ० २५०

२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आव द युनाइटेड प्रॉविन्सेज; भाग ३९, रायबरेली, पृ० १६२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



श्री ब्रजरत्नदास की पुस्तक "खड़ीबोली-हिन्दी साहित्य का इतिहास" के प्रकाशन के पश्चात् १९५३ ई० तक दाऊद अथवा "चन्दायन" के सम्बन्ध में कहीं कुछ लिखा गया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। १९५३ ई० में श्री कमल कुलश्रेष्ठ का शोध-निबन्ध "हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य" प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में उन्होंने पूर्व ज्ञात उपर्युक्त अधिकांश सूचनाओं को केन्द्रित करके बदायूनी के कथन पर बल देते हुए यह मत प्रकट किया कि "चन्दावन का रचना-काल विं०सं० १४२७ के निकट था।" इस ग्रन्थ में जो सबसे महत्व की सूचना है, वह यह है कि "चन्दावन की कोई प्रमाणिक प्रति अभी तक नहीं मिल सकी। एक अप्रामाणिक सी प्रति डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अवश्य देखी है परन्तु उसे वे कुछ कारणों से विशेष ध्यान पूर्वक नहीं देख सके और वह इस काव्य के सम्बन्ध में कुछ निश्चय पूर्वक बतलाने में असमर्थ हैं।"[1] साथ ही एक पाद टिप्पणी में एक अतिरिक्त सूचना इस प्रकार दी गयी है : "बीकानेर के श्री पुरुषोत्तम शर्मा के पास इस ग्रन्थ की एक प्रति है। शर्मा जी ने यह पोथी एक सज्जन द्वारा प्रयाग भेजी थी परन्तु उन्होंने पोथी की परीक्षा अच्छी तरह डा० धीरेन्द्र वर्मा को नहीं करनें दी।"[2] कुलश्रेष्ठ की इस पाद टिप्पणी के अतिरिक्त अन्य सूत्र से ज्ञात हुआ कि 'चन्दायन' की प्रति १९४३ ई० में डा० धीरेन्द्र वर्मा और डा० रामकुमार वर्मा को दिखायी गयी थी और धीरेन्द्र जी ने उसकी प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया था। वर्मा जी ने इस प्रति को चाहे जिस दृष्टि से भी देखा हो, किन्तु किसी प्रकार की प्रति के अस्तित्व का ज्ञान मात्र अपने आप में महत्त्व रखता है।

१९५५ ई० में प्रेमाख्यानक काव्य और सूफ़ी साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले चार ग्रन्थ प्रायः एक साथ ही प्रकाशित हुये। इनमें से एक तो सूफी प्रेमकाव्य के अवतरणों का संकलन है जिसे श्री परशुराम चतुर्वेदी ने "सूफ़ी काव्य संग्रह" के नाम से प्रस्तुत किया है। उसमें दाऊद के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियां हैं जो अपने आप में मनोरंजक हैं। चतुर्वेदी जी लिखते हैं : "इस रचना का सर्वप्रथम उल्लेख हि० सन् ७७२ (सं० १४२७) में अर्थात् फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल (सं० १४०८-१४४५) में हुआ है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने दाऊद को अलाउद्दीन खिलजी (राज्य-काल सं० १३५२-१३७३) का समकालीन समझा है और उनकी कविता का समय सं० १३७५ ठहराया है, जो अनुचित नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है कि मुल्ला दाऊद इस प्रकार अमीर खुसरो का भी समकालीन था। मुल्ला दाऊद के सम्बन्ध में यह पता नहीं चलता कि उसकी हिन्दवी का रूप क्या था और उसमें किन छन्दों का प्रयोग हुआ था।"[3] आशा की जाती थी कि 'मुनतखब' के उद्धरण से दाऊद के समय के सम्बन्ध में जो भ्रम है उसका निवारण हो जायगा किन्तु हम देखते हैं कि चतुर्वेदी जी ने उसका एक विचित्र अर्थ लगाया है। कदाचित इस

---

१. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, प्रयाग, १९४३; पृ० ८
२. वही, पृ० ८, पा० टि० २
३. सूफी काव्य संग्रह, प्रयाग, सं० २०१३, पृ० ६२-६३



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लिये कि मिश्रबन्धु और श्री रामकुमार वर्मा दोनों के कथन के साथ उसका समन्वय हो जाय। इस प्रकार उन्होंने एक नया भ्रम उत्पन्न कर दिया।

अन्य तीन ग्रन्थ शोध-निबन्ध हैं जो विभिन्न विश्वविद्यालयों के समक्ष पी-एच० डी० की उपाधि के निमित्त प्रस्तुत किये गये थे। ये हैं: हरिकान्त श्रीवास्तव कृत "भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य", विमल कुमार जैन कृत "सूफी मत और हिन्दी साहित्य" और सरला शुक्ला कृत "जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि"। विषय की दृष्टि से श्रीवास्तव के ग्रन्थ का विस्तार सबसे अधिक है और उसमें दाऊद के ग्रन्थ की विशेष रूप से और विस्तृत जानकारी उपस्थित की जानी चाहिये थी। पर यह देख कर आश्चर्य होता है कि उन्हें इस बात का पता ही नहीं है कि आचार्य शुक्ल ने जो कुछ लिखा है अथवा मिश्रबन्धु ने जो सूचना दी है, उससे कहीं अधिक जानकारी प्रकाश में आ चुकी है। उनकी जानकारी केवल इस बात तक सीमित है कि "सर्वप्रथम मुल्ला दाऊद की नूरक चंदा कहानी के बाद कुतबन की मृगावती मिली।"[1]

सरला शुक्ला के शोध-निबन्ध की परिधि में मुल्ला दाऊद नहीं आते। यदि उन्होंने उनके सम्बन्ध में एक शब्द भी न कहा होता तो हमें तनिक भी आश्चर्य न होता। पर आश्चर्य यह देखकर होता है कि उन्होंने उन पर पूरा एक पैराग्राफ लिख डाला है।[2] उनकी दृष्टि में श्री रामकुमार वर्मा का कथन बदायूनी के कथन से अधिक महत्व रखता है। उन्होंने उनके कथन को प्रामाणिक माना है। विमल कुमार जैन ने अपने निबन्ध में सरला शुक्ला की तरह विस्तार में न जाकर दो तीन पंक्तियाँ ही लिखना दाऊद के लिए पर्याप्त समझा और उसमें डा० रामकुमार वर्मा के कथन को दुहरा भर दिया गया है।[3]

ये शोध-निबन्ध इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि हमारे हिन्दी साहित्य के अनुसन्धानियों में अपने शोध-कार्य के प्रति उत्तरदायित्व का कुछ अभाव है। ऐसा लगता है कि अपनी बुद्धि का उपयोग कर तथ्य का उहापोह करना उन्होंने सीखा ही नहीं है। जिस विषय पर हम शोध कर रहे हैं, उनमें आयी हुई बातों पर किसने क्या मत व्यक्त किया है, क्या नया तथ्य उपस्थित किया है, उसे जानने समझने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई। यदि इन अनुसन्धान करने वालों में से किसी ने भी बदायूनी के कथन से परिचित होने का कष्ट किया होता तो उन्हें यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता कि दाऊद ने फीरोजशाह तुगलक के शासन काल में जौनाशाह के मंत्री होने के पश्चात् अर्थात् ७७२ हिजरी के बाद 'चन्दायन' की रचना की थी। साथ ही यदि हमारे इन शोधकों ने इस बात पर भी ध्यान दिया होता कि समस्त शोध पुस्तकों तक ही सीमित नहीं रहता, शोध सामग्री पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में भी उपलब्ध हो सकती है तो उन्हें बदायूनी के कथन के समर्थन में प्रमाण भी उपलब्ध हो जाते।

---

**१. भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, काशी; १९५५ ई०, पृ० २९**

**२. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य; लखनऊ; सं० २०१३; पृ० १३८**

**३. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, दिल्ली, १९५५ ई०, पृ० ११२**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इन शोध निबन्धों के प्रकाशन से अनेक वर्ष पूर्व वि० सं० २००६ में श्री अगरचन्द नाहटा ने "नागरी प्रचारिणी पत्रिका में "मिश्रबन्धु-विनोद की भूलें" शीर्षक एक लेख प्रकाशित किया था। इस लेख में दाऊद सम्बन्धी कथन की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए यह सूचना दी गई थी कि श्री रावतमल सारस्वत को इसकी (नूरक-चन्दा को प्रेम कहानी) की एक प्रति मिली है। उस प्रति के अनुसार 'चन्दायन' का रचना काल ७८१ हिजरी है। आपने उक्त ग्रन्थ से तत्सम्बन्धी निम्नलिखित पंक्ति भी उद्धृत की थी :—

**बरस सात से होइ एक्यासी। तेहि याह कवि सरसेउ भासी॥**
**साहि पीरोज ढिली सुलताना। जौना साहि जीत बखाना॥**
**दल्यो नयरु बसे नवरंगा। उपरि कोट तले बहे गंगा॥**[1]

इस प्रकार वदायूनी का प्रामाणिक कथन एवं 'चन्दायन' की एक प्रति के अस्तित्व की बात १९५५ ई० से बहुत पूर्व प्रकाश में आ चुकी थी, इनका शोधों में उपयोग किया जाना चाहिये था। पर खेद है कि हमारे शोधकों का ध्यान उनकी ओर न जा सका। १९५६ ई० में जब श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी दूसरी पुस्तक "भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा" प्रकाशित की तो उन्होंने नाहटा जी की सूचना का उपयोग अवश्य किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि "राजस्थान में उपलब्ध एक अधूरी प्रति के अनुसार इसका रचना काल सं० १४३६ होना चाहिए।"[2]

"चन्दायन" सम्बन्धी वास्तविक अनुसन्धान का कार्य वस्तुतः १९५६ ई० के बहुत पहले आरम्भ हो चुका था। पर वह कार्य हिन्दी साहित्य पर अपना अधिकार प्रगट करने वाले लोगों की ओर से नहीं हुआ। वह कार्य हो रहा था पुरातत्व और इतिहास में काम करनेवाले ऐसे लोगों की ओर से, जो हिन्दी से प्रेम रखते हैं। चन्दायन की ओर सर्व प्रथम ध्यान डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का गया। १९५२ या १९५३ ई० में, जब वे मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत की संजीवनी व्याख्या प्रस्तुत करने में लगे हुए थे, उन्हें रामपुर पुस्तकालय से पद्मावत की फारसी लिपि में अंकित जो प्रति उपलब्ध हुई, उसके प्रथम पृष्ट पर चन्दायन के नामोल्लेख के साथ उन्हें चार पंक्तियां अंकित मिलीं। उन्होंने उन्हें अपनी पद्मावत् की भूमिका में उद्धृत किया है। वे इस प्रकार हैं —

**कोयल जेस फिरों सब रूखा। पिउ पिउ करत जीभ मोर सूखा॥**
**बँनखंड बिरिख रहा न कोई। कवन डार जेहि लाग न रोई॥**[3]
**एक बाट गई हरदीं, दूसर गयी महोब।**
**उभ बाँह के चांदा बिनबे, कौन बाट हम होब॥**

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४ (सं० २००६), पृ० ४२
२. भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, प्रयाग, १९५६ ई०, पृ० ८८
३. पद्मावत, संजीवनी व्याख्या, चिरगाँव (झांसी), १९५६ ई०, पृ० १२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


उन दिनों मैं काशी विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में सहायक संग्रहाध्यक्ष था और अग्रवाल जी के निकट सम्पर्क में था। अतः 'चन्दायन' की उपर्युक्त पंक्तियों से तत्काल मेरा ध्यान भारत कला भवन में संग्रहीत अपभ्रंश शैली के उन छः चित्रों की ओर गया जिनकी पीठ पर फारसी लिपि में आलेख है। ये चित्र बीसों वर्ष पूर्व राय कृष्णदास को काशी के गुदड़ी बाजार में दिखाई पड़े थे। उनकी कला पारखी दृष्टि से उसका महत्व छिपा न रह सका और वे उन्हें कदाचित दो-दो आने में खरीद लाये थे। कला के इतिहास की दृष्टि से इन चित्रों का अत्यधिक महत्व है तथा उनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति है और वे भारतीय कला से सम्बन्ध रखने वाले अनेक ग्रन्थों में प्रकाशित हो चुके हैं। राय कृष्णदास जी ने पृष्ठांकित आलेखों को पढ़ कर इतना तो अनुमान कर लिया था कि वे किसी अवधी काव्य के पृष्ठ हैं पर वे किस काव्य के पृष्ठ हैं इसका उन्हें कोई अनुमान न हो सका था। अतः कला-पुस्तकों में इन चित्रों की चर्चा सर्वत्र अज्ञात अवधी काव्य के पृष्ठ के रूप में हुई है। जब मैंने इन चित्रों के आलेखों की परीक्षा की तो उन आलेखों में जहाँ तहाँ लौरक (काव्य के नायक) और चन्दा (काव्य की नायिका) का नाम मिला और तब इस बात में मुझे तनिक भी सन्देह न रहा कि वे पृष्ठ "चन्दायन" के ही हैं। मेरे इस शोध के परिणाम स्वरूप कला-क्षेत्र में यह बात स्वीकार कर ली गयी कि वे चित्र "लौर-चन्दा" के ही हैं।[1]

कला के क्षेत्र में "चन्दायन" की जानकारी इससे भी पहले थी। भारत के विभाजन से पूर्व पंजाब संग्रहालय में २४ चित्रों की एक माला थी, जो मूलतः पुस्तक के पृष्ठ थे। उनके पीछे भी फारसी लिपि में आलेख थे। उन आलेखों से युक्त संग्रहालय के संग्रहाध्यक्ष को इतना पता लग गया था कि वे चित्र लौर और चन्दा नामक प्रेमी-प्रेमिका से सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु उन्हें उस प्रेम-काव्य का नाम ज्ञात न था। अतः उन्होंने अपने संग्रहालय के चित्रों की जो सूची प्रकाशित की, उसमें इन चित्रों का परिचय इसी प्रकार दिया है।[2] इन चित्रों की एक विस्तृत विवेचना कार्ल खण्डालावाला ने बम्बई की सुप्रसिद्ध कला पत्रिका "मार्ग" के एक अंक में किया है। वहाँ उन्होंने इन चित्रों को लौर-चन्दा सीरीज का नाम दिया है।[3] फलतः कला भवन वाले चित्र भी "लौर-चन्दा" सीरीज के दूसरे नमूने के रूप में स्वीकार किये गये।

रामपुर, काशी और पंजाब की इन तीन प्रतियों के अतिरिक्त एक चौथी प्रति की जानकारी १९५३-५४ ई० में हुई। पटना कालेज के इतिहास के प्राध्यापक सैयद हसन असकरी, इतिहास के विद्वान होने के अतिरिक्त उर्दू-हिन्दी साहित्य के भी प्रति रुचि रखते हैं और प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज उनका एक व्यसन है। अपने इस व्यसन के परिणाम स्वरूप उन्हें अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का श्रेय प्राप्त हो चुका है। उस वर्ष उन्हें मनेर शरीफ के खानकाह

----------

१. ललित कला, दिल्ली, अंक १-२, पृ० ७०, पा० टि० ३
२. केटलाग आव द पेंटिंग्ज इन द सेंट्रल म्यूजिम, लाहौर, चित्र के० ७-३०
३. मार्ग, बम्बई, भाग ४, अंक ३, पृ० २४



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के सज्जादनशीन और उनके भाई मौलवी मुरादुल्ला के पुराने ग्रन्थों के बस्तों को टटोलते हुये "चन्दायन" के ६४ पृष्ठों की एक खण्डित प्रति मिली। वे उस समय केवल इतना ही जान पायें कि वह हिन्दी का कोई अज्ञात ग्रन्थ है। वे उसे अपने साथ ले आये। संयोग से श्री वासुदेवशरण अग्रवाल उन्हीं दिनों पटना गये। असकरी साहब ने उनसे इस ग्रन्थ की चर्चा की और दिखाया। उस समय दोनों विद्वानों ने उसका सूक्ष्मपरीक्षण किया। फलस्वरूप वे भी 'चन्दायन' के पृष्ठ सिद्ध हुए। असकरी साहब ने इस प्रति के सम्बन्ध में अंग्रेजी और उर्दू पत्रों में कई लेख प्रकाशित किये हैं।[1]

इस प्रति के ज्ञात होने के कारण ही एक अन्य प्रति का पता चला। यह प्रति भी खण्डित है। उसमें भी ६४ पृष्ठ हैं किन्तु उसकी विशेषता यह है कि वे पृष्ठ चित्रित हैं, अर्थात् काशी और पंजाब वाली प्रतियों की तरह ही इनके एक ओर चित्र और पीठ पर फारसी में अभिलेख हैं। यह प्रति भोपाल के एक मुस्लिम परिवार में थी। उसके स्वामी चित्रों के कारण उसे मूल्यवान तो समझते थे पर वे चित्र वस्तुतः क्या हैं, इसका उन्हें कुछ पता न था। अतः १९५४ ई० में भारतीय पुरातत्व विभाग के अरबी-फारसी अभिलेखों के विशेषज्ञ पी० बी० देसाई भोपाल गये तो उन्हें वह चित्राधार दिखाया गया। देसाई महोदय उन्हीं दिनों पटना होकर आये थे और असकरी साहब ने उन्हें अपनी चन्दायन वाली प्रति दिखायी थी। अतः देसाई महोदय को भोपाल वाली प्रति को उलटते-पुलटते यह समझने में देर न लगी कि वह भी चन्दायन की ही प्रति है। यह ज्ञात होते ही चन्दायन की सचित्र प्रति के रूप में उसका महत्व और बढ़ गया। उसे १९५५-५६ ई० में किसी समय बम्बई के प्रिन्स आव वेल्स म्यूजियम ने क्रय कर लिया।[2]

इस प्रकार पुरातत्विदों और इतिहासकारों के खोज के परिणाम स्वरूप १९५५ ई० तक "चन्दायन" की फारसी लिपि में लिखित चार खण्डित प्रतियाँ ज्ञात हुई। ये सारी प्रतियों में इस दृष्टि से एक रूपता है कि उनमें से प्रत्येक के एक पृष्ठ पर केवल एक कड़वक अंकित है। एक कड़वक में पांच पंक्तियाँ चौपाइयों की और अन्त में एक दोहा है। (जायसी के पद्मावत में एक कड़वक में चौपाइयों की सात पंक्तियाँ हैं)। प्रत्येक कड़वक के आरम्भ में फारसी में शीर्षक स्वरूप कड़वक में कही बात का सारांश दिया हुआ है। उपर्युक्त चार प्रतियों में से पंजाब वाली प्रति तो दुष्प्राप्य है। अतः अभी उसके किसी विद्वान् द्वारा उपयोग किये जाने की कोई संभावना नहीं जान पड़ती। शेष प्रतियों की पृष्ठसंख्या संयुक्त रूप से १३० होती है पर उनमें कितने ही कड़वक ऐसे हैं जो दो वा अधिक प्रतियों में उपलब्ध हैं। अतः इनसे १००-११० के आसपास कड़वक का ज्ञान हो सकता है। काशी और भोपाल वाले पृष्ठों का कोई क्रम उपलब्ध नहीं है। वे पूरे ग्रन्थ के बिखरे चित्र हैं और जिस रूप में हैं उनसे उनका कोई क्रम नहीं निर्धारित किया जा सकता। मनेरशरीफ की प्रति निसन्देह पुस्तक के खण्ड के रूप में मिली है। यद्यपि उसमें भी बीच बीच के पृष्ठ गायब हैं।

---

१. करेन्ट स्टडीज, पटना कालेज, १९५५, पृ० ६-१६; पटना युनिवर्सिटी जर्नल; १९६०, पृ० ६२

२. अप्रकाशित



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पर एक निश्चित स्थान के कड़वक होने के कारण उनके क्रम निर्धारण जैसी कोई कठिनाई नहीं है।

इन प्रतियों के पाठोद्धार और प्रकाशन का काम डा० माताप्रसाद गुप्त (प्रयाग) और डा० विश्वनाथ प्रसाद (आगरा) कर रहे हैं। दो वर्ष पूर्व ही उनके सम्पादित ग्रन्थ के प्रकाशित होने की सूचना आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी रिसर्च इन्स्टीट्यूट की ओर से की गयी थी पर अभी तक वह प्रकाश में नहीं आया। प्रकाशन में किन कारणों से विलम्ब हो रहा है ज्ञात नहीं। जो भी हो, उक्त प्रतियों के आधार पर किसी पुस्तक का प्रकाशन कोई विशेष महत्व नहीं रखता। कुछ अंश सामने आ जाने मात्र से, वह भी असम्बद्ध रूप में, 'चन्दायन' के मूल रूप की हमें कोई जानकारी नहीं हो पायेगी। हलकी सी झलक मात्र मिल सकेगी।

दूसरी ओर उपर्युक्त प्रतियों के ज्ञात होने की बात प्रकाश में आने पर रावत सारस्वत का ध्यान अपनी उस प्रति की ओर गया जो उनके पास बीसों बरस से पड़ी थी और जिसे डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अप्रमाणित समझा था। थोड़े दिन हुए उन्होंने अपने उस ग्रन्थ का परिचय "वरदा" में प्रकाशित कराया था। इस प्रति की उल्लेखनीय बात यह है कि वह राजस्थानी कामदारी लिपि में लिखी गयी है और संवत् १६७३ में फतहपुर में लिखी गई थी। इस प्रति में ४३८ कड़वक हैं। आरम्भ में श्रीनाम और अन्त में प्रशस्ति है, इन बातों के आधार पर सारस्वत जी की धारणा है कि उनकी प्रति पूर्ण है। किन्तु उन्होंने जो पाठ के उद्धरण दिये हैं, उनसे प्रकट होता है कि इस प्रति का पाठ काफी भ्रष्ट है। उससे 'चन्दायन' के मूल स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य है कि इस ग्रन्थ से, यदि वह वस्तुतः पूर्ण है, तो कथानक का रूप तथा विस्तार आदि कुछ बातें जानी जा सकेंगी और उपर्युक्त खण्डित प्रतियों के पृष्ठों का स्थान और क्रम निर्धारित हो सकेगा।

"चन्दायन" सम्बन्धी अनुशीलन कार्य की अभी एक कड़ी और है जिसका सम्बन्ध इन पंक्तियों के लेखक से है। काशी वाली प्रति मेरे शोध का परिणाम है, यह ऊपर कहा जा चुका है। भूपाल वाली प्रति उस संग्रहालय में है जहाँ मैं काम करता हूँ। अतः इन प्रतियों पर काम करने का प्रथमतः अधिकार मेरा होता है। मनेर शरीफ वाली प्रति का पाठ असकरी साहब कर ही चुके थे, अतः उसकी कोई बाधा थी ही नहीं। मैंने पाठोद्धार का काम आरम्भ किया और प्रथम वाचन भी १९५६ ई० में तैयार कर लिया। फारसी लिपि में लिखे हिन्दी ग्रन्थ को नागरी अक्षरों म रूपान्तरित करना कितना कठिन काम है, यह वही अनुमान कर सकते हैं जो उस कार्य से परिचित हैं। जब यह कठिन कार्य समाप्तप्राय था और उसके पाठ के स्वरूप का अन्तिम निश्चय करना शेष रह गया तभी किन्हीं लोगों की ओर से ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित की गयीं कि मेरे लिये आगे काम करना अनावश्यक हो गया। उसके बाद ही ग्वालियर के श्री हरिहरनिवास द्विवेदी बम्बई आये। वे 'चन्दायन' की कथा से सम्बन्ध रखनेवाले एक अन्य काव्य 'मैनासत' पर काम कर रहे थे। वे आग्रह करके मुझसे मेरे प्रथम वाचन की एक प्रति ले गये। ले जाते समय उन्होंने बार-बार आश्वासन दिया था कि वे उसे अपने तक सीमित रखेंगे, प्रकाशित नहीं करेंगे और प्रति वापस



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कर देंगे। किन्तु ग्वालियर जाकर वे अपना वचन भूल गये। उन्होंने अपनी पुस्तक में मेरे वाचन को उद्धृत किया और यही नहीं, मेरे बार बार तकाजा करने पर भी मेरी प्रति लौटाना तो दूर रहा पत्रोत्तर देने का सौजन्य भी दिखा न सके। इसी समय के लगभग, डा० माताप्रसाद गुप्त ने हमारे संग्रहालय के डाइरेक्टर को लिखा कि मेरा तैयार किया हुआ पाठ उन्हें दे दिया जाय। डा० मोतीचन्द जी ने उदारता दिखाई और मेरे पाठ की एक टाइप कापी उन्हें भिजवा दी गयी। और तब एक दिन असकरी साहब का एक लेख देखने में आया जिसमें उन्होंने भोपालवाली प्रति की एक टाइप की हुई कापी श्री उदयशंकर शास्त्री द्वारा प्राप्त होने की बात लिखी थी और उस प्रति के उद्धरण दिये हुये थे। यह प्रति मेरे प्रति की प्रतिलिपि थी अथवा श्री विश्वनाथप्रसाद जी की अपनी तैयार की हुई स्वतन्त्र प्रति की प्रति थी, इसके निर्णय और विवाद में मैं नहीं जाना चाहता। कहना केवल इतना ही है कि किसी संग्रहालय की किसी वस्तु की प्रतिलिपि या फोटो आदि यदि किसी को दी जाती है तो यह आशा की जाती है कि वह व्यक्ति स्वयं उस पर काम करेगा और उसे अपने तक ही सीमित रखेगा तथा प्रकाशन के पूर्व संग्रहालय के अधिकारियों की अनुमति ले लेगा। इस प्रकार की घटनायें घटते तथा अन्य अनेक लोगों द्वारा भोपाल की प्रति की प्रतिलिपि की माँग होते देखकर डा० मोतीचन्द्र जी ने यह मत प्रकट किया कि मुझे अपना पाठ प्रकाशित कर देना चाहिए। अस्तु।

पिछले वर्ष मैंने पुनः उस कार्य में हाथ लगाया। पाठ के अतिरिक्त उसमें अन्य आवश्यक सामग्री तथा सूचनायें प्रस्तावना के रूप में देना चाहता था। अतः उसकी सामग्री जुटाने में लग गया। यह कार्य करते समय मुझे अप्रत्याशित रूप से "चन्दायन" की फारसी लिपि में लिखी एक अन्य प्रति का पता चला जो लगभग सम्पूर्ण है। यह यूरोप के संग्रहालय में है। यह बात सामने आते ही यह अधिक उचित जान पड़ा कि वह प्रति प्राप्त की जाय और तब उसका भी पाठोद्धार कर 'चन्दायन' का पूर्ण रूप ही प्रकाशित किया जाय। इस ग्रन्थ की जानकारी के बाद अधूरे ग्रन्थ का प्रकाशन कोई महत्व नहीं रखता। अस्तु, काम रुक गया और उस ग्रन्थ का माइक्रो फिल्म प्राप्त किया गया। उसके पाठोद्धार का काम मैंने अब लगभग समाप्त कर लिया है।

इस नये ग्रन्थ की जानकारी के प्रसंग में ही एक अन्य खण्डित प्रति का भी पता चला जो अमेरिका के एक निजी संग्रहालय में है। इस प्रति की माइक्रो फिल्म अथवा प्रतिछवि भी शीघ्र ही प्राप्त हो जाने की आशा है।

इस प्रकार 'चन्दायन' एक अज्ञात ग्रन्थ नहीं रह गया है। साकार रूप में वह शीघ्र ही साहित्य प्रेमियों के हाथ में होगा। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से अवधी साहित्य का इतिहास चौदहवीं सदी तक पीछे जा पहुँचेगा। उसके भाषा के स्वरूप को लेकर अनेक प्रकार के विचारणीय प्रश्न शोधकों के सामने होंगे और जायसी के 'पद्मावत' के समान ही इस ग्रन्थ का मूल्यांकन आवश्यक होगा।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी

# संस्कृत काव्यशास्त्र में साहित्यतत्त्व

महामहोपाध्याय डॉ० पी० वा० काणे ने अंग्रेजी भाषा में लिखित अपने संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में साहित्य शब्द को संस्कृत में भी आज के ही समान वाङ्मय अर्थ में प्रयुक्त बतलाया है।. इस तथ्य की पुष्टि में उन्होंने केवल एक प्रमाण दिया है। वह है—

**'साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः' (विक्रमांकदेव चरित १।११)**

अर्थात—कवीन्द्र ! साहित्यसमुद्र के मंथन से उद्भूत कर्णामृत की रक्षा करिए।'

यहाँ डॉ० काणे ने साहित्य का अर्थ वाङ्मय माना है और कर्णामृत का काव्य[1] संस्कृत के विराट् साहित्य में वाङ्मय अर्थ में साहित्य शब्द का केवल एक प्रयोग इस दिशा में आगे बढ़कर विचार करना आवश्यक ठहराता है, यद्यपि विद्वानों में यह धारणा इन दिनों इतनी दृढ़ हो चुकी है कि वे उक्त पद्य के कर्णामृत को काव्यामृत के रूप में बदलने लगे हैं।[2] वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र साहित्य शब्द के वाङ्मय अर्थ में प्रयोग का विरोध करता आया है। उस प्रकाश में उक्त पद्य के साहित्य और कर्णामृत शब्द भी दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। हम संक्षेप में संस्कृत काव्यशास्त्र में हुए साहित्य शब्द पर विचार तथा उस प्रकाश में उक्त पद्य का अर्थ उपस्थित करते हैं।

साहित्य शब्द मूलतः यौगिक शब्द है किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र में उसे योगरूढ़ माना गया है। यौगिक रूप में साहित्य शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—'स+हित+य'

यहाँ 'स' शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सह'[3] और 'सम'[4] इन दो शब्दों का संक्षिप्त रूप हो सकता है। 'य' शब्द भावार्थक 'ष्यञ्' प्रत्यय का शेष अंश है। दोनों का आधारभूत प्रधान शब्द है—'हित'। इसकी निष्पत्ति स्थापित या धारण करने अर्थ की √धा,[5] जानने और

---

**१. 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' १९५१ का संस्करण, पृष्ठ ३२८ ।**

**२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका २०१७ का द्वितीय अंक 'काव्यों में अन्योक्ति' शीर्षक समीक्षा।**

**३. तेन सहेति तुल्ययोगे २।२।२८, वोपसर्जनस्य ६।३।८२।**

**४. समाश्रयविधि में 'समानाः' को योगविभाग से स्वतंत्र सूत्र माना गया है।**

**५. दधातेर्हिः ७।४।४२ से धा का हि।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



छोड़ने अर्थ की √हा अथवा √हि धातु में निष्ठार्थक 'क्त' प्रत्यय के योग से होती है। भाववाचक प्रत्यय समासयुक्त प्रकृति के बाद प्रयुक्त होते हैं तो संबन्ध के द्योतक हो जाते हैं,[1] अतः 'स' और 'हित' के मिलने पर ष्यञ् उनके संबंध का द्योतन करता है। इस प्रकार सहित शब्द का अर्थ होता है—'एक साथ स्थापित या ज्ञात और समान रूप से स्थापित या ज्ञात', तथा साहित्य शब्द का अर्थ होता है उनका सहभाव, साहचर्य या साम्य। इस दृष्टि से साहित्य शब्द द्वंद्व या द्वैतभाव की प्रतीति कराने में उतना ही सक्षम है जितना निर्द्वन्द्व और द्वैतातीत तत्त्व की प्रतीति कराने में ब्रह्म शब्द। इस प्रकार यौगिक अर्थ में शब्द निरुक्ति की दृष्टि से पादुकाओं का जोड़ा भी साहित्य कहा जा सकता है और उसका निर्माता साहित्यकार। संस्कृत काव्यशास्त्र ने इसे अपने विस्तृत अर्थ से खींचकर शब्द और अर्थ के जोड़े तक सीमित किया। आचार्यों में इसका श्रेय आनन्दवर्धन को है। उपलब्ध संस्कृत काव्यशास्त्र में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग पहली बार उन्होंने किया है[2]। उनका वाक्य है—

**'शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे . . .' (ध्वन्यालोक ४।६ वृत्ति)**

यहाँ साहित्य शब्द केवल सहभाव के लिए प्रयुक्त है। यह तथ्य इस पंक्ति के पहले की इन पंक्तियों से स्पष्ट है —

**'बन्धच्छायापि अर्थद्वयानुरूप शब्द संनिवेशः। अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति न। एवं हि सति अर्थानिपेक्षचतुरमधुर-वचन-रचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे. . .'** ।

अर्थात्—वास्तविक बंध सौन्दर्य शब्द श्लेष ही है। विशिष्ट अर्थ से रहित अक्षर रचना नहीं। वैसे तो निरर्थक किंतु सुहावने शब्दों की चतुराई भी काव्य कहला सकेगी। काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव से संभव माना गया है।

आनंदवर्धन ने व्यंजना के अतिरिक्त सभी काव्यतत्त्वों का उल्लेख उन्हीं अर्थों में किया है जिनमें उनके उद्भावकों को वे मान्य हैं। अतः निश्चित ही आनंदवर्धन ने यह पंक्ति भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्यलक्षण के आलोक में लिखी है। आनन्दवर्धन ने अपने निकट-पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट का उल्लेख सम्मानपूर्वक किया है।[3] अभिनवगुप्त, प्रतीहारेन्दुराज

---

१. कृत्तद्धितसमासेभ्यः संबन्धाभिधानं भावप्रत्येयेन—भर्तृहरि।

२. डॉ०-काणे ने साहित्य शब्द का प्रयोग राजशेखर (९०० शती) से पहले भी होने की संभावना व्यक्त की है। आनंदवर्धन का यह उल्लेख उनसे संभवतः अविदित है। श्री देशपांडे अपने मराठी में लिखित सुव्यवस्थित संस्कृत काव्यशास्त्र में 'शब्दार्थाचें साहित्य' अध्याय में साहित्य का उत्तम विवेचन करते हैं, किंतु साहित्य शब्द के आनंदवर्धन कृत प्रयोग को हम वहाँ नहीं पाते— द्र० भारतीय साहित्य-शास्त्र, प्रकरण ६।

३. ध्वन्यालोक २।२६ वृत्ति।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


आदि के उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर विवरण नामक टीका लिखी थी।[1] अभी तक यह टीका मिली नहीं है। आनन्दवर्धन के साहित्यविवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट ने भामह के काव्यलक्षण में आए 'सहित' शब्द का अर्थ सहभावयुक्त ही किया होगा। इस प्रकार साहित्य शब्द का स्रोत भामह का ही काव्यलक्षण ठहरता है किन्तु जहाँ तक इसके प्रयोग का प्रश्न है वह सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने ही किया है।

भामह और आनन्दवर्धन के आधार पर साहित्यशब्द शब्द और अर्थ के सहभाव तक सीमित होकर भी विवाद का विषय बना रहा। शब्दार्थ के सहभाव का अभिप्राय सामान्यतः शब्द और अर्थ का परस्पर सहभाव ही होता है। इस दृष्टि से साहित्य शब्द संपूर्ण वाङ्मय का वाचक हो सकता है। व्याकरण[2] और मीमांसा[3] दर्शन में शब्द और अर्थ में नित्य और सहज (औत्पत्तिक) संबन्ध माना गया है। वाणी और अर्थ के सहभाव की चर्चा काव्यों में भी प्रचलित है। कालिदास के रघुवंश का 'वागर्थाविव...इत्यादि मंगल पद्य एतदर्थ प्रसिद्ध है ही। नीलकंठ दीक्षित का निम्नलिखित पद्य भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है——

**'सव्यं वपुः शब्दमयं पुरारेरर्थात्मिकं दक्षिणमामनन्ति।**
**अङ्गं जगन्मङ्गलमैश्वरं तदर्हन्ति काव्यं कथमल्पपुण्याः॥**

**——शिवलीलार्णव १।१५।**

अर्थात्——शंकर अर्धनारीश्वर हैं। उनका वामभाग वाणी (पार्वती) मय है और दक्षिण भाग अर्थ (स्वयं परमेश्वर) मय। इस प्रकार भगवान् शंकर का जगमंगल श्रीविग्रह ही काव्य है। उसे अल्पपुण्यवाले नहीं पाते।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों में केवल राजशेखर, कुन्तक, भोज और रुय्यक ने इस प्रश्न पर विचार किया है। अभिनवगुप्त का भावुक हृदय इस दिशा में मम्मट के शास्त्रीय हृदय के ही समान मूक है। इन दोनों महाप्रतिष्ठ आचार्यों ने काव्य शब्द को ही महत्व दिया, साहित्य शब्द को नहीं। उसका उल्लेख भी उनमें नहीं मिलता। यहाँ तक कि अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के साहित्य शब्द पर कोई विचार नहीं करते। उसे छोड़ जाते हैं। जब कि प्रत्यभिज्ञा के अव्यक्त उल्लेख पर भी वे लम्बा विवेचन, जो उस प्रसंग में आवश्यक नहीं, कर जाते हैं।[4] यह एक तथ्य है जो अन्वेषकों को संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वांगीण अध्ययन के लिए अभिनवगुप्त आदि के अतिरिक्त आचार्यों तक पहुँचने की शिक्षा देता है।

---

**१. हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स—काणे पृ० १२१-२।**

**२. अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।**

**३. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः।**

**४. ४।६ ध्वन्यालोक की उद्धृत वृत्ति में आए साहित्य शब्द पर लोचन में कुछ नहीं कहा गया। साहित्य शब्द का उसमें प्रतीकात्मक ग्रहण भी नहीं हुआ जब कि आनंदवर्धन के—— 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः १।८ ध्व०; में आए प्रत्यभिज्ञेय शब्द से प्रत्यभिज्ञा की झलक या अभिनव गुप्त लोचन में अपने परमगुरु उत्पलाचार्य का प्रतिभिज्ञा संबंधी पूर्ण पद्य उद्धृत करते हैं।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



राजशेखर आदि उक्त चार आचार्यों में साहित्य संबंधी जो विवेचना मिलती है उसमें क्रमिक विकास निहित है। आनन्दवर्धन ने भामह के 'सहित' शब्द से साहित्य की निष्पत्ति की और उसका अर्थ सहभाव किया। राजशेखर ने इस सहभाव को और अधिक व्यवस्थित किया। उन्होंने उसमें 'यथावत्' विशेषण लगाया और साहित्यविद्या के निरूपण में लिखा :—

**'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'। (काव्यमीमांसा २ अ०)**

राजशेखर ने साहित्य-विद्या को आन्वीक्षिकी आदि सभी विद्याओं से अलग पांचवीं विद्या माना।[1] इससे स्पष्ट है कि वे साहित्य को इतर वाङ्मय से सर्वथा भिन्न मानते हैं तथापि वे इस भिन्नता का तात्त्विक निरूपण नहीं करते। वे 'यथावत्' (—अनुरूप जैसा चाहिए वैसा) शब्द देकर ही इस विषय को समाप्त कर देते हैं।

राजशेखर के समकालीन या उनसे कुछ ही दशक बाद के आचार्य कुन्तक ने भामह के काव्यलक्षण को पुनः दोहराया। उन्होंने कुछ विशेषताओं के साथ—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' ही काव्य का लक्षण बनाया। पुनः सहित शब्द के अर्थ का प्रश्न उठा। कुंतक ने पूर्वोक्त व्याकरण, मीमांसा आदि दर्शनों की ओर से शब्द और अर्थ के वाङ्मय व्यापी सहभाव को स्वतंत्र कारिका में इस प्रकार उपस्थित किया—

**'शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतो यदा।**
**सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते॥ (वक्रोक्तिजीवितम् १। १६)**

'शब्द और अर्थ दोनों की प्रतीति सदा साथ होती है। काव्यलक्षण में उनके इस सहभाव का विधान कोई नवीन स्थापना नहीं।' कुन्तक ने इस आपत्ति को ठीक भी ठहराया। उन्होंने स्वयं कहा :—

**'एतस्तिन् (वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसम्बन्धे) साहित्यशब्देनाभिधीयमाने कष्टकल्पनोपरचितानि गाङकुटादिवाक्यानि, असम्बद्धानि शाकटादिवाक्यानि च सर्वाणि साहित्यशब्देनाभिधीयेरन्। तेन पदवाक्यप्रमाणव्यतिरिक्तं किमपि तत्त्वान्तरं साहित्यमिति विभागोऽपि स्यात्।'**
**(वक्रोक्तिजीवितम् १।१६)**

'शब्द और अर्थ के नित्य संबंध को साहित्य शब्द का अभिधेय अर्थ मानने पर कर्णकटु 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिण्ङित्'[2] इत्यादि व्याकरण सूत्र, इतना ही नहीं, गाड़ीवान आदि के ऊल-

---

झलक पा अभिनवगुप्त लोचन में अपने परमगुरु उत्पलाचार्य का प्रत्यभिज्ञा संबंधी पूर्ण पद्य उद्धृत करते हैं।

१. पंचमी साहित्यविद्येति यायावरीयः, सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः—क० मी० २ अ०।

२. पाणिनि सूत्र १।२।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जलूल वाक्य आदि सभी कुछ साहित्य शब्द के अभिधेय अर्थ होंगे। इससे साहित्य, व्याकरण, मीमांसा और न्याय से भी अलग साबित न होगा।'

इस प्रकार की आपत्तियों का कारण स्पष्ट करते हुए वे अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों पर फबती भी कसते हैं :—

**'यदिदं साहित्यं नाम तदेतावति निःसीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम् । न पुनरस्य परमार्थः मनाङ्मात्रमपि विचारपदवीमवतीर्णः। (वही)**

'साहित्यतत्त्व इस विशाल काव्यशास्त्र में केवल साहित्यशब्द से ही चर्चित है। इसका तात्त्विक विवेचन नहीं हुआ।'

अंत में कुंतक साहित्यशब्द की मार्मिक व्याख्या भी करते हैं :—

**'साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ।**
**अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।'**

**—१।१७ वक्रो०**

'शब्द और अर्थ का सौन्दर्य निष्पत्ति के प्रति बराबरी का प्रतिस्पर्धापूर्ण जमाव ही साहित्य है।' यहाँ साहित्य का अर्थ सहभाव की जगह साम्य किया गया है। यह तथ्य इस कारिका की वृत्ति से स्पष्ट है। उसका संक्षिप्त रूप यह है :—

**'शब्दार्थयोः सौन्दर्यश्लाघितां प्रति परस्पर-साम्य-सुभगमवस्थानं साहित्यमुच्यते।'**

साम्य भी उन्होंने शब्द का अर्थ या अर्थ का शब्द के साथ नहीं, अपितु शब्द का शब्द के साथ और अर्थ का अर्थ के साथ माना है। उनका उल्लेख है—

**'तच्च (साहित्यम्) वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य च वाच्यान्तरेण अभिप्रेतम्।'**

उक्त कारिका की वृत्ति अपने आपमें अपने प्रतिपाद्य साहित्य का उत्तम उदाहरण है। कुंतक ने यहाँ आचार्य के साथ कवि का भी कार्य किया है। कुंतक की साहित्य संबंधी इस मान्यता से आचार्य आनन्दवर्धन की निम्नलिखित कारिका स्मरण आ जाती है—

**'वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।**
**रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः' ॥**

**—(ध्वन्या० ३।३२)**

'अर्थ और शब्दों का 'रसादिविषयक औचित्य-से युक्त संयोजन ही महाकवि का प्रमुख कर्म है।'

कुंतक ने अपने मत की तत्त्वात्मक व्याख्या भी की है। सौन्दर्याभिव्यंजक तत्त्वों को गिनाते हुए उन्होंने पूववर्ती संप्रदायों का समन्वय भी किया है। वामन के रीति संप्रदाय, आनन्दवर्धन ने ध्वनि संप्रदाय तथा भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट और स्वयं के अलंकार-संप्रदाय को साहित्य-पुष्प की पँखुडियाँ बतलाते हुए वे लिखते हैं:—



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादि गुणोदयः।
अलंकरणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः।
वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा।
पदादिवाक्परिस्पंदसारः साहित्यमुच्यते॥'

'साहित्य व्याकरण आदि का सार है। उसमें (१) वैदर्भी आदि रीतियों से सुभग माधुर्य आदि गुण (२) वक्रता की काष्ठागत महिमा से युक्त अलंकार और (३) परुषा कोमला किंवा कैशिकी सात्त्वती आदि वृत्तियों के अनुरूप संनिवेश से रसों का मनोमोहक परिपाक शब्द और अर्थ दोनों में रहता है।'

इस प्रकार कुंतक के अनुसार साहित्य एक काव्यतत्त्व सिद्ध होता है।

भोज ने कुन्तक के 'पदादिवाक्परिस्पन्दसार' शब्द की मानों स्पष्ट व्याख्या करते हुए शब्दार्थगत-व्याकरण आदि के तत्त्वों को भी गिनाया—

**'तत् (काव्यं) पुनः शब्दार्थयोः संबन्धम् आमनन्ति। तद्यथा—शब्दार्थौ सहितौ काव्यमिति।...। (तत्र) किं साहित्यम्? यः शब्दार्थयोः संबन्धः। स च द्वादशधा—१ अभिधा, २ विवक्षा, ३ तात्पर्यम्, ४ प्रविभागः, ५ व्यपेक्षा, ६ सामर्थ्यम्, ७ अन्वयः, ८ एकार्थीभावः, ९ दोषहानम्, १० गुणादानम्, ११ अलंकारयोगः, १२ रसावियोगश्च।' (शृंगारप्रकाश १–२ गद्य, ७–१ तथा सरस्वती कंठाभरणम्–रत्नेश्वर।)**

'शब्दार्थ संबंध ही काव्य है। जैसा कि कहा गया है 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' साहित्य क्या है? शब्दार्थ का संबंध! वह बारह प्रकार का है: १ अभिधा, २ विवक्षा, ३ तात्पर्य, ४ प्रविभाग, ५ व्यपेक्षा, ६ सामर्थ्य, ७ अन्वय ८ एकार्थीभाव ९ दोषत्याग १० गुणग्रहण, ११ अलंकार निवेश और १२ रस का वियोग न होना।'

भोज ने वाक्य-प्रयोग को दो प्रकार का माना है सामान्य और सम्यक्। सामान्य प्रयोग के लिए अभिधा से एकार्थी भाव तक के आठ संबंध अपेक्षित हैं। सम्यक् प्रयोग में इन आठों के साथ दोषत्यागादि चार संबन्ध भी आवश्यक हैं। इस प्रकार इन बारहों संबन्धों के होने पर वाक्य प्रयोग काव्य कहा जा सकता है। अतः साहित्य इन बारहों संबंधों की समष्टि का नाम है। फलतः केवल आठ संबंधों के वाक्य प्रयोग सामान्य लोक व्यवहार और शास्त्र कहे जाते हैं। उनमें साहित्य का अभाव रहता है। भोज का आशय प्रत्येक संबंध को साहित्य मानने का नहीं। यह बारह सम्बन्ध उस साहित्यरूपी संबन्ध के अवयव रूप से ही भोज को मान्य है। इस प्रकार भोज साहित्य को वाङ्मयपरक नहीं मानते। उनके इस विवेचन से कुंतक की '-वाचक का वाचक और वाच्य का वाच्य के साथ साहित्य' वाली मान्यता की कहाँ तक पुष्टि होती है यह स्वतंत्र रूप से विवेचनीय है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



क्षेमेन्द्र ने साहित्य को स्पष्ट रूप से वाङ्मय से भिन्न उसकी एक इकाई माना है। वृहत्कथा मंजरी के उपसंहार में (पद्य ३७) में वे निज को 'साहित्य' में अभिनवगुप्त का शिष्य कहते हैं। सुवृत्त तिलक में काव्यलक्षण ही (३।४)—'काव्यं विशिष्टशब्दार्थं साहित्यंसदलंकृति'—इस प्रकार है। किंतु वे साहित्य पर स्वतंत्र विचार नहीं करते।

साहित्य मीमांसा ग्रन्थ के रचयिता यदि रुय्यक ही हैं तो उन्होंने भोज के इन्हीं बारह तत्वों को गिनाया है। साहित्य मीमांसा कुन्तक और भोज के सिद्धान्तों पर ही निर्भर है। उसमें साहित्य का विवेचन इन दोनों आचार्यों के विस्तृत उद्धरणों द्वारा किया गया है। उसके अज्ञात निर्माता ने कुन्तक के साहित्य विचार को सदोष और अति संकुचित ठहराया है। कुन्तक के ऊपर उद्धृत संपूर्ण ग्रन्थ को उद्धृत कर अन्त में वे कहते हैं—

**"परिष्कारः साहित्यमिति तेषां मतम्। वयं तु शब्दार्थयोः संमेलनमात्रम् उक्तिरूपं साहित्यं शास्त्राख्यानादिसाधारणम्, परिष्कारविशिष्टं च तत् (साहित्यं) काव्यं मन्यामहे।"**
**(साहित्य मीमांसा--पृष्ठ १४-१५ त्रिवें० सं०)**

'उन (कुन्तक) के अनुसार विवक्षा आदि का परिष्कार ही साहित्य है। हम केवल शब्दार्थ संबन्ध को साहित्य मानते हैं, और उनके परिष्कार को काव्य।' इस प्रकार कुन्तक काव्य को ही साहित्य मानते हैं। साहित्य मीमांसाकार साहित्य को वाङ्मय और काव्य को उसका परिष्कृत रूप। परिष्कार के लिए उन्होंने भोज द्वारा शृंगार प्रकाश (१।१२) और सरस्वती कण्ठाभरण में गिनाए दोषहान, गुणाधान, अलंकार योग और रसान्वय—इन्हीं चार तत्त्वों को आवश्यक माना है। भोज के मत को परिष्कृत करते हुए वे लिखते हैं—

**"भोजराजादयः शब्दार्थयोरभिधादि द्वादश विधं संबन्धं साहित्यमाचक्षते। तत्र चरमं चतुष्टय मागमापायित्वात् साहित्यस्वरूपं न प्रविशति। तस्मात् तत् (चतुष्टयं) परिष्कारत्वेन निष्कृष्टम्।"** **(सा० मी० त्रिवेन्द्रम् सं० पृ० १२ का सार मात्र)**

भोजराज आदि ने शब्द और अर्थ के अभिधा आदि (ऊपर गिनाए) बारह संबन्धों को साहित्य कहा है। इनमें जो दोषहान आदि अंतिम चार सम्बन्ध हैं, वे शब्दार्थ युग्म में सदा नहीं रहते, आगमापायी हैं। अतः उन्हें हमने परिष्कार रूप से पृथक गिनाया है।

इस प्रकार साहित्य मीमांसाकार साहित्य को काव्य से सर्वात्मना भिन्न मानते हैं। किन्तु अपने परवर्ती ग्रन्थों में साहित्य मीमांसाकार कुन्तक का सिद्धान्त ही साहित्य के लिए अपना लेते हैं।[1] व्यक्ति विवेक पर लिखी व्याख्यान नामक टिप्पणी में वे लिखते हैं—

---

**१. अलंकारसर्वस्व--उत्प्रेक्षाप्रकरण पृष्ठ ७७नि० सा० सं० तथा व्यक्तिविवेक पृष्ठ २४३ चौ० सं० दोनों जगह साहित्य-मीमांसा को उनके लेखकों ने अपनी कृति कहा है। अभी तक**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं च तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्। (व्यक्तिविवेक, पृ० २६८, चौ० सं०)

'काव्य के शब्दार्थ साहित्ययुक्त होते हैं। साहित्य है उनकी तराजू पर तुली सी बराबरी।'

स्पष्ट ही इन पंक्तियों पर भट्ट नायक के—

'शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थे तत्त्वेन युक्तेतु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापार प्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्।'

'शब्द प्रधान श्रुति स्मृति आदि शास्त्र हैं, पुराण आदि उनके आख्यान अर्थ-प्रधान हैं। काव्य दोनों नहीं, व्यापार प्रधान हैं।'—इन अभिप्रायों की छाया तो है ही कुन्तक का अनुकरण भी है। कुन्तक ने साहित्य-तत्व की व्याख्या में, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, शब्दों और अर्थों की 'अन्यूनानतिरिक्त अवस्थिति' निर्धारित की है। रुय्यक की 'तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनान तिरिक्तत्वम्' पंक्ति उसकी निखरी हुई प्रतिभा है।

इस प्रकार साहित्य तत्त्व का निर्वचन कुन्तक से विशद होकर कुन्तक की मान्यता में ही पर्यवसित होता है। भोज और रुय्यक के बीच मम्मट का बड़भागी ग्रन्थ काव्यप्रकाश बना। उसकी काव्य लक्षण की विशेषताओं का भोज और रुय्यक के अंतिम चार गुणों में संनिवेश हो जाता है। मम्मट ने दोष के अभाव, गुण और अलंकार के उद्भव को शब्द और अर्थ में काव्यत्वाधायक तत्त्व माना है। गुण को ध्वनि संप्रदाय रस का अव्यभिचरित धर्म मानता है। अतः मम्मट के गुण तत्त्व में रस का संग्रह भी हो जाता है। इस प्रकार मम्मट का काव्यलक्षण और भोज तथा रुय्यक के सम्यक् प्रयोगात्मक वाक्य एवं साहित्य परिष्कार के गुण अभिन्न ठहरते हैं। इस प्रकार साहित्यतत्व एवं काव्यलक्षण में गिनाए गए तत्त्वों का व्यवस्थित विवेचन श्री देशपांडे ने अपने मराठी में लिखित भारतीय साहित्य-शास्त्र के छठे प्रकरण में किया है।

इस प्रकार भामह, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुंतक, भोज और रुय्यक—साहित्य शब्द को काव्यतत्त्वों के समष्टिवाचक शब्द के रूप में योगरूढ़ रूप से अपनाते हैं।

परवर्ती साहित्य में साहित्य शब्द काव्य और काव्यशास्त्र के लिए भी प्रयुक्त होने लगा था। भर्तृहरि के 'साहित्य-संगीतकला' इस त्रिक में साहित्यशब्द काव्यपरक ही है। श्रीहर्ष की 'साहित्ये सुकुमार वस्तुनि'—गर्वोक्ति में भी साहित्य का अर्थ काव्य ही है। मुकुल भट्ट को

---

यह निश्चित नहीं है कि इनके लेखक मंख हैं या उनके गुरु रुय्यक। काणे रुय्यक को ही मानते हैं। हमें भी यही ठीक लगता है। अनेक तत्वों से यह स्पष्ट है कि साहित्य-मीमांसा उसके रचयिता की अप्रौढ़ कृति है।

पौष-फाल्गुन १८८२ शक]

113067

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उनके शिष्य प्रतीहार इन्दुराज ने 'साहित्य रूपी श्री के लिए मुरारि' कहा है।[१] क्षेमेन्द्र ने निज को साहित्य में अभिनवगुप्त का शिष्य माना है।[२] मंख साहित्यविद् को कविकर्म रूपी तैलबिन्दु के लिए निर्मल जल मानते हैं।[३] यहाँ साहित्यशब्द साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र के लिए ही वस्तुतः प्रयुक्त है। यद्यपि इस शास्त्र का मूल लक्ष्य साहित्यतत्त्व का ही विवेचन है। शास्त्र के लिए साहित्य शब्द विद्या शब्द के साथ प्रयुक्त हुआ है। बिल्हण[४] के 'कुण्ठत्वमायातिगुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु' के साहित्यविद्या शब्द में और उनके पूर्ववर्ती राजशेखर के 'साहित्य-विद्या' शब्द में कोई अन्तर नहीं।' यद्यपि नीलकण्ठदीक्षित--'साहित्यविद्याजयघण्टयैव संवेदयन्ते कवयो यशांसि।[५] और 'साहित्यविद्यां पदमेकमेव सर्वानवद्यामपि हन्ति दुःस्थम्'[५]--प्रयोग उनके 'साहित्यमेकं तु गिरां सवित्र्यास्तारुण्यमुद्गाढमुशन्त्यभिज्ञाः,[५] 'निर्वेद भी शोक जुगुप्सितान्य-प्यायान्ति साहित्यपथे रसत्वम्'[५] में आए काव्यार्थक साहित्य और साहित्यपथ के ही अर्थ में हुए हैं।

इस प्रकार बारहवीं शती तक साहित्य शब्द यौगिक अर्थ से हटकर अपने योगरूढ़ अर्थ में उपनिषदों के ब्रह्मशब्द और स्मृतियों के धर्मशब्द के ही समान सार्वभौम प्रतिष्ठा पा चुका था। उसके नाम पर 'साहित्य दर्पण' आदि तीस ग्रंथों की सूची डॉ० काणे ने अपने संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में दी है। यद्यपि यह विचित्र तथ्य है कि साहित्यदर्पण में साहित्य शब्द पर विचार नहीं किया गया।

'साहित्यपाथोनिधि' और 'कर्णामृत' शब्दों के अर्थ स्पष्ट करने के लिए साहित्य और काव्य का संबंध थोड़ा और विचारणीय है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है--एक सामान्य अर्थ में और दूसरा विशेष अर्थ में। सामान्य अर्थ में काव्य शब्द अभिनेय और अनभिनेय, दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के साहित्य के लिए प्रयुक्त है। भरतमुनि नाट्य को ऐसा खिलौना बतलाते हैं जो दृश्य भी है और श्रव्य भी।[६] वे नाट्य के लिए काव्य भी कहते है। नाट्यभावों की व्याख्या में 'काव्यार्थान् भावयन्ति' (७अ) लिखते हैं। भामह काव्य को सर्गबंध और अभिनेयार्थ दो भागों में बाँट

---

१. मीमांसासारमेघात् पदजलधिविधोस्तर्क माणिक्यकोशात् साहित्य श्रीमुरारेबुध-कुसुममधोःसौरिपादाब्जभृंगात्। श्रुत्वा सौजन्य सिन्धोर्द्विजवरमुकुलात् कीर्तिवल्यालवालात् काव्यालंकारसारे लघुविवृतिमधात् कौंकणः श्रीन्दुराजः'--उद्भट के का० सा० सं० का टीकान्त।

२. श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधसागरात्--बृहत्कथामंजरी उपसंहार, ३७ पद्य

३. 'विना न साहित्यविदा परत्र गुणः कथंचित् प्रथते कवीनाम्।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव विस्तारमन्यत्र न तैलबिंदुः --श्रीकंठचरित २।१२

४. विक्रमांकदेव चरित १।१४

५. शिवलीलार्णव प्रथम सर्ग।

६. क्रीडनीयमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्--नाट्शास्त्र प्र० अ०।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सर्गबंध को महाकाव्य और अभिनेयार्थ को नाटक आदि बतलाते हैं।[१] दण्डी काव्य को, गद्य, पद्य और मिश्र भेदों में बाँट गद्य पद्य को आख्यायिका, महाकाव्य आदि में मान मिश्र को रूपक मानते हैं।[२] वामन ने काव्य को गद्य और पद्य में बाँट पद्य के निबद्ध भेद में महाकाव्य और दशरूपक की गणना की है।[३] रुद्रट ने निम्नलिखित एक ही पद्य में काव्य का सामान्य और विशेष दोनों अर्थों में प्रयोग किया है।

'सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये उत्पाद्य नुत्पाद्याः (काव्यालंकार १६।२)

'काव्य में काव्य कथा आख्यायिका आदि प्रबन्ध उत्पाद्य और अनुत्पाद्य दो प्रकार के होते हैं। उन्होंने आदि पद से रूपकों की गणना की है।[४] आचार्य आनन्दवर्धन काव्य को अभिनेयार्थ और अनभिनेयार्थ अर्थात् जिनका अर्थ--कथावस्तु अभिनेय हो और न हो—दो प्रकार का मानते हैं।[५] उन्होंने काव्य के अनेक भेदों में सर्गबन्ध और अभिनेयार्थ भेदों का नाम लिया है। इन पर अभिनवगुप्त की व्याख्या उल्लेख योग्य है।

महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गबन्धाः संस्कृत एव। अभिनेयार्थं दशरूपकम्।–(ध्वं० लो० ३।७)

अभिनव भारती में उन्होंने नाट्य के लिए काव्य शब्द का प्रयोग असकृत् किया है। वहीं नाट्य की परिभाषा में वे लिखते हैं—

'नाट्यं नाम नटगताभिनय प्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयः अर्थः।'(६।१५ नाटचशास्त्र, बडौदा सं०पृ०२६६)

अभिनव गुप्त के गुरु का मत है कि रस ही नाट्य है।[६] भरत रस को काव्यार्थ[७] कहते हैं। अतः रसभूमिका पर काव्य और नाट्य अभिन्न हैं। महिम भट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में काव्य और नाट्य का विवेचन इस प्रकार किया है --

----------

१. भामह, काव्यालंकार १।१८,२४

२. काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद

३. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १।३।२६-२७

४. काव्यालंकार, रुद्रट १६।३६

५. ध्वन्यालोक ३।१० वृत्ति, पृष्ठ ३३२, चौखम्भा संस्करण।

६. लोचन चौ० सं० ३३६ पृ०, अभिनवभारती प्रथम से षष्ठ अध्याय तक पदे पदे, ६।१५, पृ० २६७

७. उक्तमेव मुनिना काव्यार्थान् भावयन्तीति (७ अध्याये) तत् काव्यार्थो रसः– अभिनवभारती पृ० २७८, अ० ६,



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**'कविव्यापारो हि...काव्यम् । तच्चाभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम् । सामान्येन तत् शास्त्रवत्...व्युत्पत्तिफलम् । केवलं व्युत्पाद्य...तारतम्यभेदात् काव्यनाट्यशास्त्र रूपः उपायभेदः कृतः, न फलभेदः (पृष्ठ ९५-९६ चौ० सं०)**

राजशेखर ने काव्यविद्या के अट्ठारह अधिकरणों में रूपकनिरूपणीय नामक अधिकरण भी गिनाया है।[१] वक्रोक्तिजीवितकार रसवदलंकार निरूपण में—तृतीय उन्मेष में नाट्य और काव्य के अभेद की ओर संकेत किया है।[२] आगे चतुर्थ उन्मेष में तो उन्होंने सर्गबन्ध तथा रूपकों की चर्चा स्पष्टरूप से की है।[३] काव्यप्रकाशकार मम्मट ने काव्यभेद तो नहीं गिनाए किंतु काव्यदोषों में नाटकों के उदाहरण अवश्य दिए हैं।[४] उनका काव्यलक्षण भी नाट्य में संगत हो जाता है। परवर्ती आचार्यों में पंडितराज जगन्नाथ को छोड़कर[५] अन्य सभी ने काव्य के उपर्युक्त भेद गिनाए हैं। इस प्रकार काव्य शब्द सामान्य और विशेष दो अर्थों में प्रयुक्त है। इनमें सामान्य अर्थ का काव्य और साहित्य दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

विशेष (श्रव्यकाव्य के) अर्थ में जहाँ काव्य का प्रयोग हुआ है वहाँ प्रायः उसके साथ नाट्य शब्द जुड़ा मिलता है। शब्द और अर्थ की वृत्तियों के विषय में आनन्दवर्धन लिखते हैं—'नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति' (३।३३ ध्व०)।[६] काव्यप्रकाशकार विभाव और कारण आदि में अन्तर दिखलाते हुए लिखते हैं—

**'कारणान्यथकार्याणि सहकारीणि यानि च। रत्यादेः स्थायिनो लोकेतानि चेन्नाट्य-काव्ययोः।**
**विभावा अनुभावश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः' (काव्यप्रकाश ४)**

अभिनवगुप्त के रस सिद्धान्त में वे पुनः नाट्य और काव्य का इस प्रकार एक साथ उल्लेख करते हैं। 'लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च...।' (वही) रुय्यक ने साहित्य मीमांसा के साथ ही नाट्यमीमांसा भी लिखी थी।[७] पंडितराज जगन्नाथ नव्यों के रससिद्धान्त में काव्य और नाट्य का जोड़ा उपस्थित करते हैं—'काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु...' (रसगंगाधर प्रथमानन आरम्भ)। शान्तरस के प्रकरण में उनका यह वाक्य भी एतदर्थ उल्लेखनीय

---

**१. काव्यमीमांसा अ० १**

**२. रसवतोऽलंकार इति पक्षे सर्वेषामेव रूपकादीनां रसवदलंकारत्वमेव न्यायोपपन्नतां प्रतिपद्यते—वक्रोक्तिजीवित ३।११ वृत्ति, पृ० ३५२, नगेन्द्र संस्करण।**

**३. वक्रोक्तिजीवित ४।१२,१३**

**४. काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास रसदोष प्रकरण।**

**५. पंडितराज केवल शब्द को काव्य मानते हैं। अतः नाट्य उसमें नहीं आता।**

**६. व्यक्तिविवेक में चौ० सं० के पृष्ठ ९६ पर काव्यनाट्य भेद भलीभांति स्पष्ट किया गया है। उसकी टीका में रुय्यक भी ६८, ९६, ९७ पृष्ठों पर काव्य नाट्य का युग्म उपस्थित करते हैं**

**७. व्यक्तिविवेक पर प्राप्त संस्कृत व्याख्यान पृ० २४३ चौ० सं०।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है —"यैरपि नाट्ये शान्तो रसो नाभ्युपगम्यते तैरपि बाधकाभावात् काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्य एव (वही)। प्रतापरुद्र यशोभूषण में नाट्य और काव्य के प्रकरण ही स्वतंत्र हैं।[१] इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में श्रव्यकाव्यों को दृश्यकाव्यों (नाट्यों) से अलग उपस्थित करने की परंपरा रही है।

उपर्युक्त दृष्टि से बिल्हण के 'साहित्य पाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः' पद्य में साहित्यशब्द 'काव्यसामान्य' अर्थ में प्रयुक्त है। इस पद्य का उत्तरार्ध है —

**'यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति'।**

यहाँ काव्य की चोरी की बात है। नाट्य केवल अभिनय का नाम है। उसकी चोरी संभव नहीं, न उसकी रक्षा के लिए आग्रह। वह श्रव्यकाव्य में ही संभव है। अतः उत्तरार्ध के 'काव्य' शब्द का अर्थ श्रव्यकाव्य है, जिसे भामह, आनन्दवर्धन और व्यक्तिविवेककार महिमाचार्य ने अभिनयार्थ (नाट्य) से भिन्न अनभिनेयार्थ कहा है।[२] पूर्वार्ध में 'कर्णामृत' शब्द निर्गीर्याध्यवसाना अतिशयोक्ति (जिसमें साध्यवसानगौणी लक्षणा द्वारा केवल उपमान का ही शब्दतः कथन होता है, उपमेय उसीसे आक्षिप्त होता है) द्वारा यही श्रव्यकाव्य विवक्षित है। श्रव्य= श्रोत्रेन्द्रिय=कर्ण का विषय ही सरस होने से अमृत कहा भी जा सकता है। यहाँ केवल श्रव्य की जगह पद्यात्मक श्रव्यकाव्य अभिप्रेत है, अतः संगीतयोग से भी वह अमृत कहा जा सकता है। इस पद्य के पूर्ववर्त्ती पद्य १।१० में कवि ने संगीतजनित काव्यसौन्दर्य के लिए स्वयं लिखा —

**जयन्ति ते पंचमनादमित्र चित्रोक्ति संदर्भ विभूषणेषु।**
**सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती॥**

'वे कवि धन्य हैं, जिनके कोकिल स्वर से सुन्दर विचित्र महाकाव्य से विभूषित मुख में सरस्वती वीणा संचार के साथ मानो सदा विराजमान रहती है।'

इस पद्य के निर्माता का काव्य है भी सर्गबंध। उन्होंने इसके निर्माण में वैदर्भी[३] रीति और रसध्वनि की महती उपासना की है। उनका प्रतिबंध है —

**'रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।**
**तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम्॥**
**(विक्रमांदेव चरित १।२२)**

---

**१. श्री शंकर राम शास्त्री द्वारा १९५० में मइलापुर मद्रास से तृतीय बार संपादित तथा प्रकाशित संस्करण।**

**२. व्यक्तिविवेक पृष्ठ ९५ चौ० संस्करण, काव्यमभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम्।**

**३. 'अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वती विभ्रमजन्मभूमिः। वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूःपदानाम्। १।९**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'जो रसध्वनि पथ के स्वैरगामी पथिक हों, जिन्हें वक्रोक्ति के रहस्य की छाप प्राप्त हो, वे ही हमारे उत्कृष्ट प्रबंध को समझें और लोग उसे तोते के समान रटें।'

उन्होंने अपने काव्य को सुवर्ण और विदग्ध चित्तों को उसके अनुरूप कसौटी कहा है।[१] इस प्रकार बिल्हण अपने काव्य को महत्त्व देते हैं। कदाचित् उन्हें 'नाटकान्तं कवित्वम्'––सूक्ति अथवा ––'संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः, ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः। दशरूपकस्यैव हीदं विलसितं यदुत कथाख्यायिके महाकाव्यमिति' (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।३।२६-७ वृत्ति)

'कथाकाव्यों में नाटक आदि दशरूपक अधिक अच्छे होते हैं। उन्हीं से अन्य काव्य बनते हैं। दश प्रकार के रूपकों का ही विलास कथा आख्यायिका और महाकाव्य आदि हैं।'––इस अपने पूर्ववर्ती प्रतिष्ठित आचार्य वामन की स्थापना का संस्कार रहा। उसीके उत्तर में उन्होंने उक्त पद्य में लिखा––'गद्य पद्यात्मक, श्रव्य दृश्यात्मक विविध भाषाओं के काव्य अवश्य ही आदरणीय हैं। किंतु उनमें संस्कृत पद्यों में लिखित महाकाव्य नामक सर्गबंध सर्वश्रेष्ठ है। सभी काव्य यदि दूध के समुद्र हैं तो संस्कृत महाकाव्य उसके मंथन से उद्भूत अमृत, जिसके पान का साधन है विदग्ध पुरुषों की श्रोत्रशुक्ति।' अन्य भाषाओं के काव्यों के प्रति उन दिनों की लोकरुचि उतनी परिष्कृत न थी जितनी संस्कृत काव्यों के प्रति। यहाँ 'कवीन्द्र' शब्द का स्पष्ट अर्थ महाकवि है।

इस प्रकार बिल्हण का उक्त पद्य भी साहित्य के वाङ्मय अर्थ में अधिक दृढ़ प्रमाण नहीं ठहरता। फलतः संस्कृत काव्यशास्त्र और संस्कृत काव्यों की लम्बी परम्परा में साहित्य शब्द यौगिक अर्थ में प्रयुक्त न हो योगरूढ़—काव्यसामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ मिलता है। उसके वाङ्मय अर्थ का तो वहाँ प्रयत्नपूर्वक निराकरण किया गया है।

---

**१. 'अलौकिकोल्लेख समर्पणेन विदग्धचेतः कषपट्टिकासु।**
**परीक्षितं काव्यसुवर्ण मेतल्लोकस्य कण्ठाभरणत्वमेतु।—विक्रमांदेवचरित १।२४ अलौकिक उल्लेख–खरे सोने की चमचमाती (कसौटी पर) रेखा और परामर्श नामक काश्मीरी दर्शन की संवित्ति।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर प्रेमनारायण टंडन

# 'सूर-सारावली' में कवि के आतमकथन

किसी रचना के ऐसे वाक्य जो किसी भी प्रकार से उसके रचयिता के व्यक्तित्व या कृतित्व पर प्रकाश डालने में सहायक होते हैं, 'आत्मकथन' कहलाते हैं। ऐसे कथन, स्थूल रूप से, दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो कवि की जीवनी विषयक तथ्यों की जानकारी कराते हैं और दूसरे जो कवि के स्वभाव या उसके विविध आदर्शों पर प्रत्यक्ष प्रकाश डालने में सहायक होते हैं। 'सारावली' में दोनों प्रकार के 'आत्मकथन' मिलते हैं।

**क. जीवन-चरित संबंधी आत्मकथन**—'सारावली' में ऐसे आत्म-कथनों की संख्या तीन है, जो इस प्रकार हैं—

**१. कछु संक्षेप 'सूर' अब बरनत लघुमति दुर्बल बाल–१५७।**

**२. महिमा सिंधु कहाँ लगि बरनै 'सूरज' कवि मतिमंद––६९९।**

**३. गुरुप्रसाद होत यह दरसन, सरसठ बरस प्रबीन,**
**सिव-विधात तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन––१००२।**

प्रत्येक कवि की जीवनी के लिए हमारे आलोचक सबसे पहले अंतःसाक्ष्यों की खोज करते हैं। सूरदास का जीवन-चरित्र लिखते समय भी उनके अध्येता इनका आधार लेते हैं। ऊपर के तीनों उद्धरण 'सारावली' के ही हैं; परन्तु इनमें से प्रथम दो को कदाचित् किसी भी आलोचक ने उद्धृत नहीं किया है। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि इनमें कवि की जीवनी विषयक कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है और दूसरे 'लघुमति' और 'मतिमंद' को कवि की विनय भावना के अंतर्गत समझ लिया गया है; परन्तु तीसरे उदाहरण के 'प्रवीन' शब्द की व्याख्या में 'सूर निर्णय'-कार जब यह लिखते हैं—'इन लीलाओं के समझने में सूरदास उस समय 'प्रवीन' हो चुके थे, अतः उन्होंने अपने लिए 'प्रवीन' शब्द का भी प्रयोग किया है। इन लीला-भावनाओं के ज्ञान में प्रवीणता की नितान्त आवश्यकता है; क्योंकि जब तक लीला-भेद नहीं जाना जाय, तब तक इन भावनाओं का वास्तविक ज्ञान भी नहीं हो सकता' (सूर-निर्णय, पृ० १४०); तब स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि जो कवि 'सरसठ बरस प्रबीन' होने की बात कह रहा है, वही अपने लिए 'लघुमति दुरबल बाल' क्यों कहता है और आगे चलकर 'कवि मतिमंद' कहकर उसकी पुष्टि क्यों करता है ? इतना तो निश्चित है कि 'सारावली' कार अपने को कवि समझता है, जैसा कि उसके निम्नलिखित कथनों से भी स्पष्ट है—



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**१. अंस कला अवतार स्याम के कवि पै कहत न आवै --३५४।**

**२. रति अरु काम प्रगट ता दिन तैं, कवि मिलि कीरति गाई--६९८।**

यदि दूसरे छंद में प्रयुक्त 'कवि मिलि' का तात्पर्य अन्य कवियों से भी मान लें, तब भी प्रथम उदाहरण का 'कवि' शब्द स्पष्टतः सूचित करता है कि 'सारावली' का रचयिता अपने को कवि मानता है। तब वह एक स्थान पर अपने 'लघुमति' और 'मतिमंद' तथा दूसरे स्थान पर 'प्रवीन' क्यों कह रहा है? यह तो संभव नहीं है कि 'दरसन' की चर्चा के पूर्व का अंश पहले की अवस्था का है और 'दरसन' होते ही उसे 'प्रवीणता' प्राप्त हो जाती है। तब क्या उक्त विरोधी प्रयोग कवि की असावधानी नहीं सिद्ध करते जिससे 'सूर-निर्णय' कारों की 'प्रबीन' की व्याख्या ही विवाद का विषय बन जाती है?

'सूर-सागर' में भी अनेक स्थानों पर सूरदास ने अपने लिए 'कवि' शब्द का प्रयोग किया है; यथा --

**१. तौ जानिहौं जौ मोहिं तारिहौ सूर कूर कवि ढोट--१-१३२।**

**२. कवि उपमा बरनै कछु छोटी--१०-१६५।**

**३. बारबार जमुहात सूर प्रभु इहिं उपमा कवि कहै कहा री।--१०-२८८।**

**४. दामिनि घन पटतर दीजै क्यौं सकुचत कवि लिए नाम--२१८१।**

**५. कनक जटित जराइ बीरे कवि जु उपमा पाइ--२८३१।**

परन्तु उक्त उदाहरणों में कहीं 'प्रवीण' या उसी अर्थ के द्योतक किसी शब्द का प्रयोग कवि ने अपने लिए नहीं किया है। ऐसी स्थिति में 'सूर-निर्णय'-कारों की 'प्रवीण' शब्द की व्याख्या क्या ठीक कही जा सकती है और क्या 'सूरसागर' के कथनों से उस अर्थ की संगति बैठती है?

दूसरी शंका यह है कि पहले उदाहरण में 'सारावली'-कार ने अपने लिए 'बाल' शब्द का प्रयोग किया है और तीसरे में 'सरसठ बरस' की अवस्था का उल्लेख मिलता है। इस स्पष्ट विरोधी कथनों के संबंध में 'सारावली' की प्रामाणिकता के पोषकों का क्या मत है?

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने 'सूरज कवि' नाम को लेकर अनुमान किया है--"यह सूरज कवि वह व्रजवासी बालक, अनुमान से, जान पड़ता है, जो, नागरीदास जी के अनुसार, व्रज में 'द्वै तुकिया होरी के भड़ौआ' गाता फिरता था और जिसे गोस्वामी जी ने 'भगवत-जस' वर्णन करने का उपदेश दिया था। संभव है, गोस्वामी जी का उपदेश मानकर कालान्तर में उसी ने 'सारावली' के नाम से होली का वृहद् गान रच दिया हो"--('सूरदास', पृ० १०५)। डॉ० वर्मा ने स्पष्ट तो नहीं लिखा है, परन्तु जान पड़ता है 'सारावली' के उक्त 'बाल' शब्द और 'होली' के रूपक से ही उनका ध्यान नागरीदास के उक्त कथन की ओर गया होगा। जो हो, 'सूर-निर्णय' में तो नहीं, 'सारावली' की भूमिका में श्री प्रभुदयाल मीतल ने नागरीदास के उल्लेख उद्धृत किये हैं ('सारावली'--मीतल, भूमिका पृ० २८) और अन्त में कहा है--इससे सिद्ध होता है,



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नागरीदास कृत 'पदप्रसंग-माला' के होली गायन में जिस 'ब्रजवासी बालक' का उल्लेख है, वह अष्टछापी सूरदास के अतिरिक्त कोई अन्य 'सूरज कवि' है (वही, पृ० ३०)। डॉ० वर्मा ने जिस बात का केवल 'अनुमान' किया था, उसका निराकरण मीतल जी ने कर दिया है।

हमारी सम्मति में, 'लघुमति' और 'मतिमंद' का प्रयोग सामान्य शालीनता या विनम्रता दर्शाने के लिये हुआ है और 'प्रवीन' असमर्थ प्रयोग है जो केवल तुक-निर्वाह के लिए लिखा गया है और जिसका 'परिपक्व' अर्थ, सरसठ वर्षीय अवस्था से जोड़ा जा सकता है, जैसा कि डॉ० मुंशीराम शर्मा का मत है--(सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ४)। कवि ने उस शब्द के द्वारा अपनी प्रवीणता की ओर किसी प्रकार संकेत नहीं किया है। इसी प्रकार 'लघुमति दुरबल बाल' 'सूर-सागर' के 'सूर कूर कवि ढोट' का असमर्थ-सा अनुवाद है; और 'ढोट' या 'ढोटा' का अर्थ 'बाल' या 'बालक' होता भी है।

अब उक्त कथनों के अर्थों पर विचार कीजिए! प्रथम दो कथन तो किसी आलोचक ने उद्धृत ही नहीं किये हैं, इसलिए उनके अर्थों में मतभेद होने का प्रश्न ही नहीं उठता; यों भी उनके अर्थ स्पष्ट ही हैं। तीसरे छंद को सूरदास के संबंध में कुछ भी लिखने वाले प्रायः प्रत्येक लेखक ने उद्धृत किया है और इसी के अर्थ के संबंध में उनमें मतभेद भी हैं।

तीसरा छंद श्रीकृष्ण की निकुंज-लीला-प्रसंग का है जिसमें कवि ने आराध्य और आराध्या के वे 'दर्शन' 'सरसठ' वर्ष की अवस्था में करने की बात कही है जो शिव और विधाता तक बहुत दिन तप करने पर भी नहीं प्राप्त कर सके। इस छन्द के प्रथम चरण के पाठ के संबंध में तो सभी आलोचक एकमत हैं; परन्तु उसके अर्थ 'कवि को गुरु-प्रसाद से सरसठ वर्ष की अवस्था में (निकुंज-लीला के) दर्शन हुए', से सब सहमत नहीं हैं। असहमति के कारण चार शब्द हैं--१. गुरु, २. दरसन, ३. सरसठ-बरस और ४. प्रवीन। इनमें से अंतिम शब्द 'प्रवीन' की चर्चा तो ऊपर की जा चुकी है; प्रथम तीनों के संबंध में यहाँ विचार करना है।

'गुरु' शब्द का संकेत डॉ० मुंशीराम शर्मा ने 'वल्लभाचार्य' जी से माना है (सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ६); परन्तु 'सूर-निर्णय'-कारों की सम्मति में उसका स्पष्ट संकेत गो० विट्ठलनाथ की ओर है; क्योंकि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य जी और गो० विट्ठलनाथ जी में कोई भेद नहीं समझते थे ('सूर-निर्णय', पृ० ११०) अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने 'पाद-टिप्पणी'-रूप में सूरदास के अंतिम पद का प्रथम चरण--'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो' उद्धृत किया है। हमारी सम्मति में इस पद के संबंध में डॉ० मुंशीराम शर्मा का ही मत ठीक है कि अपनी मृत्यु के समय उन्होंने गो० विट्ठलनाथ का नहीं, महाप्रभु वल्लभाचार्य का ही गुणगान किया था (भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृ० ४४९)। उस पद के दूसरे चरण में महाप्रभु का स्पष्ट नाम भी है--'श्री वल्लभ-नख-चंद- छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो'। यह दूसरी बात है कि गो० विट्ठल नाथ के प्रति सूरदास में श्रद्धा-भाव रहा हो, परन्तु उनका 'गुरु'-भाव महाप्रभु के प्रति ही था और 'सारावली' के उक्त छंद का 'गुरु-प्रसाद' भी 'महाप्रभु की कृपा से' ही अर्थ देता है। इस अर्थ का संबंध दूसरी बातों से बैठता है या नहीं, यह यहाँ विचारणीय नहीं है; क्योंकि किसी प्रयोग



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



का वही अर्थ निकालना जिससे स्वनिर्णीत अन्य बातों का भी समर्थन हो जाय, शुद्ध अनुसंधानवृत्ति नहीं है। पहले उचित अर्थ का निर्णय करना और तब उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना, हमारी समझ में तो 'निर्णय-कार' के लिए यही उचित रीति है; अस्तु।

'दरसन' शब्द भी विवाद का कारण है। इसका अर्थ तो स्पष्ट है, परन्तु 'दर्शन' के प्रसंगार्थ के संबंध में मतभेद है। डॉ० मुंशीराम शर्मा के अनुसार, 'महाप्रभु के दर्शन के उपरान्त सूर को जो सिद्धि उपलब्ध हुई, जो दर्शन हुआ, वह भगवान की शाश्वत रास-लीला का ही दर्शन था' (सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ५)। 'सूर-निर्णय'-कारों का मत है कि "श्रीमद् वल्लभाचार्यजी ने जिस माधुर्य-भक्ति को अपने ग्रन्थों में व्यक्त किया था, उसी को श्री विट्ठलनाथ जी ने सेवा में क्रियात्मक रूप से उपस्थित किया, जिसके फलस्वरूप संप्रदाय में निकुंज-भावना तादृश हुई। ...... 'जिन निकुंजों के दर्शनों की सूरदास अभिलाषा करते थे, वे उनको अपनी ६७ वर्ष की अवस्था में तादृश हुए थे" (-'सूर-निर्णय', पृ० ११०) प्रथम मत के कारण सूरदास को दर्शन कराने का श्रेय महाप्रभु वल्लभाचार्य को मिलता है, और तब वे हरि-लीला-गान में प्रवृत्त होते हैं तो दूसरे के समर्थक 'गुरु-प्रसाद' का संबंध गो० विट्ठलनाथ से मानते हैं जिसके फलस्वरूप 'सूर-साहित्य' का अधिकांश भाग रच जाने के पश्चात् सूरदास को 'निकुंज-लीला' के अभीप्सित दर्शन होते हैं। हमारी सम्मति में, 'सारावली' के उक्त छंद के पूर्व के प्रसंग के अनुसार 'दरसन' से कवि का तात्पर्य 'निकुंज-लीला-दर्शन' से ही है, यद्यपि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'गुरु' से उसका संकेत महाप्रभु की ओर ही है।

'सरसठ-वरस' पद का अर्थ तो स्पष्ट है; परन्तु मदभेद इस बात में है कि ६७ वर्ष की अवस्था में कवि को 'दर्शन' हुए या उसने 'सारावली' की रचना की। डॉ० मुंशीराम शर्मा का मत इस संबंध में सबसे अधिक चौंकानेवाला है--'महाप्रभु वल्लभाचार्य के दर्शन के उपरान्त अपने जीवन के ६७वें वर्ष में वे (सूरदास) सिद्धि प्राप्त कर सके। वल्लभाचार्य जी से भेंट करने के समय सूरदास जी अवश्य ही अधिक आयु के थे ......। अतः उस समय सूर ६७ वर्ष के हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ......६७ वर्ष की आयु में भगवान की लीला के दर्शन करना संतों के लिए विस्मयावह नहीं है। सूर का संयत हृदय और मन, बुद्धि एवं आत्मा पहले से ही किसी वस्तु के ग्रहण करने की पूरी तैयारी किये बैठी थी--भूमि तैयार थी, केवल बीज पड़ने की देर थी। यह बीज सूर को वल्लभ के अध्यात्म-शक्ति-गर्भित उपदेशों में सुलभ हो गया। 'सूर-सागर' की प्रौढ़ रचना भी उनके प्रौढ़ आयु में लिखे जाने का समर्थन करती है। तुलसी ने 'रामचरित मानस' ७७ वर्ष की आयु में लिखा था। सूर ने अपना 'सागर' ६७वें वर्ष में प्रारंभ किया' (सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ६)। दूसरा मत 'सूर-निर्णय'-कारों का है जो 'दरसन' और 'सारावली' की रचना, दोनों के समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष की मानते हैं और उनके जन्म संवत् १५३५ में उसे जोड़कर संवत् १६०२ में 'सारावली' का रचना-काल मानते हैं। उनके अनुसार, 'इस संवत् तक सूरदास ने 'श्रीमद्भागवत्' के द्वादश स्कंध के अतिरिक्त वल्लभ संप्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की सेवा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के जिन पदों को गाया था, उन्हीं का यह ('सारावली') सूचीपत्र अथवा सिद्धान्त का सार है'—(सूर-निर्णय, पृ० १४२)।

हम डॉ० मुंशीराम शर्मा के इस कथन से तो पूर्णतया सहमत हैं कि 'सारावली में' उपलब्ध ६७ वर्ष का संकेत उसके रचना-काल का नहीं, वरन् सूरदास के हरि-लीला-दर्शन का सूचक है;—(सूर-सौरभ, पृ० ४); परन्तु इस बात से सहमत नहीं हैं कि वह समय उनके संप्रदाय-प्रवेश का ही हो सकता है। इस प्रकार मीतल जी की उक्त कथन के संबंध में यह टिप्पणी भी हमें मान्य नहीं है कि इस मत के मानने पर या तो सूरदास का जन्म संवत् १५३५ से पूर्व मानना होगा, अथवा उनका संप्रदाय-प्रवेश सं० १५६७ के पश्चात्; ये दोनों संवत् अब निर्विवाद रूप से निश्चित हो चुके हैं—('अष्टछाप परिचय', पृ० १२७-२८)। अतः सूरदास की ६७ वर्ष की आयु में ही 'सूर-सारावली' की रचना मानना उचित होगा-(सूर-सारावली, (मीतल), भूमिका, पृ० २४)। मीतल जी के इस कथन से हमारा मतभेद इस कारण है कि हरि-लीला-दर्शन का स्पष्ट संकेत ६७ वर्ष की अवस्था में होने पर भी, स्वनिर्णीत अन्य संवतों से केवल उसका मेल बैठाने के लिए उक्त अवस्था में 'सारावली' की रचना भी हो जाने का जबरदस्ती निश्चय वे क्यों कर लेते हैं? छंद का 'यह' सार्वनामिक विशेषण भी 'दरसन' की ओर संकेत करता है, उसके रचनाकाल की ओर नहीं। अतएव सूरदास-संबंधी अन्य संवतों से मेल खाता हो या नहीं, हमें छंद का स्पष्ट अर्थ ही लेना चाहिए। 'सारावली' का रचयिता जिस 'सरसठ' वर्ष की अवस्था में (लीला-) दर्शन की बात कह रहा है, वह यदि 'सूरसागर' के प्रसिद्ध रचयिता सूरदास के जीवन-क्रम से मेल नहीं खाती तो हमें स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए कि 'सारावली' के जिस रचयिता ने 'सरसठ' वर्ष की अवस्था में लीला-दर्शन किये थे, वह कोई अन्य कवि होगा, प्रसिद्ध कवि सूरदास नहीं हो सकते जिनके जन्म और संप्रदाय-प्रवेश के संवत्, मीतल जी के अनुसार, निर्विवाद रूप से निश्चित हो चुके हैं

यहाँ हमें डॉ० मुंशीराम शर्मा का दूसरा कथन मान्य नहीं है। उन्होंने सूरदास का जन्म-संवत् १५१५ माना है और वल्लभ-संप्रदाय में प्रवेश ६७ वर्ष की अवस्था में। जन्म संवत् में उतने वर्ष जोड़कर संवत् १५८२ आता है। उधर, 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि आचार्य महाप्रभु के समय से सूरदास 'सागर' विख्यात हो गए थे—('और सूरदास जी सों श्री आचार्य जी महाप्रभु आप 'सागर' कहते। सो 'सागर' काहे ते कहियत हैं? जामें सब पदारथ होइ ताकों 'सागर' कहिए। सो सूरदास जी ने लक्षावधि पद किए, सो सब जगत में प्रसिद्ध भए—('प्राचीन-वार्ता-रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० ४४); जिसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि 'सूर-सागर' का अधिकांश तो उन्होंने लिख ही लिया था। डॉ० दीनदयालु गुप्त के अनुसार, महाप्रभु का देहावसान संवत् १५८७ में हुआ था—('अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ७३)। इन पाँच वर्षों में 'सूर-सागर' का लिखा जाना, उसकी प्रसिद्धि हो जाना और महाप्रभु से उसका इस प्रकार प्रशंसा भी प्राप्त कर लेना किसी तरह संभव नहीं हो सकता। यह तो ठीक है कि ६७ वर्ष का जितना निकट संवत् 'दरसन' से है उतना 'सारावली' के रचना-काल से नहीं; परन्तु उसके तत्काल



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पश्चात् 'सारावली' का रचा जाना भी संभव हो सकता है। इस प्रकार 'सारावली' के उक्त छंद के प्रथम चरण का सीधा-सादा अर्थ यही लेना उचित जान पड़ता है कि 'सारावली' के रचयिता को सरसठ वर्ष की (लंबी और परिपक्व) अवस्था में, गुरु के (परम) प्रसाद से (ही निकुंज-लीला के परम-काम्य) दर्शन हुए, हो सके या हो रहे हैं।

अब दूसरा चरण लीजिए—'सिव विधान तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन।' इस चरण के आदि में प्रत्युक्त 'सिव-विधान' शब्द की ओर हमारे आलोचकों ने ध्यान नहीं दिया है; उन्होंने 'सिव-विधान' पाठ लेकर पूरे चरण के भिन्न-भिन्न अर्थ निकाले हैं। संवत् १९६४ (सन् १९२०) में लखनऊ के 'सूरसागर' के साथ मुद्रित 'सारावली' में उक्त छंद का यही पाठ दिया हुआ है—('सूरसागर' संवत् १९६४ का संस्करण, पृ० ३७); परन्तु लखनऊ के 'सूर-सागर' से मिलान की बात कहकर भी मीतल ने स्व-संपादित 'सारावली' में 'सिव-विधान' पाठ दिया है—('सारावली'-(मीतल), पृ० ८०)। इस अन्तर के दो कारण हो सकते हैं—या तो इन्होंने लखनऊ के 'सूर-सागर' से पाठ का मिलान किया ही नहीं है अथवा उसके किसी परवर्ती संस्करण से किया है। मीतल जी जैसे अनुसंधान-प्रेमी से प्रथम बात की आशा कोई नहीं कर सकता; अतएव हमें दूसरा कारण ही जान पड़ता है कि जिस संस्करण से उन्होंने पाठ का मिलान किया है, उसमें 'सिव-विधान' ही पाठ होगा; क्योंकि लखनऊ के संस्करण में पाठान्तर-सम्बन्धी कोई संकेत भी उस छंद के पाठ के संबंध में नहीं है। 'सारावली' के उस छंद को लेकर 'राग-कल्पद्रुम' के आधार पर उन्होंने अवश्य पाठ-भेद दिया है—विधाता तप कर्‌यो बहु दिन, ताहु पार न लीन्ह-('सारावली' (मीतल), पृ० ८० दूसरा पाठान्तर)। 'सिव' शब्द के न होने पर भी यह पाठान्तर सर्वथा उपेक्षणीय नहीं था क्योंकि इसका भी अर्थ मीतलजी द्वारा गृहीत पाठ 'सिव विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन' के अर्थ से सर्वथा भिन्न है।

'सिव विधान' पाठ लेकर हिंदी के आलोचकों ने कई विभिन्न बातें लिखी हैं। डॉ० मुंशीराम शर्मा के अनुसार ('सूर-सौरभ', पृ० ३-४-५) द्वितीय पंक्ति में सूर लिखते हैं कि मैं शैव-संप्रदाय के विधानों के अनुसार बहुत दिन तक तप करता रहा, फिर भी पार न पा सका, प्रभु का दर्शन न कर सका। इस पंक्ति से प्रतीत होता है कि महाप्रभु बल्लभाचार्य के दर्शनों से पूर्व अपने जीवन के आरम्भिक-भाग में सूरदास शिव की पूजा किया करते थे। ........। सूर शिवाराधन में तप करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत कर चुके थे, फिर भी उन्हें पूर्ण तृप्ति नहीं हुई थी। ... वे (सूरदास) शिव के उपासक रह चुके थे—इस बात का भी समर्थन, जैसा हम आगे चलकर लिखेंगे, भविष्यपुराणान्तर्गत ('सूर-सौरभ', पृ० ४३ पर उद्धृत वह श्लोक और उसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है—॥ सूरदास इति ज्ञेयः कृष्णलीलाकरः कविः। शम्भुर्वै चन्द्र भट्टस्य कुले जातो हरिप्रियः।—'भविष्यपुराण', प्रतिसर्ग पर्व, तीसरा भाग, अध्याय २२, श्लोक ३०१॥ सूरदास चंद्रभट्ट के कुल में उत्पन्न हुए थे। वे प्रथम 'शंभु' अर्थात् शैवधर्मावलंबी थे, बाद में हरिप्रिय अर्थात् भगवद्भक्त बने)। आए हुए श्लोक के 'शंभु' शब्द से हो जाता है। डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने भी शर्मा जी का अर्थ ही स्वीकारते हुए उक्त चरण का अर्थ लिखा है—'बहुत दिन



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



शिव-विधान तप किया, तो भी पार नहीं पाया-('सूरदास', पृ० ८८)। यही अर्थ उन्होंने आगे भी एक स्थान पर किया है-(वही, पृ० ९६)।

मीतल जी 'सारावली' के उक्त छंद के द्वितीय चरण के डॉ० शर्मा और डॉ० वर्मा के अर्थों से सहमत नहीं हैं। उन्होंने लिखा है—'सूरदास के आरंभिक जीवन से संबंधित यह भ्रमात्मक कल्पना उक्त पंक्ति का ग़लत अर्थ करने से की जाती है। वास्तव में इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए,—"गुरु-प्रसाद से यह दर्शन सरसठ वर्ष की प्रवीन (अवस्था में) हो रहा है। (इस दर्शन के लिए) शिवजी ने विधानपूर्वक बहुत दिन तक तप किया, तब भी पार नहीं पाया।" इस प्रकार अर्थ करने से सूरदास द्वारा शिवजी की तपस्या करने और उसमें असफल होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। इस अर्थ की संगति सारावली के पूर्वापर क्रम से भी होती है; जब कि उक्त विद्वानों का अभिप्राय असंगत ज्ञात होता है। इसके लिए उक्त प्रसंग के पूर्वापर छंदों पर विचार करना आवश्यक है।' ('सूर-सारावली' (मीतल), भूमिका पृ० ४७)।

उक्त तर्कों के उत्तर-प्रत्युत्तर भी दिये गए हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो उक्त चरण का वही अर्थ अधिक संगत और उपयुक्त है जो डॉ० शर्मा ने समझा है और जिसका समर्थन डॉ० वर्मा ने किया है। परन्तु जब छंद का पाठ ही बदला हुआ है, तब उसका अर्थ स्वभावतः बदल गया है और वह ऐसा है जिससे किसी का मतभेद नहीं हो सकता। इस नये पाठ का सीधा-सादा अर्थ है—शिव और विधाता भी जिस दर्शन की कामना से बहुत दिन तप करके भी सफलमनोरथ न हो सके, (वही आज गुरु-प्रसाद से मुझे हो रहा है)। इस प्रकार का अर्थ प्रसंग की दृष्टि से भी सर्वथा संगत प्रतीत होता है।

**ख. स्वभाव-प्रकाशक आत्मकथन**—'सारावली' में ऐसे आत्मकथन केवल दो छंदों में मिलते हैं जो इस प्रकार हैं—

**१. करम, जोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायो।**
**श्री बल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला-भेद बतायो—छं० ११०२**
**२. ता दिन तैं हरि-लीला गाई, एक लच्छ पद-बंद।**
**ताकौ सार सूर-सारावलि, गावत अति आनंद—छं० ११०३**

उक्त दोनों छंदों का पाठ सामान्यवर्तनी-भेद के साथ 'सारावली' की सभी प्रतियों में मिलता है। मीतल जी ने स्व-संपादित 'सारावली' में चतुर्थ पंक्ति के 'सूर' शब्द को इसी प्रकार (इन-वर्टेड कामाज़ में) लिखकर उसे कवि की छाप बना दिया है—('सारावली' (मीतल), पृ० ८७) जिसका संकेत यह हुआ कि यह सब कवि सूरदास का कथन है; जब कि होना चाहिए 'सूर-सारावलि' सामासिक पद जिसका संकेत प्रस्तुत ग्रंथ के नाम से है, कवि सूर और उसकी कृति से अलग-अलग नहीं। यही भूल मीतल जी ने 'सारावली' के ११०५ संख्यक छंद में भी की है (वही, पृ० ८८)। वहाँ भी 'सूर' 'सारावलि' न होकर 'सूर-सारावलि' होना चाहिए।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उक्त पंक्तियों का भावार्थ सूर-साहित्य के प्रायः सभी आलोचकों ने इस प्रकार किया है—'कर्म, योग और ज्ञान की उपासना या साधना, सभी भ्रम कवि सूरदास को भरमाते रहे अथवा सभी भ्रमों में कवि सूरदास भ्रमता फिरा; (अंत में) श्रीवल्लभ गुरु ने उसको तत्व सुनाया और लीला-भेद बताया। उस दिन से कवि सूर ने एक लक्ष पद-बंदों में हरि-लीला गायी जिसका सार 'सूर-सारावली' के रूप में (कवि) बड़े आनन्द से गाता है। यह भावार्थ यद्यपि किसी आलोचक ने अपनी किसी कृति में नहीं दिया है, तथापि उक्त छंदों का यही तात्पर्य लेकर उन्होंने अपने अपने कथनों की पुष्टि की है। उनका मतभेद केवल दो पदों के संबंध में है—पहला है, 'एक लक्ष पद-बंद' और दूसरा, 'ताको सार'।

पहले अर्थात् 'एक लक्ष पद-बंद' का सीधा-सादा अर्थ 'एक लाख पद' हिंदी के अधिकांश विद्वानों ने किया है; परन्तु जब उन्हें सूरदास के 'एक लाख' या उसके लगभग पद नहीं मिले, तब दो प्रकार के अर्थ किये गये। किसी ने सूरदास के पदों की संख्या, रचना-दिवसों का हिसाब लगाकर, एक लाख के आसपास पहुँचाने का प्रयत्न किया और 'सूर-निर्णय-कारों' ने उनकी ९३३५० संख्या निश्चित करके-('सूर-निर्णय', पृष्ठ १७३) लिखा—'अब रह जाते हैं सूरदास के सागरोक्त लीला, सिद्धान्त और अनुवादात्मक पद। उन्होंने श्री भागवत की तृणावर्त-अघासुर-वध, माटी भक्षण, कालींयदमन आदि लीलाओं में से प्रत्येक के अनेक पद रचे हैं, जिनका हिसाब लगाना भी कठिन है। यदि इन पदों को पूर्व संख्या में जोड़ा जाय तो सूरदास द्वारा रचे हुए लाख-सवा लाख पदों की बात प्रमाणित हो जाती है। हमने सूरदास के पदों की जो अनुमानिक गणना की है, वह कम से कम है और प्रामाणिक आधार पर है, अतः उसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं है' (वही, पृ० १७३-७४)। डॉ० हरवंशलाल शर्मा भी उनसे सहमत हो गये और उन्होंने लिख दिया—'सूर ने अवश्य सवालाख के लगभग पदों की रचना की होगी'—('सूर और उनका साहित्य', पृ० ३७)। और किसी ने 'बंद' शब्द का नया अर्थ सुझाया। यह सूझ भी डॉ० हरवंश लाल शर्मा की है, जो लिखते हैं—'इस पद के पूर्वापर संबंध से लक्ष शब्द संख्यावाचक ही प्रतीत होता है, अतएव, हमारी समझ में इस पद का निर्वाह दो प्रकार से हो सकता है :—

१—'लक्ष-पद-बन्द' में लक्ष शब्द तो संख्यावाचक है ही परन्तु 'बंद' शब्द प्रत्येक पंक्ति का सूचक है। इस प्रकार एक लाख पंक्तियां दस सहस्र पदों से भी कम में आ सकती हैं और ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने अवश्य इतने पदों की रचना कर ली होगी। कवि की भावी पद-निर्माण-योजना का भी यह सूचक हो सकता है।

२—संभव है यह पद प्रक्षिप्त हो और बाद में ही किसी ने जोड़ दिया हो।

इसी प्रसंग में श्री कामताप्रसाद गुरु का यह कथन भी उद्धृत करने योग्य है—'संभवतः सूरदास जी के पदों की संख्या सवा लाख अनुष्ठुप् श्लोकों के बराबर होगी। इससे भ्रम से लोगों ने सवा लाख पदों की बात प्रचलित कर दी। ग्रंथ का विस्तार बताने के लिए प्राचीन काल से अनुष्ठुप् छंद एक प्रकार की नाप ही मान लिया गया है, (हिंदी व्याकरण, पृ० २१) गुरु जी का यह अवतरण सूर-साहित्य के किसी अध्येता ने अब तक उद्धृत नहीं किया है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उधर मीतल जी ने पूरे सामासिक-पद 'एक लच्छ पद-बंद' का अर्थ ही बदल दिया। उन्होंने बताया कि 'एक लच्छ' या 'एक लक्ष' के दो अर्थ हैं—पहला है 'उद्देश्य' और दूसरा 'भगवान श्रीकृष्ण'। प्रथम के अनुसार पूरे चरण का अर्थ होगा ('अपने गुरु वल्लभाचार्य जी से तत्व और लीला-भेद का रहस्य जानकर उन्होंने उसी) एक लक्ष्य से पद-बद्ध हरि लीला का गायन किया'—('सूर-सारावली', मीतल, भूमिका पृ० २१)। और द्वितीय के अनुसार अर्थ होगा—(श्रीवल्लभ गुरु ने सूरदास को भगवान श्रीकृष्ण की इन लीलाओं का तत्व सुनाकर उनका भेद बतलाया था।) उसी दिन से उन्होंने 'एक लक्ष' भगवान श्रीकृष्ण के पदों की वंदना कर जो लीलाएँ गाना आरम्भ किया, उनका सार उन्होंने 'सारावली' में आनन्दपूर्वक गाया है' (वही, पृ० २२)।

हमारी सम्मति में, ये सब खींचतान की बातें हैं। वस्तुतः 'सारावली' के रचयिता ने अन्वेषक की, दृष्टि से छानबीन करके नहीं 'वार्ता' आदि के उल्लेख—'सो तब सूरदास जी मन में विचारे जो मैं तो अपने मन में सवा लाख कीर्त्तन प्रकट करिवे को संकल्प कियो है, सो ता में तें लाख कीर्तन तो प्रकट भए हैं, सो भगवद् इच्छा तें पचीस हजार कीर्तन और प्रकट करने'–('अष्टसखान की वार्ता', कांकरोली, पृ० ९५)-और जनश्रुति की प्रसिद्धि को स्वीकार करके सूरदास द्वारा एक लाख 'पद' ('बंद' नहीं) रचे जाने की बात कही है और 'बंद' से उसका तात्पर्य 'राग' के नियमों के निर्वाह से है जिससे 'पद-बंद' का सीधा-सादा अर्थ हुआ—'पदबद्ध' अथवा 'गेयपद'; अस्तु।

जहाँ तक 'सारावली' की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का प्रश्न है, 'एक लच्छ पद बंद' के उक्त चारों अर्थों—१. एक लाख गेय पद, २. एक लाख पद-बंद, ३. एक लक्ष्य या उद्देश्य से पदबद्ध (हरि-लीला-गान) और ४. एक 'लक्ष्य' भगवान श्रीकृष्ण के पदों की वंदना में से कोई लिया जा सकता है; क्योंकि 'सारावली' में उक्त छंदों का जो वास्तविक तात्पर्य है, उसमें इन चारों से विशेष अंतर नहीं आता जैसा कि आगे दिये गए उनके अर्थ से स्पष्ट हो जायगा।

मतभेद का दूसरा कारण रहा है 'ताको सार' पद। अनेक आलोचक इसका अर्थ 'एक लाख का सार' मानते रहे हैं, और जब उन्हें उपलब्ध 'सूर-सागरों' की अनेक कथाएँ 'सारावली' में नहीं मलतीं, तब वे, इसी आधार पर, इसी कृति को अप्रामाणिक बताने लगते हैं। इस मतभेद को दूर करने के लिए 'ताको सार' का तात्पर्य 'हरि-लीला-सार' से लिया जाने लगा है और यही उचित भी है।

इस प्रकार, हमारी सम्मति में, 'सारावली' के उक्त दोनों छंदों का अर्थ इस प्रकार है—कर्म, योग, ज्ञान-उपासना या साधना आदि सभी भ्रम जिस कवि सूरदास को (पर्याप्त समय तक) भरमाते रहे, उसी को श्री वल्लभाचार्य जी ने तत्व और लीला—रहस्य बताया—समझाया (जिसको हृदयंगम करके कवि सूर ने) उसी दिन से एक लाख पदों या पद-बंदों में अथवा एक लक्ष्य से पदबद्ध होकर अथवा 'एक लक्ष्य' भगवान श्रीकृष्ण के पदों की वंदना करके हरि-लीला-गान किया। (कविवर सूरदास के) उस लीला-गान का सार 'सूर-सारावली' के नाम से (मैं अर्थात् 'सूर-सारावली' का रचयिता) बड़े आनन्द से गाता (लिखता) हूँ।

उक्त अर्थ में किसी प्रकार की खींचतान नहीं की गई है। इसकी जिस विशेषता की ओर



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सूर-साहित्य के समस्त आलोचकों का ध्यान हम आकृष्ट करना चाहते हैं, वह यह है कि उक्त चारों चरणों में से प्रथम तीन का संबंध अष्टछापी कवि सूरदास से है और चौथी पंक्ति की 'गावत' क्रिया का लुप्त कर्त्ता "हौं" (या 'मैं') उस कवि की ओर संकेत करता है जिसने कविवर सूरदास के लीला-गान का सार 'सूर-सारावली' के नाम से लिखा है। इससे स्पष्ट रूप से सूचित होता है कि 'सारावली' का रचयिता सूरदास से भिन्न कोई व्यक्ति है जो कभी अपने को 'मंदमति या लघुमति, दुरबल, बाल' लिखता है और कभी 'सरसठ बरस प्रबीन' लिखकर उसी का खंडन करता है और 'सरसठ बरस' का सम्बन्ध अष्टछापी कवि सूर से न होने के कारण उनके संबंध में निर्णीत संवतों से उसकी कोई असंगति बताने या उसके हटाने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'सरसठ बरस प्रबीन' वाला पद 'सारावली' में १००२ संख्यक है और 'सारगावत' वाला ११००३ संख्यक। दोनों उल्लेखों के बीच १०० छदों का व्यवधान भी उक्त निष्कर्ष की पुष्टि ही करता है।

'सारावली' की रचना में वह व्यक्ति क्यों प्रवृत्त हुआ, इसके दो अनुमान हो सकते हैं। पहला अनुमान विस्तार से इस प्रकार है—सरसठ वर्ष की लंबी आयु में वह व्यक्ति महाप्रभु बल्लभाचार्य के संपर्क में आया और उनकी प्रेरणा या कृपा से उसे 'निकुंज-लीला के दर्शन' हुए। अवस्था में वृद्ध उक्त व्यक्ति की भक्ति-भावना से संतुष्ट होकर महाप्रभु ने उसको अपने संप्रदाय के सबसे बड़े गायक के काव्य का पाठ या अनुशीलन करने की सलाह दी। स्वयं वह व्यक्ति कुछ कविता करता था अथवा सूरदास के प्राप्त काव्य से उसमें तत्संबंधी रुचि जाग्रत हो गयी, ये दोनों ही बातें संभव हैं। 'सारावली' से उसके शिक्षित होने का भी प्रमाण मिलता है। अतएव उसने सूरदास के प्राप्त काव्य का सार लेकर एक ऐसे ग्रंथ की रचना की जिसमें कहीं-कहीं सूरदास की शब्दावली भी अपना लेने में उसने कोई संकोच नहीं किया। अनेक ऐसे सांप्रदायिक-प्रसंग भी उसने 'सारावली' में पद-बद्ध कर दिए जिनको सूरदास ने संभवतः काव्योचित सरसता का अभाव देखकर अथवा वैसे ही अन्य किसी कारण से छोड़ दिया था।

दूसरा अनुमान यह होता है कि सरसठ वर्ष की अवस्था में महाप्रभु अथवा उनके अन्य किसी उत्तराधिकारी के प्रसाद से निकुंज-लीला का दर्शन करने के पश्चात् वह व्यक्ति संप्रदाय में सम्मान की दृष्टि से देखे जाने वाले 'सूरकाव्य' से परिचित हुआ। दर्शन के पश्चात् भी उसमें अर्थ-लोलुपता शेष रही। अतएव बल्लभ-संप्रदाय के किसी धनी-मानी व्यक्ति के लिए उसने 'सूरकाव्य' का एक ऐसा 'सार' प्रस्तुत करके प्रचुर अर्थ प्राप्त किया जिसका सामान्य रूप से नैतिक पारायण किया जा सके।

उद्देश्य दोनों व्यक्तियों का एक ही था और वह यह कि सूर-काव्य में वर्णित हरिलीला-सार तैयार हो; परन्तु प्रथम ने जहाँ स्वयं के लिए उस कार्य को हाथ में लिया, वहाँ दूसरे ने धनी-भक्तों को ठगने के लिए। कवि-प्रतिभा भी उसमें बहुत साधारण थी। यही कारण है कि 'सारावली' में सूर-काव्य की शब्दावली तक ज्यों की त्यों अपना ली गयी है और एक ही शब्द या वाक्यांश की अनेक अरुचिकर आवृत्तियाँ उसमें मिलती हैं। इस प्रकार 'सारावली' से 'सूर-काव्य' का तो सम्बन्ध है, परन्तु सूरदास का नहीं और वह एक सर्वथा अप्रामाणिक रचना है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर श्याममनोहर पांडेय

# बारहमासा की परम्परा और पद्मावत

मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में नागमती के विरह की तीव्रता दिखलाने के लिए बारहमासा का चित्रण किया है। यह बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है और जेठ मास तक चलता है। आषाढ़ आने पर आकाश में काले बादल घिर आते हैं और नागमती के हृदय में विरह की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है।[1] श्रावण में मेघ जल की वर्षा करते हैं पर नागमती विरह में सूखने लगती है।[2] भाद्रपद की रात में प्रियतम रतनसेन के अभाव में उसकी रात नहीं कट पाती। शैया नाग बनकर डस रही है।[3] बिजली की कौंध तथा मेघों की गर्जन में वियोग काल बन गया है। इसी प्रकार कुआर, कार्तिक, अगहन, पूस; माघ, फागुन, चैत, बैसाख, जेठ सभी महीने नागमती को पीड़ित कर रहे हैं।[4]

जायसी के परवर्ती सूफी कवि मंझन तथा उसमान ने भी बारहमासा का चित्रण किया है किन्तु मंझन का बारहमासा श्रावण से प्रारम्भ होता है[5] तथा उसमान का बारहमासा चैत से प्रारम्भ होता है।[6]

भारतीय साहित्य में बारहमासा की रचना सर्वप्रथम १३वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई बताई जाती है और कदाचित् इस परम्परा की सर्वप्रथम रचना जिणधम्मसूरि कृत बारह-

---

१. चढ़ा आसाढ़ गँगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा।।
पद्मावत--छंद ३४४

२. सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि भरइ हौं बिरह झुरानी।।
वही--छंद ३४५

३. भर भादौं दूभर अति भारी। कैसें भरौं रैनि अँधियारी।
वही--छंद ३४६

४. पद्मावत, छंद ३४७ से ३५६ तक।

५. मंझन कृत मधुमालती--सम्पादक डॉ० शिवगोपाल मिश्र, पृ० १२०, १२१, १२२, १२३।

६. उसमान कवि कृत चित्रावली--सम्पादक श्री जगन्मोहन वर्मा, पृष्ठ १६९, १७०, १७१, १७२, १७३।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नावउं है।[१] 'हिन्दी अनुशीलन' संवत् २०१० के, अंक ४, (पौष-फाल्गुन) में श्री अगरचन्द नाहटा ने 'बारहमासा की प्राचीन परम्परा' शीर्षक एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने कहा है "कि अभी तक प्राप्त बारहमासों में अपभ्रंश की यह रचना सबसे प्राचीन है। ... इस रचना में जिन धर्मसूरि की स्तुति की गई है, वे बड़े प्रभावक आचार्य थे। सांकाभरि के अज्ञयपाल और विग्रहराज इनके भक्त थे। विग्रहराज ने तो इनके उपदेश से जैनमंदिर भी बनवाया था। यह पाटन भंडार में उपर्युक्त धर्मसूरि स्तुति से पूर्व रविप्रभ सूरि रचित धर्मशेष सूरि स्तुति प्रकाशित हुई है, इससे स्पष्ट है। अतएव इस बारहनाउं की रचना १३वीं शताब्दी का प्रारम्भ सुनिश्चित है और इससे बारहमासा संज्ञक भाषा काव्यों की रचना ८०० वर्ष पुरानी सिद्ध होती है।[२]

'बारहनावउं' श्रावण मास से प्रारम्भ होता है और आषाढ़ तक चलता है। इसका प्रारम्भिक और अंतिम अंश नीचे दिया जा रहा है:

**तिहुयण मणि चूड़ामणिहिं, बारहनाउं धम-सुरि-नाहह**
**निसुणहु सुयणहु नाण सणाहह पहिलउं सावण सिरिफुरिय**
**कुवलय दल सामण घणु गज्जइ नं मद्दल-मंडल झुणि छज्जइ**
**विज्जु लड़ी सबकिहिं लवइ।**[३]

× × ×

**माणिणि माण भहंतु मयगव मउ मोडिवि**
**सहि मंडालि वण पत्तु आसाढ़ सुकेसरि**
**मेहड़लइ नवि गयणि घुड़क्कइ पसरिउ**
**इंदुधणहु फुउफारू**
**किउ विज्जुलिय तरल झलकारू।**[४]

इस परम्परा की दूसरी रचना विनयचन्द्र सूरि कृत "नेमिनाथ चतुष्पदिका" है। "कुछ स्थानों पर इसका रचनाकाल संवत् १३५३ मिलता है। कहीं संवत् १३५८ मिलता है। श्रीदलाल इसका रचनाकाल संवत् १३५८ ही मानते हैं। श्री मुनि जिनविजय जी का विचार है कि यह रचना संवत् १३३८ की है। श्री स्वामी नरोत्तमदास जी इसे संवत् १३२५ का मानते

----------

१. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६, अंक ४, पृष्ठ ४०
२. वही, पृष्ठ ४०
३. वही, पृष्ठ ४३
४. वही, पृष्ठ ४६



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हैं।"[१] अतः सभी विद्वान् इस रचना का काल १४०० शताब्दी ईस्वी पूर्व का ही स्वीकार करते हैं, इसमें संदेह नहीं रह जाता।

"नेमिनाथ चतुष्पदिका" का प्रारम्भ श्रावण से होता है और अन्त आषाढ़ में होता है। उसका प्रारम्भ और अन्त नीचे दिया जा रहा है:—

सोहग-सुंदरु घण-लायणु सुमरवि सामिउ सामल वन्नु।
सखि-पति राजल-चढ़ि उत्तरिय बारमास सुणि जिम पज्जरिव॥

नेमि-कुमरु सुमरवि गिरनारि।
सिद्धी राजल-कन्न कुमारि॥

श्रावणि सरवणि कडुयं मेहु, गज्जइ, विरहि रि! झिज्भइ देहु।
विज्ज् झबक्कइ रक्खसिजेब नेमिहिविणु सहि सहियइकेमं॥[२]
आषाढ़ह दिढ् हियउँ करेवि गज्जु विज्जु सवि अवगन्नेवि।
भणइ वदणु उग्रसेणहजाय करिसु धम्मु सेविसु प्रिय पाय॥[३]

'नेमिनाथ चतुष्पदिका' में बारहमासा आषाढ़ में समाप्त तो हो जाता है पर उसके बाद कवि अधिकमास का भी चित्रण करता है।

अधिक मासु सवि मासहि फिरइ, छह रितु केरा गुण अणुहरइ।
मिलिवा प्रिय अबाहुलि हूय, सउमुकलाविउ उग्रसेण-धूय॥[४]

संवत् १४०० के आसपास की रचना[५] "बीसलदेव रास" में भी बारहमास आता है किन्तु यह बारहमासा कार्तिक से प्रारम्भ होता है और क्वार तक चलता है। बारहमासा का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

चालियउ उलगाणउ कातिग मास
छोड़ीया मंदिर घर कविलास।
छोड़ीया चउबारा चउषंडी,
तठइ पंथि सिरिनयण गमाइयारोइ

---

१. हिन्दुस्तानी, भाग २० (१९५९ जनवरी-मार्च), अंक १ में प्रकाशित श्रीहरिशंकर शर्मा का लेख।

२. नेमिनाथ चतुष्पदिका, छंद २, सम्पादक, डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी, श्री थार्नस गुजराती सभा ग्रंथावलि, ६१, बंबई ४, १९५५

३. वही, छंद ३५

४. वही, छंद ३८

५. देखिए, बीसलदेव रास की भूमिका, डा० माताप्रसाद गुप्त।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भूष गई त्रिस अचरी।
कहि न सषीय नींद किसी परिहोइ।[१]

बारहमासा का अंतिम छंद इस प्रकार है :—

आसोजइ घण मंडिया आस।
मांडिया मंदिर घर कविलास।
धउलिया चउबारा चउखंडी
साधण धउलिया पउलि पगार।
गउष चडी हरषी फिरइ
जउ घर आविस्यइ मुंध भरतार।[२]

जायसी के पूर्व की एक अन्य रचना गणपति कवि कृत 'माधवानलकामकंदला' प्रबंध में, जिसका रचनाकाल संवत् १५८४ है, बारहमासा के दो प्रसंग आये हैं। दोनों बारहमासे फाल्गुन से प्रारम्भ होते हैं और चैत्र तक चलते हैं। नायिका कामकंदला के विरह के प्रसंग में जो बारहमासा है उसका प्रारम्भ इस प्रकार है—

कलि ज बहु क्रीड़ा करी, आज तिजावीं आस।
माधव मुंझ मूंकी गयु, फटि रे फागुण मास।।[३]

इसके अंतिम अंश का एक छंद इस प्रकार है—

बाहिरि सीतल थिउ सिरइ, अंतरि पाड़इ दाघ।
माधव-पाखइ मूंहनइं, मरण-सरिखु माघ।।[४]

एक अन्य काव्य मैनासत में, जिसका समय संभवतः १५०० ई० के आसपास है,[५] बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है। डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है कि मैनासत पहले मुल्ला दाऊद कृत चन्दायन का एक अंग था।[६] 'मैनासत' में बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है और ज्येष्ठ तक चलता है। प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है :—

रितु अषाढ़ बरखै पयसारा। सब कोहू घर बार संभारा।।
दीप गये सो आबन हारा। तेरौ कंथ न देखूं बारा।।[७]

---

१. बीसलदेव रास, छंद ६७
२. बीसलदेव रास, छंद ७८
३. माधवानलकामकंदला, प्रबंध—पृष्ठ २०३
४. वही, पृष्ठ २१४
५. मैनासत—सम्पादक श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, भूमिका, पृष्ठ ८८
६. देखिये, प्राचीन हिन्दी काव्यों में पूरक कृतित्व, भाग २०, अंक १
७. मैनासत—श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, पृष्ठ १७९



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



बारहमासा का अंतिम अंश इस प्रकार है :—

जेठ मास रवि किरण पसारी। टूटत धरती परत अंगारी॥
धरनि आग पाटी परसारी। घातपात जरबर भये छारी॥
काया बन लागी दौ भारी। तोहि परिहर गयौ कंत पियारौ॥
अंग न सीतल मानै जेही। अधिकौ बिरह होइ है तेही॥[1]

पद्मावत में नागमती का विरह दिखाने के लिए बारहमासा का विधान किया गया है। वह रतनसेन की प्रथम विवाहिता है किन्तु वह उसे छोड़कर पद्मावती की खोज में निकल पड़ता है, अतः उसमें प्रथम विवाहिता होने का गर्व तथा पति के पुनर्मिलन की आशा बनी हुई है। आषाढ़ में जब आकाश काली घटाओं से घिर उठता है, वह विरहविकल हो उठती है। जायसी के पूर्व के जिन कवियों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें दो कवियों का बारहमासा श्रावण से प्रारम्भ होता है। बीसलदेव रास में बारहमासा कार्तिक से प्रारम्भ किया गया है। जायसी के पूर्व का 'मैनासत' ही केवल एक काव्य ऐसा प्राप्त होता है जिसमें बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है।

विनयचन्द्र सूरि की नायिका राजल का विरह एक अविवाहिता का विरह है। नेमिनाथ से उसका प्रारम्भ में विवाह नहीं हो पाता किन्तु उसको पति के रूप में स्वीकार कर वह विरह में संतप्त रहती है। उसकी सखी चाहती है कि राजल नेमिनाथ से विमुख हो जाये पर उसका प्रयास विफल होता है। बीसलदेव रास में नायिका राजमती विवाहिता है और उसकी ही गलतियों से बीसलदेव परदेस जाता है, फिर भी नायिका तड़प उठती है और बारह महीने उसको सताने लगते हैं। सम्भवतः बीसलदेव रास का बारहमासा पहला बारहमासा है जिसका प्रारम्भ कार्तिक से हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने एक लेख में यह उल्लेख किया है कि जैन परम्परा में १२ महीनों में से किसी कवि ने चैत्र से, किसी ने आषाढ़ से, श्रावण से, किसी ने वैशाख व मृगशीर्ष से तो किसी ने कार्तिक और फाल्गुन से प्रारम्भ किया है।[2] किन्तु कार्तिक से प्रारम्भ होने वाला कोई अन्य बारहमासा अभी प्रकाश में नहीं आ सका है। वैसे लोक परम्परा में ऐसे बारहमासे हैं जो कार्तिक से प्रारम्भ होते हैं।[3] माधवानलकामकंदला प्रबंध की नायिका एक वेश्या है फिर भी उसके हृदय में नायक माधव के प्रति उतनी ही तड़प है जितनी एक सहज नारी में हो सकती है। यह बारहमासा फाल्गुन से प्रारम्भ होता है।

जायसी के बारहमासा की एक निजी विशेषता है। इसमें वर्णन का विस्तार है। अतः नायिका की विरह वेदना बहुत ही प्रखर रूप में पाठकों के समक्ष आती है। नागमती में एक सहज और प्रकृत नारी के निश्छल भाव देखे जा सकते हैं। वह कहती है "पट्ट महादेवी हृदय न

---

१. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६ अंक १
२. कविता कौमुदी, भाग ३, पृष्ठ ७०५, ७११
३. भोजपुरी ग्रामगीत, पृष्ठ १८२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हारो। जी में समझो और अपनी चेतना बटोर कर रखो। भ्रमर कमल के साथ है पर वह पराया न होगा। स्मरण कर वह फिर मालती पर आयेगा[१]"

संस्कृत साहित्य में बारहमासा प्राप्त नहीं होता। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में चार ऋतुओं, वसन्त, वर्षा, शरद्, हेमन्त का चित्रण भिन्न-भिन्न प्रसंगों में किया है। पंपासर के निकट राम और लक्ष्मण वसन्त की शोभा निरखते हैं। वर्षाऋतु का प्रसंग दशरथ के मृगया के समय उपस्थित किया गया है। शरद का प्रसंग उस समय आया है जब राम ऋष्यमूक पर्वत पर शरद् की शोभा देख रहे हैं। फिर राम-सीता गोदावरी तट पर हेमन्त में वार्तालाप करते हुए चित्रित किये गये हैं।

कालिदास ने ऋतुसंहार में षट्ऋतुओं का वर्णन किया है। यह वर्णन ग्रीष्म से प्रारम्भ होता है और वसन्त तक चलता है।[२] माघकृत 'शिशुपाल वध' में षट्ऋतु वर्णन वसन्त से प्रारम्भ होता है।[३] कवि ने वसन्त का वर्णन विस्तार से किया है, अन्य ऋतुओं का वर्णन संक्षिप्त है। ग्रीष्म का वर्णन तो अत्यन्त संक्षेप में हुआ है। महाकवि माघ ने श्रीकृष्ण के रैवतक पर्वत के विहार की पृष्ठभूमि में षट्ऋतुओं का वर्णन किया है। अतः यह एक भिन्न प्रकार का ऋतुवर्णन है।

अपभ्रंश में दोनों परम्पराएँ प्राप्त होने लगती हैं। अब्दुलरहमान कृत 'संदेशरासक' में षट्ऋतु वर्णन ग्रीष्म से प्रारम्भ होता है और विरहिणी के हृदय की करुण पुकार इस ऋतुवर्णन में सुनी जा सकती है।[४] अपभ्रंश में बारहमासा की भी पम्परा चल पड़ी। संभवतः लोक परम्परा से बारहमासा ग्रहण किये गये। जैन कवियों ने लोककथाएँ और लोकपरम्पराओं का आश्रय लेकर अपने मतों का प्रचार किया। अतः लोक प्रचलित बारहमासे को ग्रहण कर लेना कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। संस्कृत की परम्परा में बारहमासा नहीं प्राप्त होता और लोक में आज भी बारहमासे प्राप्त होते हैं और केवल हिन्दी क्षेत्र में ही नहीं, बंगला, मराठी, गुजराती आदि में भी प्राप्त होते हैं। अतः यह सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन कवियों ने बारहमासा लोक परम्परा से ही ग्रहण किया होगा।

मलिक मुहम्मद जायसी ने भी लोक परम्परा से ही बारहमासा लिया होगा। अवधी और भोजपुरी क्षेत्र में आज भी बारहमासे प्रचलित हैं। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने ग्रामगीत में

---

१. पाट महादेइ हिएँ न हारू। समुझि जीउ चित चेतु सँभारू॥
भँवर कँवल सँग होइ न परावा। संवरि नेह मालति पहँ आवा॥
पद्मावत--छंद ३४३

२. कालिदास ग्रंथावली, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, पृष्ठ ३१२, संवत् २००१

३. माघ कृत शिशुपालवध महाकाव्य, अनुवादक, श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, पृष्ठ १४८ से १५४ तक

४. संदेशरासक, तृतीय प्रकरणा, छंद १३०. से २२३ तक, हिन्दी ग्रंथागार, बम्बई।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



बारहमासों का संग्रह किया है जिसमें चार बारहमासे आषाढ़ से प्रारम्भ होते हैं। दो बारहमासे कार्तिक से प्रारम्भ होते हैं और एक चैत से प्रारम्भ होता है।[1] डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने 'भोजपुरी ग्रामगीत' के अन्तर्गत १५ बारहमासों को संग्रहीत किया है, जिनमें आठ बारहमासे आषाढ़ से प्रारम्भ होते हैं।[2] इससे विदित होता है कि बारहमासा को आषाढ़ से प्रारम्भ करने की प्रवृत्ति लोककवियों में अधिक रही है। जायसी ने भी आषाढ़ से बारहमासा प्रारम्भ कर अपनी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। कालिदास के यक्ष की तड़पन भी आषाढ़ में ही प्रारम्भ होती है। जायसी के पूर्व के किसी फारसी कवि ने बारहमासा का चित्रण नहीं किया है। निज़ामी और ज़ाकी तो अभारतीय कवि थे, भारतीय कवि अमीरखुसरो ने भी ऋतुवर्णन के अन्तर्गत न तो षट्-ऋतुओं को ही लिया है और न बारहमासा को ही। सच बात तो यह है कि फारसी कवियों में ऋतुवर्णन की कोई ऐसी परम्परा नहीं है जैसी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या हिन्दी साहित्य में है। अतः सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि जायसी ने बारहमासा की परम्परा भारतीय लोकजीवन और साहित्य से ग्रहण की है और वर्णन का विस्तार तथा कल्पनाओं में अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

---

१. कविता कौमुदी, तृतीय भाग, संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ ७०२ से ७१७ तक।

२. भोजपुरी ग्रामगीत; पृष्ठ १८० से २१३ तक।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर आशा गुप्ता

# अभिव्यंजना के मूलतत्व

'सम्मेलन पत्रिका' के भाग ४६ अंक २ 'काव्य में अभिव्यंजना' शीर्षक लेख में अभिव्यंजना के जिन उपादानों--रूप (फ़ॉर्म) तथा वस्तु (कंटेंट) की विवेचना करके उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थिर किया गया, वे वस्तुतः, उसके आभ्यन्तर-अंग हैं। अब हमें भावाभिव्यंजन के पोषक उन समान वाह्य तत्वों का निरूपण करना है जिनकी सहायता से सत्साहित्य के कलापक्ष का निर्माण होता है।

प्रयोग भेद पर आश्रित अभिव्यक्ति का स्थूल वर्गीकरण करते समय सामान्य प्रकाशन-पद्धति एवं कवि-अभिव्यंजना-व्यापार का तात्विक अन्तर भी स्पष्ट किया जा चुका है। हम दिखा आये हैं कि सामान्य अभिव्यक्ति अभीष्ट अर्थ को श्रोता अथवा पाठक तक प्रेषित करने तक ही सीमित रहती है। साधारणतः मनुष्य स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करते समय भाषागत सौन्दर्य पर अधिक ध्यान नहीं देता क्योंकि उसका प्रयोजन केवल इतना होता है कि सुनने वाले को उसका अभिप्राय भलीभाँति अवगत हो जाय। परन्तु कवि कलात्मक अभिव्यंजना-द्वारा भाव के साथ भाषा पर भी उतना ही ध्यान रखता है। कारण यह है कि उसकी अभिव्यक्ति का प्रयोजन उसके स्वानुभव को दूसरे के हृदय की सम्पत्ति बनाना होता है। अतएव भाषा की प्रेषणीयता के साथ उक्ति में रमणीयता तथा प्रभावोत्पादकता लाने के प्रयत्न में भी वह उतना ही जागरूक रहता है। इस हेतु वह भाषा के प्रमुख तत्व-शब्द का आलोड़न करता है, उसके गुण, धर्म, शक्ति तथा अन्य विशेषताओं को परखता है, वाणी में गेयता का चमत्कार लाने के लिये शब्दालंकारों, प्रतीकों, वृत्तियों आदि की योजना करता है और भाव-चित्र उपस्थित करने के लिये अप्रस्तुत का उपयोग करता है। इस प्रकार वह उपर्युक्त शब्द-चयन से प्रसाद आदि गुण, विशिष्ट वाक्य विन्यास तथा शब्द शक्तियों से वक्रता, अलंकारों से मूर्तिमत्ता एवं सजीवता तथा रीतियों की सहायता से रसानुकूल मर्मस्पर्शिता का विधान करने में सफल होता है। दूसरे शब्दों में वह, 'बेस्ट वर्ड्स इन द बेस्ट आर्डर' (श्रेष्ठतम क्रम में श्रेष्ठतम शब्द-योजना) का आकांक्षी रहता है। कदाचित् उक्ति की यही विशिष्टता, भाषा की यही रमणीयता पाठक के हृदय में रसोन्मेष का कारण होती है।

**अभिव्यंजना की विविधता** :--हम नित्य देखते हैं कि एक देश और एक जाति के ही नहीं वरन् एक परिवार के व्यक्ति भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यह पारस्परिक भिन्नता केवल वाह्य ही नहीं अपितु अभ्यन्तर भी होती है। अतएव आकार-प्रकार, रूप-रंग इत्यादि वाह्य विभिन्नता के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति की रुचि-अरुचि, अनुरक्ति-विरक्ति, प्रेम-घृणा आदि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हृद्गत-वृत्तियों में भी सहज अन्तर लक्षित होता है।' "भिन्न रुचिर्हि लोकः" का यही तात्पर्य है कि वाह्य जगत् के सम्पर्क से उद्भूत मानस-पटल पर अंकित भावनाएं या अनुभूतियां प्रत्येक हृदय में विभिन्न आकार ग्रहण करती हैं। उनकी तीव्रता, संकुलता तथा व्यापकता में भी भाषा का भेद रहता है। इस वैचित्र्य-नियम के अनुसार अभिव्यंजना-प्रणाली में वैविध्य भी स्वाभाविक है। तो भी सुविधा के लिए वाह्य उपादानों की इस विविधता को कतिपय स्थूल तत्वों के अन्तर्गत एकता के सूत्र में आवद्ध किया जा सकता है। शब्द सम्बन्धी अभिव्यंजना तत्व शब्द, ध्वनि, वाक्य, रीति, वृत्ति, शब्दालंकार आदि हैं तथा अर्थ सम्बन्धी उपकरणों में शब्द-शक्तियाँ, अर्थालंकार आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं।

इस प्रकार स्थूलतः अभिव्यंजना के उपादान निम्नलिखित हैं, जिनका क्रम से संक्षिप्त विवेचन हम आगे करेंगे—

- (क) भाषा
  - शब्द कोश
  - वाक्य विन्यास
- (ख) अलंकरण
  - (१) शब्दालंकार
  - (२) अर्थालंकार
- (ग) शब्द-शक्ति
- (घ) गुण, रीति, वृत्ति आदि

**शब्दकोश**—रचना का सबसे बड़ा आधार और साधन 'शब्द' है। किसी काव्य की सुन्दरता अथवा कुरूपता शब्द पर निर्भर है क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ चिर-सम्पृक्त या अभिन्न कहे गये हैं। मम्मट ने कहा है, "साक्षात् संकेतितयोऽर्थमभिधत्ते स वाचकः" अर्थात्, जो साक्षात् संकेतिक अर्थ का वोधक होता है वह वाचक शब्द है। यह संकेत-ग्रहण व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार आदि अनेक कारणों से बताया गया है। अतः यदि शब्द कवि के भावों को व्यक्त नहीं करते तो उनका अर्थ-संकेत दूषित है और अर्थ-संकेत से उपयुक्त शब्द न हों तो शब्द दूषित है। इसलिए लेखक के व्यवहार्य शब्द-कोष से हमारा अभिप्राय उन शब्दों से है जिनका उपयोग कलाकार अनुभूति के अनुरूप अर्थात् अभिप्रेत अर्थ के व्यंजनार्थ स्वच्छन्दता से कर सके; और यह तभी सम्भव है जब कवि की शब्द राशि अपरिमित हो। डा० श्याममुन्दरदास ने इस विषय में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, "यह आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द भांडार बहुत प्रचुर हो, और उसे इस वात का भलीभाँति स्मरण रहे कि मेरे भांडार में कौन-कौन से रत्न कहां रखे हैं जिनमें प्रयोजन पड़ते ही उन रत्नों को निकाल सकूं।"[1] पाश्चात्य विद्वान् भी समृद्ध शब्दराशि की अनिवार्यता के कायल हैं। आलोचक वाल्टर रेले 'स्टाइल' शीर्षक

---

१. साहित्यालोचन, पृ० ३०५



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लेख में प्रकारान्तर से इसे स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि, 'शब्द दो मानस-जगत् के मध्य क्रियाशील प्रतीक है। अतएव प्रयोक्ता शब्द चयन करते समय भोक्ता के मानस पर पड़ने वाले शब्द के प्रभावोत्पादक गुण की उपेक्षा नहीं कर सकता।'[1] शब्द की इस महत्ता का एक कारण है। शब्द अनन्त हैं। वे तदर्थक भी होते हैं और पर्याय भी; अर्थात् अनेक शब्द एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं अथवा एक शब्द अनेक अर्थों की प्रतीति भी करा सकता है। रुद्रट कहते हैं कि काव्य में अनेक प्रकार के अर्थवान् शब्द होते हैं।[2] परन्तु यह जरूर है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ से वाच्य-वाचक सम्बन्ध रहता है। इसका कारण यह है कि एक शब्द के अनेक अर्थ अथवा अनेक शब्दों का एक अर्थ रहते हुए भी, जो शब्द (प्रसंगवश) विवक्षित अर्थ का ठीक बोध कराये, कवि के लिए वही शब्द सार्थक है और अर्थ वही है जो स्वयं सुन्दर हो और सहृदय का हृदयाह्लादक हो।[3]

अतएव कवि के लिये अनिवार्य है कि वह शब्द के अन्तर में निहित विभिन्न तथा सूक्ष्मतम अर्थों का अध्ययन करे, उनके प्रवृत्ति-निमित्त भेद को समझे तथा अभिलषित अर्थ-प्रतीति कराने वाले शब्द का ही उपयोग करे। उदाहरणार्थ श्रीकृष्ण के गिरिधर, गोपीनाथ, राधावल्लभ, मुरलीधर, मुरारी, घनश्याम, गोविन्द इत्यादि अनेक नाम प्राप्त हैं। किन्तु कवि के लिये प्रत्येक पर्याय में वैभिन्य है क्योंकि इन सब शब्दों में गुण-भेद है। 'गिरिधर' पर्वत को अंगुली पर धारण करने वाला शक्तिशाली यशोदा पुत्र है। 'गोपीनाथ' वृन्दावन में गोपिकाओं के साथ रास रचाने वाला है। राधावल्लभ से राधा के प्रियतम का भाव मुखरित हो उठता है। तात्पर्य यह है यहाँ लेखक के शब्द-सामर्थ्य के विवेकपूर्ण अध्ययन पर निर्भर सम्यक् शब्द के प्रयोग की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। महाभाष्यकार ने भी कहा है कि, 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गं लोके च कामधुग्भवति'[4]—अर्थात्, एक शब्द का यदि सम्यक् ज्ञान हो जाये और सुन्दर रूप से उसका प्रयोग किया जाये तो वह शब्द, लोक और परलोक, दोनों में अभिमत फल का दाता होता है। वस्तुतः यही शब्द-ज्ञान कलाकार को सामान्य मनुष्य की कोटि से निकाल कर विशिष्ट-कोटि में स्थान देता है। पाश्चात्य आलोचक वाल्टर रेले के शब्दों में—"जहाँ मंद बुद्धि तद्रूपता के सिवाय और कुछ नहीं देखती वहां प्रशिक्षित निपुणता (शब्दों में) ऐसी सैकड़ों विभिन्नताएं चीन्ह लेती हैं जो सूक्ष्म अभिव्यंजना के प्राण हैं।"[5]

---

१. A word is the operative symbol of relation between two minds and is chosen by the one not without regard to the quality of the effect actually produced upon the other—P. 66, "Style"—by Walter Raleigh. [rd 1916]

२. शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः—रुद्रट

३. शब्दो विवक्षितार्थैक वाचकेऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः॥ —वक्रोक्तिजीवितम्।

४. महाभाष्य।

५. "Where a dull eye sees nothing but sameness, the trained



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा कि संचित शब्द-राशि का केवल तत्सम अथवा तद्भव बहुला होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। साथ ही केवल समस्त पदावली या केवल असमस्त शब्द भी किसी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती। शब्द चाहे तत्सम हो अथवा तद्भव, समासयुक्त हो अथवा समासहीन, उसका प्रसंगानुकूल और बोधगम्य होना ही सबसे महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि उक्ति में प्रसादता न तद्भव शब्दों के संयोग से आती है और न भाषा सौन्दर्य की अभिवृद्धि तत्सम-प्राचुर्य पर आश्रित है। तत्सम और तद्भव बहुला भाषा के निम्नलिखित दो उदाहरण इसके प्रमाण हैं:—

(क) प्रसादिनी पुष्प सुगंध-वर्द्धिनी।
विकासिनी वेलि लता विनोदिनी॥
अलौकिका थीं मलयानिली क्रिया।
विमोहिनी पादप पंक्ति-मोदिनी॥—हरिऔध

(ख) चाँदी की चाँदनी, धूप में जात रूप लहराया,
तेरा दिया राम, सब पावें, जैसा मैंने पाया॥
—मैथिलीशरण गुप्त

वस्तुत: लेखक की अभिव्यक्ति की सफलता, अभीष्ट अर्थ की व्यंजकता, उक्ति की प्राणवत्ता, समर्थ, उचित एवं सुष्ठु शब्द-प्रयोग पर आश्रित है। शब्द चाहे तत्सम हों अथवा तद्भव, सशक्त हों अथवा अशक्त, निश्चित हों या अनिश्चित, प्रतीकात्मक हों या बिम्बात्मक, सबका भाषा में समान महत्व है। सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में, "प्रत्येक शब्द का स्वतंत्र हृत्स्पन्दन, स्वतंत्र अंगभंगी और स्वाभाविक साँसें हैं।" पाश्चात्य आलोचक हरबर्ट रीड भी कहते हैं कि, "अच्छा लेखक शब्दों का प्रयोग, शब्द की निरुक्ति, परम्परा तथा पांडित्यपूर्ण उपयोग में नहीं देखता। वह तो अर्थ के सीमित बन्धों में विशिष्ट शब्द-वर्ण में निहित उसकी प्रेषण शक्ति को परखता है।"[१]

सुन्दर शब्द मैत्री, शब्द के सुष्ठु वर्ण-विन्यास तथा उसकी बिम्बात्मक शक्ति के आश्रित होती है। वर्ण-विन्यास से हमारा तात्पर्य श्रुति-सुखद शब्दों से है। क्योंकि सुवर्ण विन्यासवर्ती भाषा नाद-सौन्दर्य विधायक होती है। नाद-सौन्दर्य के साधन हैं छन्द, तुक, लय, गति इत्यादि।

---

faculty of observation will discern a hundred differences worthy of scrupulous expression"—P. 46–Style—Walter Raleigh [rd 1916]

१. A good writer does not select his word by virtue of any pedantic leaning to this or that theory of their origin and proper use but, within the limits of accepted meaning is governed by the due measure of expressiveness implied in the syllables of a particular word—P. 5–"English Prose Style"—H. Reade.



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इनसे कविता में गेयता तथा संगीतात्मकता का समावेश होता है और शाश्वत कविता के प्राण पुलकित हो उठते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में वर्ण-योजना के आधार पर निर्मित ध्वनि-चित्र द्रष्टव्य हैं --

झूम झूम मृदु गरज गरज घनघोर,
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।
झर झर झर निर्झर गिरि सर में,
घर मरु तरु मर्मर सागर में।।--निराला

अभिव्यंजना की सौन्दर्य-वृद्धि में शब्द का दूसरा विधायक गुण उसकी चित्रमयता है। नादात्मक एवं बिम्बात्मक सौन्दर्य के समवाय से उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि होती है। शब्द की बिम्बात्मक शक्ति की योग्यता, उपयुक्तता एवं प्रेषणीयता अनिवार्य धर्म हैं। सुन्दर श्रुति-सुखद वर्ण-योजना के साथ प्रसंगानुकूल शब्द-चयन द्वारा उपस्थित चित्र देखिए :--

मृदु मंद मंद मंथर मंथर,
लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर।
तिर रही खोल पालों के स्वर,
लो पालें चढ़ीं, उठा लंगर।।--पंत

उद्धृत पदांश में चित्र-भाषा के सब गुण वर्तमान हैं। श्री सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में इसके शब्द सस्वर हैं, सेब की तरह इनकी मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण झलक रही है।

इस प्रकार की शब्द योजना कितनी श्रम-साध्य होती है यह वाल्टर रेले के शब्दों में स्पष्ट है--"जिन्होंने जागरूक एवं सतर्क होकर लिखने की कला का अभ्यास किया है उन्हें ज्ञात है कि स्वर-ताल-हीन अथवा अनफ़िटपदावली से बचना कितना कष्टसाध्य है। नाना-अभिव्यंजनाओं में (कलाकार द्वारा) अर्थ या आशय की श्रमपूर्वक जाँच की जाती है, शब्द के स्वरूप तथा विकारों का अध्ययन किया जाता है और तब कहीं (भावों को) शब्द रूप प्राप्त होता है।"[1]

**वाक्य विन्यास**--१. शब्दों से वाक्य बनता है। अतः शब्दों के समान ही काव्य में वाक्य की भी महत्ता है। क्योंकि किसी भी पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति वाक्य द्वारा ही सम्भव है। साधारणतः जब हम वाक्य के स्थान पर किसी एक शब्द का प्रयोग करते हैं (जैसे कौन?

---

१. All who have consciously practised the art of writing know what endless and painful vigilance is needed for the avoidance of the unfit or untuneful phrases how the meaning must be tossed from expression to expression; mutilated and deceived ere it can find rest in words --P. 16. "Style"--Walter Raleigh.



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तुम !, लाओ, इत्यादि) वहां प्रसिद्धि के आधार पर क्रिया या कर्म का आक्षेप कर लिया जाता है। पतंजलि ने महाभाष्य में तथा स्फोटवादियों ने भी कहा है कि 'व्यवहार की सरलता के लिए यद्यपि शब्द, प्रकृति, प्रत्यय आदि कल्पित कर लिए गये हैं तथापि वाक्य में अर्थ बोधकता होने के कारण भाषा का चरमावयव वाक्य ही है।'[1] इसलिये आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक भी वाक्य को बहुत महत्व देते हैं।

'साहित्य दर्पणकार' विश्वनाथ ने वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'उस उच्चरित्र अथवा अनुमित पद समूह का नाम वाक्य है जो परस्पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त होकर किसी एक अर्थ का बोध कराने में समर्थ हो।' पदार्थों के परस्पर अन्वय में अड़चन न होना योग्यता है। वाक्यार्थ पूरा करने के लिए अन्यान्य पदों की अपेक्षा रहना आकांक्षा कहलाता है तथा क्रम से एक पद के बाद दूसरे पद के सुनते समय सम्बन्ध ज्ञान का बना रहना आसक्ति है। पाश्चात्यों ने भी वाक्य में आकार, लय, तुक तथा विन्यास की अन्विति का यथोचित बना रहना अनिवार्य बताया है।[2]

२. वाक्य में दूसरा महत्व पद-स्थापन को दिया गया है क्योंकि पदों का विशेष क्रम ही तो वाक्य है।[3] उपयुक्त पद यदि उपयुक्त स्थान पर न रखे जाएं तो वाक्य शिथिल ही नहीं हो जाता अपितु उसकी प्रभावोत्पादकता एवं अर्थ-प्रतीति में भी बाधा उपस्थित हो जाती है। यों तो पद्य में गद्य की तरह उद्देश्य और विधेय का कोई विशेष क्रम पालन नहीं किया जाता। कारण यह है कि कुशल वर्णन ही कवि का लक्ष्य होता है। अतएव उसे इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह विषयानुकूल पदों का क्रम इस प्रकार रखे कि मुख्य भाव मुखरित हो उठे। इसके लिये वह आवश्यकतानुसार उद्देश्य–विधेय आदि का क्रम परिवर्तित कर लेता है। फिर भी यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि ऐसा क्रम परिवर्तन काम्य नहीं होता जिससे अर्थ का अनर्थ हो जाये अथवा कविता का रस-भंग हो, यथा :—

**मेरे जीवन की एक प्यास होकर सिकता में एक बूंद**
**छोड़ चन्द्र अलि ! गगन में उदय होत अब मान**

रेखांकित शब्दों में क्रम-भंग होने के कारण अर्थ-बोध में अत्यन्त कठिनाई होती है। इसकेअतिरिक्त वाक्य में भ्रामक पदों के दुष्प्रयोग से भी बचना चाहिए क्योंकि वे काव्य-दोष में परिगणित कर लिये जाते हैं। यथा :—

----------

१. वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्ष तिष्ठतीति मतस्थिति। —महाभाष्य, १-१-४४

२. it (Sentence) is a unit of expression and its various qualities length, rhythm and structure, are determined by a right sense of their unity—English Prose Style—H. Reade.

३. वाक्य—२-५३,—पुण्यराज



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पीकर मृगतृष्णा उसने अपनी तृषा मिटायी।

मृगतृष्णा से प्यास नहीं बुझाई जा सकती। अतः पाठक को अर्थ-प्रतीति के लिये मस्तिष्क की पर्याप्त कसरत करनी पड़ती है। इसलिये शब्दों की उचित अन्विति नितान्त आवश्यक है। राजशेखर ने भी कहा है कि, 'जिस पाक से विद्वानों को गुण, अलंकार, रीति, उक्ति, शब्द और अर्थ की रचना परिपाटी आनन्ददायक हो, वह वाक्य पाक है और वही मुझे अच्छा लगता है।''[1]

३. कुशल वाक्य-योजना द्वारा भी काव्याभिव्यंजन में अनेक प्रकार से सौन्दर्य की अभिवृद्धि की जा सकती है। उदाहरणार्थ कलाकार पाठक की जिज्ञासा को बनाए रखने के लिये मुख्य वाक्य को अन्त में इस प्रकार प्रयुक्त करे कि अवान्तर वाक्यों का अर्थ अन्तिम मुख्य वाक्य को जाने बिना पूर्ण न हो। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में इस सौन्दर्य विधायक तत्व को 'पीरियड' कहते हैं। जैसे :—

वक्ष पर जिसके जल उडुगन, बुझा देते असंख्य जीवन
कनक औ नीलम यानों पर, दौड़ते जिस पर निशि वासर
पिघल गिरि से विशाल बादल, न कर सकते जिसको चंचल
तड़ित की ज्वाला घन गर्जन, जगा पाते न एक कंपन
उसी नभ सा क्या वह अविकार, और परिवर्तन का आधार। —महादेवी

विशिष्ट वाक्य-विन्यास पर आश्रित सौन्दर्य-विन्यास की दूसरी विधा 'ऐन्टीथीसिस' है लेखक जब दो विरोधी भावों को अभिव्यक्त करना चाहता है तब वह प्रस्तुत शैली को अपनाता है। 'ऐन्टीथीसिस' के दो साधन हैं:—

(क) दो अथवा दो से अधिक स्वतंत्र किन्तु संतुलित वाक्यों की योजना,

(ख) दो वाक्यों में वर्ण अथवा शब्दावृत्ति द्वारा फोर्स (प्रभाव) उत्पन्न करना। इस सम्बन्ध में दो पद द्रष्टव्य हैं:—

(क) अपने दिन रात हुए उनके, क्षण ही भर में छवि देख यहां।
सुलगी अनुराग की आग वहां, जल से भरपूर तड़ाग जहां।।
—रामनरेश त्रिपाठी

(ख) शंकाएं हैं जहां, वहां धीरों की मति है,
आशंकाएं जहां, वहां वीरों की गति है।

वाक्य योजना का तीसरा विधायक तत्व कहावतों और मुहावरों का प्रयोग है। कलाकार जब किसी सूत्र वाक्य द्वारा अपने आशय या स्पष्टीकरण अथवा स्वमत स्थापन करता है अभि-

---

१. गुणालंकाररीत्युक्ति शब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः सभां प्रति।। —काव्य मीमांसा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



व्यंजना में सौन्दर्य एवं प्रसाद गुण का समावेश स्वतः हो जाता है। अंग्रेजी में इसे एफोरीज्म भी कहते हैं। यथा :—

देख लो कांटे बिना कांटा निकलता है नहीं,
क्रूर जन से सौम्य का कुछ काम चलता है नहीं।
पड़ जाते कुसंग में सज्जन,
तो भी उसमें गुण रहता है।
अहि के सँग रहता है चन्दन,
जन-संताप तदपि हरता है।।

—रामचरित उपाध्याय

**अलंकार**—काव्य के आभ्यन्तर एवं वाह्य पक्ष को जो तत्व वास्तव में रमणीयता और चमत्कार प्रदान करता है, वह है अलंकार। अलंकार शब्द प्राचीन ग्रंथों में दो विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुआ है :—

(१) तैः शरीरंच काव्यानामलंकारश्चर्दाशताः।
(२) कोऽसावलंकारइत्याहः
सौन्दर्यमलंकारः अलंकृतिः अलंकारः।

अतः सामान्य अर्थ के अनुसार गुण, रीति, वृत्ति आदि सभी अलंकार के अन्तर्गत परिगणित किये गये, किन्तु विशिष्ट अर्थ में उससे अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकारों का बोध होता है। आगे चलकर साहित्यशास्त्र में 'अलंकार' इसी विशिष्ट अर्थ में रूढ़ सा हो गया।

अलंकार की सबसे बड़ी कसौटी है काव्य में प्रभावोत्पादकता, रमणीयता, चमत्कार एवं बोधगम्यता उत्पन्न करने की शक्ति। "कामिनी अत्यन्त सुन्दरी है"; इस वाक्य से कहीं अधिक बिम्बविधायक उक्ति है—"कामिनी का मुख कलाधर के समान कमनीय है।" वस्तुतः अलंकार भावों को तीव्रता तथा भाषा को रमणीयता प्रदान करते हैं। इस सौन्दर्य-विधान के हेतु इनका जन्म हुआ और इसी की अभिवृद्धि में उनकी सार्थकता है। कदाचित् इसीलिये प्राचीन संस्कृताचार्यों ने—इन्हें काव्य का अनिवार्य अंग मान लिया तथा अलंकारों को सौन्दर्य का पर्याय स्वीकार किया है। कालान्तर में 'रस' तथा 'ध्वनि' के संस्थापकों ने इन पर पुनर्विचार किया,

---

१. काव्यादर्श, १-१०, दण्डी
२. काव्यालंकार सूत्र, १-१-२, वामन
३. क—काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितः—अग्निपुराण
ख—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते—काव्यादर्श
ग—काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकारः—काव्यालंकार



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और परम्परा से प्राप्त विचारधारा में परिवर्तन हुआ। फलतः अलंकार काव्य के 'अस्थिर धर्म'[१] माने गये। यह ठीक भी है। क्योंकि अलंकारवाद की प्रधानता से काव्य का स्वरूप आवश्यकता से अधिक बोझिल हो जाता है। उत्कृष्ट कोटि का कलाकार काव्य रचना करते समय केवल अलंकार विधान के लिए जागरूक होकर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास आदि का सन्निवेश नहीं करता, अन्यथा वे 'साधन' मात्र न रह कर 'साध्य' हो जायें। वे तो उच्चकोटि की भावाभिव्यक्ति में स्वतः चले आते हैं; कवि को उनके लाने का प्रयास नहीं करना पड़ता। क्योंकि अलंकार-विहीन काव्य से भी रसनिष्पत्ति सम्भव है। इसलिये साहित्य दर्पणकार ने इन्हें 'अस्थिर धर्म' कहा है। दूसरी ओर प्रखर भावाभिव्यंजन में अलंकार सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं। इसी कारण क्रोचे ने अलंकार-अलंकार्य का भेद स्वीकार ही नहीं किया।[२] इस वाद-विवाद में न पड़ कर हम केवल इतना ही कहेंगे कि अलंकार की स्वस्थ पृष्ठभूमि भाव है, केवल सुन्दर उपमान नहीं। जिस प्रकार अति-अलंकृत कुरूपा नारी आभूषण-भार से अधिक कुरूप लगती है उसी प्रकार नगण्य भाव में सुन्दर उपमानों से युक्त भाषा शब्दाडम्बर के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कवि पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में अलंकार का रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है: "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए, आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार, व्यवहार और रीति-नीति हैं, वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहां भाषा की जाली केवल अलंकारों की चौखट में फिट करने के लिए बुनी जाती है वहां भावों की उदारता, शब्दों की कृपण-जड़ता में बंध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"[३]

भाषा में बोधगम्यता, रमणीयता, चित्रमयता एवं प्रभावोत्पादकता लाने वाले अलंकार की परिभाषा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार की है—'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।'

जिस प्रकार अभिव्यंजना के प्रकारों की कोई सीमा नहीं, उसी प्रकार अलंकार भी संख्या-

---

१. **शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माशोभातिशायिनः।
रसादिनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ——साहित्यदर्पण**

२. One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally In this case it must always remain separate. Internally ? In this case either it does not assist expression and marsit or it does from post of it and is not an ornament, but a constituent element of expression indistinguishable from the whole. —P. 69—Aesthetic—B. Croce.

३. **पल्लव——भूमिका——पृ० १९——सुमित्रानन्दन पंत**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तीत हैं। कवि-प्रतिभा ईश्वरीय देन है। अतः कवि-व्यक्तित्व के अनुसार व्यंजना की विधाएँ भी बहुविध हो जाती हैं। ध्वन्यालोक के रचयिता कहते हैं, 'अलंकार अनन्त हैं।'[1] दण्डी ने लिखा है कि, 'अलंकारों की आज भी सृष्टि हो रही है अतः उनकी गणना कौन कर सकता है।'[2] इसी को प्रकारान्तर से रुद्रट ने भी व्यक्त किया है।[3] फिर भी शब्द पर आश्रित भाषा के दो धर्म कहे गए हैं : (१) ध्वन्यात्मक (२) विम्बात्मक (अर्थात् शब्द में भाव के अनुकूल या तो गेयता होती है और या सहृदय पाठक के सम्मुख चित्र उपस्थित करने की क्षमता)। इस आधार पर अलंकार भी दो वर्गों में विभाजित किये गये हैं--(क) ध्वनि पर आश्रित—शब्दालंकार (ख) बिम्ब पर आश्रित--अर्थालंकार।

**शब्दालंकार**--ध्वनि को लेकर शब्दालंकार की सृष्टि होती है। इनके प्रयोग से भाषा में संगीतात्मकता, ध्वन्यात्मकता एवं चमत्कार का संचार होता है। अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकार शब्दगत कहे जाते हैं। भाषा में गेयता का समावेश 'वर्ण' अथवा 'शब्द' की आवृत्ति द्वारा सम्भव होता है, यथा :—

अनुप्रास--तरणि के संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में--पंत

**यमक**—सुन कपे जग में बस वीर के, सुयश कारण कारण मुख्य हैं।
--रा० च० उपाध्याय

इसके अतिरिक्त उक्ति में चमत्कार का कारण विशिष्ट कथन-भंगिमा द्वारा लाया जा सकता है, जैसे—

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहां अपर है?
उसने कहा अपर कैसा? उड़ है गया सपर है।
--गुरुभक्त सिंह

शब्दालंकार की योजना से शैली में चमत्कार-वृद्धि होने पर भी इनका स्थान कविता में गौण ही रहा। क्योंकि कवि अपनी विशिष्ट शैली द्वारा रचना अथवा उक्ति में जिस रमणीयता की सृष्टि करता है तथा वर्णित भावों का उत्कर्ष दिखाना चाहता है उसकी सिद्धि, अर्थालंकारों की सहायता से ही होती है।

**अर्थालंकार**--हम पहले कह आये हैं कि वाग्वैविध्य के अनुसार अलंकार भी अनन्त हैं। अलंकारों की इस अनन्तता को वर्गीकृत करते समय संस्कृताचार्यों ने भिन्न-भिन्न आधार माने हैं। भामह ने वक्रोक्ति, दण्डी ने अतिशयोक्ति तथा वामन ने उपमा को सबके मूल में स्थित माना है। रुद्रट ने अलंकार का व्यापक वर्गीकरण किया तथा वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष

---

१. अलंकाराणमनन्तत्वात्--ध्वन्यालोक
२. ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान्कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।--काव्यादर्श
३. ततो यवान्तोहृदयावर्जका अर्थप्रकाशः तावन्तः अलंकारः।--काव्यालंकार



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चार भेद किये। रुय्यक ने सात वर्ग बनाए--सादृश्य गर्भ, विरोध गर्भ, शृंखलाबद्ध, तर्कन्यायमूल, वाक्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल और गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक। इस प्रकार वर्गीकरण के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद रहा। आधुनिक युग में अलंकारों का वर्गीकरण मनोविज्ञान के आधार पर किया गया है :--

(१) सादृश्य व साधर्म्य पर आश्रित--उपमा, रूपक, अनन्वय, व्यतिरेक इत्यादि।
(२) अतिशय पर आधृत--अतिशयोक्ति, सार, उदात्त आदि।
(३) विरोधमूलक--जैसे विरोधाभास, विभावना, असंगति, आक्षेप आदि।
(४) श्रृंखलाबद्ध--जैसे कारणमाला, एकावली, यथासंख्य, सार आदि।
(५) तर्क व गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक--जैसे काव्यलिंग, पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि।

अलंकारों की सहायता से काव्य के भाव, वस्तु, रूप, गुण क्रिया आदि में सौन्दर्य-वृद्धि के उदाहरण द्रष्टव्य हैं--

**भाव-सौन्दर्य (विह्वलता)** (क) तरल मोती से नयन भरे,
मानस से ले उठे स्नेह घन।
कसक विधु-पुलकों के हिमकण,
सुधि स्वाती की छांह पलक की सीपी में उतरे--(रूपक)

**करुणा** (ख) कोई प्यारा कुसुम कुम्हला मौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन बतला फूल-सी एक बाला,
म्लाना हो हो, कमल पग को चूमना चाहती है॥ (रूपक)

**वस्तु-सौन्दर्य** नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥
(उपमा)

**गुणानुभव की प्रकर्षता** (ग) सुख भोग खोजने आते सब, आये तुम करने सत्य खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन, तुम आत्मा के मन के मनोज।
(व्यतिरेक)

**क्रियानुभव की तीव्रता** (घ) दम्पती चौंके, पवन मण्डल हिला,
चंचला सी छिटक छूटी उर्मिला। --(उर्मिला)



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**प्रतीक-योजना**--वर्तमान काल की कविता में प्रतीक-योजना का व्यापक प्रयोग दृष्टिगत होता है, अतएव प्रतीकात्मक प्रयोगों का संकेत भी अनिवार्य है। हम देख आये हैं कि प्रत्येक भाषा में शब्द स्वरूप बोध के साथ भावोद्‌बोधन की क्षमता भी नैसर्गिक है। जिन शब्दों में इस प्रकार के भावोद्‌बोधन की तनिक सी क्षमता होती है वे भाषा की अलंकार योजना में प्रतीक का काम देते हैं। आधुनिक विद्वानों ने प्रतीकों के भावोत्पादक (इमोशनल) तथा विचारोत्पादक (इन्टलेक्चुअल) दो भेद किये हैं। किन्तु वास्तव में ये दोनों शब्दगत गुण अन्योन्याश्रित हैं। विचारोद्‌बोधन के क्षणों में सहृदय के मानस में भावोत्पत्ति भी निसर्गतः हो जाती है। उदाहरणार्थ कमल शब्द सुनते ही जिस प्रकार सुन्दर स्निग्ध और कोमल भावना जागरित होती है उसी प्रकार सांप का विचारमात्र क्रूरता, कुटिलता, भयंकरता आदि भावों की उत्पत्ति में सहायक होता है।

सत्य तो यह है कि प्रतीक गोचर हों अथवा अगोचर उनकी क्षमता सहृदय पाठक के मन में विचार उद्‌बुद्ध करने में निहित है। प्रतीक और उपमान में केवल यह अन्तर है कि प्रतीक के लिये किसी प्रकार के सादृश्य, साधर्म्म, आदि आधार की आवश्यकता नहीं होती, जब कि उपमा आदि अलंकारों में यह आधार-शिला-अनिवार्य है; उदाहरणार्थ चन्द्र, कुमुदिनी, आकाश, समुद्र, हंस आदि गोचर प्रतीक क्रमशः, स्निग्धता, आह्लाद, शुभ्रहास, उच्चता, अनन्तता, गंभीरता एवं विवेक आदि भावों का संकेत देते हैं। जो उपमान प्रतीक-स्वरूप प्रयुक्त होते हैं वे मार्मिक काव्य विधान करने की क्षमता रखते हैं, जैसे 'शूल और कलियां' अथवा 'उषा' और 'संध्या' दुःख-सुख के प्रतीक हैं। श्री महादेवी वर्मा की काव्य-साधना में उक्त अनुभूतियां प्रतीकों के माध्यम से कितने सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं:—

**शूलों का दंशन भी हो, कलियों का चुम्बन भी हो।**
**सूखे पल्लव फिरते हैं, कहते जब करुण कहानी॥**

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के निम्नलिखित पद में प्रात, चन्द्र, ज्योत्स्ना और रेणु क्रम से स्फूर्ति, शान्ति और शीतलता के प्रतीक हैं:—

**वहां नयनों में केवल प्रात, चन्द्र ज्योत्स्ना ही केवल गात,**
**रेणु लाए ही रहते पात, मंद ही बहती सदा बयार।**
**हमें जाना इस जग के पार॥**

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य, संस्कृति, समीक्षा आदि का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। अतः काव्य का भाव पक्ष ही नहीं कला पक्ष भी पाश्चात्य प्रभाव से अछूता न रह सका। प्रस्तुत प्रकरण में कुछ अलंकारों का उल्लेख युगीन-प्रयोग की दृष्टि से अनिवार्य है क्योंकि प्रत्यक्षतः अथवा प्रकारान्तर से उनका सन्निवेश आधुनिक काव्य में बहुल रूप में पाया जाता है।

**हिन्दी काव्य में प्रयुक्त पाश्चात्य अलंकार**--सब प्रकार की अलंकृत भाषा शैली का उत्स



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मानव मस्तिष्क है। इसलिये समस्त विश्व-साहित्य में मूल अलंकार समान रूप से वही पाये जाते हैं ; उदाहरणार्थ ; पाश्चात्य साहित्य के अनेक अलंकार हमारे यहां संस्कृत साहित्य-शास्त्र की शब्द-शक्ति में समाविष्ट है। इसके अतिरिक्त सिमिली, मैटाफ़र तथा लाइटोट्स को क्रम से 'उपमा', 'रूपक' तथा 'अपुह्नुति' का पर्याय माना जा सकता हैं। फ़ेबल तथा एलेगरी 'अन्योक्ति' तथा 'रूपक' के दूसरे नाम हैं। हाइपरबोल में अत्युक्ति और 'अतिशयोक्ति' तथा क्लाइमेक्स में 'सार' के सब गुण विद्यमान हैं। 'पैराडोक्स' या आक्सीमोरन तथा 'विरोधाभास' में कोई अन्तर नहीं है। गूढ़ार्थप्रतीति-मूलक अलंकारों में यूफ़िमिज्म में 'पर्याय' का तथा 'पन' में श्लेष और यमक दोनों का रूप मुखरित हो उठता है। 'आनोमैटोपिया' शब्दालंकार का समवेत रूप है। फिर भी उपमानों के विशिष्ट एवं विचित्र चयन के कारण पाश्चात्य साहित्य के कतिपय अलंकार अभिव्यंजना में असाधारण स्थान रखते हैं जिनका उल्लेख उपादेय होगा --

(१) हाइपलेज अथवा विशेष--विपर्यय--किसी विशिष्ट कथन को अर्थ-गर्भित तथा गंभीर बनाने के हेतु उपमेय का विशेषण उपमान से जोड़ देना विशेषण विपर्यय कहलाता है :--

**चल चरणों का व्याकुल पनघट,**
**कहाँ आज वह वृन्दाधाम। --निराला**

(२) परसानिफ़िकेशन अथवा मानवीकरण का अभिप्राय है भावनाओं अथवा प्रस्तुत अमूर्त्त विषय में मानव गुणों का आरोप करना। मूर्तिमत्ता की यह प्रणाली भाषा में वक्रता एवं चमत्कार लाती है, यथा :--

**मृत्यु सदृश शीतल निराश ही आलिंगन पाती थी दृष्टि,**
**परम व्योम से भौतिक कण सी घने कुहासों की थी वृष्टि। --प्रसाद**

कभी-कभी भावानुभूति इतनी प्रखर हो उठती है कि कवि उसमें केवल मानव-गुणों का ही आरोप नहीं करता अपितु उसे व्यक्ति की तरह सम्बोधित भी कर उठता है। इसे पाश्चात्य साहित्यशास्त्री एपोस्ट्रोफ़े कहते हैं। यथा :--

**अरी मृत्यु ! चिरनिद्रे।**
**तेरा अंक हिमानी सा शीतल।**
**ओ चिन्ता की पहली रेखा ! अरी विश्व वन की व्याली।**
**ज्वलामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप सी मतवाली।।**

सिनकडके किसी वस्तु को ऐसी संज्ञा देने का व्यापार है जो इष्ट अर्थ से कुछ अधिक अथवा कुछ कम व्यक्त करे। यह दो प्रकार से सम्भव है :--(क) पूर्ण वस्तु के लिए उसके किसी अंश का कथन। जैसे आयु के वर्ष द्योतित करने के लिए यह कथन कि 'मेरे पच्चीस वसन्त बीत गये।'



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(ख) वस्तु-अंश के लिए पूर्ण वस्तु का उल्लेख। जैसे—अभिमन्यु की मृत्यु पर यह कहना कि 'पाण्डव सेना मारी गई।'

**शब्द शक्तिः**—शब्दशक्ति अभिव्यंजना का एक अन्य प्रमुख सौन्दर्य विधायक उपादान है। कलाकार अपनी उक्ति को प्रभावोत्पादक, अर्थव्यंजक एवं आकर्षक बनाने के लिये बात को प्रत्यक्ष रूप से न कहकर प्रकारान्तर से भी कहता है। इस प्रकारान्तर 'कथन के लिए' वह शब्दाश्रित शक्तियों का उपयोग करता है। भारतीय साहित्याचार्यों ने शब्द को तीन प्रकार का माना है:—अभिधायक, लक्षक एवं व्यंजक। इसी आधार पर उन्होंने शब्द की तीन शक्तियां स्थिर की हैं:— अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनके आश्रित अभिव्यंजन भी तीन प्रकार का कहा जा सकता है:—अभिधायक, लाक्षणिक तथा व्यंग्यात्मक।

शब्द शक्तियां काव्य में अभिव्यंजना-सौष्ठव की किस प्रकार वृद्धि करती हैं यह निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा:—

**अभिधाशक्ति द्वारा चित्रमयता**

कुछ दिनों उपरान्त ब्रजेश के, चरण भूपर भी पड़ने लगे।
नवल नूपुर औ कटि किंकिणी ध्वनित हो उठने गृह में लगी।
ठुमकते, गिरते पड़ते हुए जननि के कर की उंगली गहे।
सदन में चलते जब श्याम थे, उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था। —हरिऔध

**बिम्बात्मकता**

विचित्र थी शीश किरीट की प्रभा,
कसी हुई थी कटि में सु-काछनी।
दुकूल से शोभित कान्त कन्ध था
विलम्बिता थी वनमाल कण्ठ में
अहीश को नाथ विचित्र रीति से
स्वहस्त में थे मुरली मुहुर्मुहः
प्रबोधिनी मुग्धकरी विमोहिनी! —हरिऔध

**लक्षणा शक्ति**

बेतरह दुखे किसी दिल में, भले ही पड़ जाये छाला।
जीभ सी कुंजी पाकर वे, लगायें क्यों मुंह में ताला।
(रूढ़ि लक्षणा)—अयोध्यासिंह उपाध्याय

जब हुई हकूमत आंखों पर जन भी चुपके में आहों में,
कोड़ों की खाकर मार पली, पीड़ित की दबी कराहों में
(उपादान लक्षणा)—दिनकर



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मैंने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो,
रस है यदि तो वह तेरे चरणों ही का जूठन है।

(लक्षण लक्षणा)--माखनलाल चतुर्वेदी

इन प्रयोगों के अतिरिक्त वर्तमान समय की कविता में ऐसी लाक्षणिक पद-योजना का विधान भी मिलता है जिससे उक्ति में वैचित्र्य और चमत्कार के साथ पाठक के मानस पर भाव का मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण भी सम्भव हो जाता है। यथा :--

लाक्षणिक पद योजना--(अमूर्त का मूर्त विधान)

जिसके आगे पुलकित हो जीवन है सिसकी भरता
हां मृत्यु नृत्य करती है मुसकाती खड़ी अमरता।
वह मेरे प्रेम विहँसते जागो मेरे मधुवन में।
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में--प्रसाद

मूर्त का अमूर्त विधान

गूढ़ सांस सी अति गतिहीन अपनी ही कंपन में लीन,
सजल कल्पना सी साकार पुनः पुनः प्रिय पुनः नवीन--पंत

लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम सी,
यौवन की विनती सी भोली गुम सुम खड़ी शरम सी--दिनकर

अभिधामूला-शब्द-व्यंजना

शिवा स्वास्थ्य रक्षा करे शिवा हरे सब शूल।

लक्षणामूला शब्द-व्यंजना

मैंने कुछ सुखमय इच्छायें चुन ली सुन्दर शोभाशाली,
औ उनके सोने चांदी से भर ली प्रिय प्राणों की डाली--पंत

शाब्दिक व्यंजना से सूचित व्यंग्य शब्द जनित होता है। शब्द ही उसकी धुरी है और वही उसका प्राण है जिसके चारों ओर व्यंग्य घूमता रहता है। यह व्यंजना विशिष्ट शब्द के स्थान पर उसका पर्याय रख देने से निःशेष हो जाती है। किन्तु आर्थी व्यंजना वक्ता, बौद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, काकु आदि की विशेषता के कारण जिस अर्थ की प्रतीति कराती है वह अर्थजनित होने से अर्थ को प्रमुखता देता है; अर्थात् वह किसी शब्द-विशेष के आश्रित नहीं रहता। इसलिए आर्थी व्यंजना को अभिव्यंजना के आवश्यक तत्त्वों में नहीं लिया जा सकता।

**गुण**--गुण की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए अग्निपुराणकार ने कहा है कि गुण-रहित काव्य अलंकार से युक्त होने पर भी आनन्दप्रद नहीं होता, जैसे कामिनी के लालित्य



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आदि गुण रहित शरीर पर हार आदि आभूषण केवल भार रूप होते हैं।[1] प्रश्न यह है कि गुण काव्य के शरीर या आत्मा अथवा शब्द और अर्थ के धर्म हैं या काव्य में रस को उत्कृष्ट बनाने वाले अचल धर्म हैं? यद्यपि इस सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है किन्तु सबने गुण के अस्तित्व को काव्य के लिए प्रत्यक्षतः अथवा प्रकारान्तर से अनिवार्य अवश्य माना है। वामन ने गुणों को काव्य के शोभा कारण धर्म कहा है।[2] ध्वनिकार,[3] मम्मट[4] एवं विश्वनाथ[5] आदि ने भी गुण को काव्य को उत्कृष्ट बनाने में सहायक माने हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने शब्द अर्थ दोनों में गुण का अस्तित्व स्थिर किया है।[6] भोजराज के अनुसार तो अलंकृत काव्य भी गुणहीन होने से सुनने योग्य नहीं होता।[7]

इन आचार्यों के मतों की मीमांसा करना विषयान्तर है तो भी यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि मम्मट, विश्वनाथ आदि जिन विद्वानों ने गुण को रस से सम्बद्ध माना है वे केवल उसकी विशेषता का प्रदर्शन करते हैं और प्रकारान्तर से इस बात को स्वीकार भी कर लेते हैं कि शब्द अर्थ में मधुर आदि गुणों का जो व्यवहार किया जाता है वह गौण या अप्रधान माना जाता है।[8] यदि शब्द में गुण की अपेक्षा न होती तो 'समुचित वर्षों'[9] की आवश्यकता का उल्लेख मम्मट आदि कदापि न करते। इसलिए गुण-शरीर और आत्मा--शब्द अर्थ--दोनों के धर्म माने जा सकते हैं, क्योंकि मधुरतम भाव माधुर्य गुण व्यंजक शब्दों के अभाव में काव्यत्व खो देगा। इसी प्रकार ओज गुण से परिपूर्ण शब्द-योजना शृंगारमयी भावानुभूति के सर्वथा अनुपयुक्त होती है। कदाचित् इसी कारण वामन ने दोनों प्रकार के गुणों--शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण की कल्पना की है।

---

१. अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्येललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥--अग्निपुराण, ३४६।१

२. काव्य शोभायाः कर्तारोगुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः॥--काव्यालंकार सूत्र

३. तमर्थमवलम्बन्ते येऽगिनस्ते गुणाः स्मृताः॥--ध्वन्यालोक

४. ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादयइवात्मानः।
उत्कर्षहेतवः तेस्युः अचतस्थितयो गुणाः॥--काव्यप्रकाश

५. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः॥--साहित्य दर्पण

६. तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्वादुपचारो
नेव कल्प्यइतनुमादृशाः॥--रस गंगाधर--६-९

७. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्,
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥--सरस्वती कंठाभरण

८. गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिशब्दार्थयोः मतः--काव्यप्रकाशः

९. अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैः व्यंज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयः।
--काव्यप्रकाशः



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



गुणों की संख्या के विषय में भी आचार्यों में मतभेद है। भरत मुनि ने दस गुण बताये हैं।[१] वामनाचार्य के अनुसार शब्द व अर्थ दोनों के पृथक्-पृथक् दस गुण हैं।[२] महाराज भोज ने उनकी संख्या और भी अधिक दी है।[३] किन्तु भामह के मतानुसार आचार्य मम्मट ने केवल तीन माने हैं। शेष गुणों में से कुछ का इन्हीं तीन में अन्तर्भाव कर दिया गया है और कुछ की दोषों के अभाव रूप में विवेचेना की गई है।[४] मम्मट के मत को प्रायः सभी उत्तरकालीन आचार्यों ने स्वीकार किया है। अर्वाचीन युग में भी माधुर्य, ओज और प्रसाद, इन्हीं तीन गुणों का उल्लेख मिलता है। इनके प्रयोग द्वारा काव्य में उद्बुद्ध अभिव्यंजना-सौन्दर्य के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

**माधुर्यगुण**––मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास, स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ का सार,
मनोभावों का मधुर विलास, विश्व सुषमा ही का संसार॥

**ओज गुण**––अहे वासुकि सहस्र-फन।
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत-वक्षःस्थल पर!
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत-फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती के अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरलदन्त, कंचुक-कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल!

**प्रसाद गुण**––कहेंगे क्या मुझसे सब लोग,
कभी आता है इसका ध्यान।
रोकने पर भी तो सखि! हाय,
नहीं रुकती है यह मुस्कान।

**रीति वृत्ति**––साहित्य दर्पणकार ने कहा है कि 'रस को उत्कृष्ट बनाने वाले गुण रीति और अलंकार हैं।'[५] यों तो रीति की परम्परा बहुत पुरानी है। दण्डी भी रीति के समर्थक हैं

---

१. नाट्यशास्त्र––निर्णय सागर संस्करण–अध्याय १५-९२-१०३
२. काव्यालंकार सूत्र अधिकरण ३––अध्याय प्रथम व द्वितीय
३. सरस्वती कण्ठाभरण––निर्णय सागर संस्करण––प्रथम परिच्छेद
४. काव्यप्रकाशः––अष्टम उल्लास
५. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः॥––साहित्यदर्पण



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किन्तु रीति के सच्चे उन्नायक हैं।[१] वामन ने रीति को 'विशिष्ट' पद रचना कहा है।[२] पद में सन्निविष्ट वैशिष्ट्य की व्याख्या करते समय उन्होंने 'गुण' को सर्वोपरि माना है (विशेषो-गुणात्मा)। तत्पश्चात् आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' संज्ञा दी। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने पदों के मेल या संगठन को रीति कहा।[३] पदों के मेल को अंग संस्थान की उपमा दी गई अर्थात् जैसे अंगों का सुगठन होने पर ही शरीर सुन्दर लगता है उसी प्रकार काव्य-शरीर में शब्द और अर्थों का सुगठन अपेक्षित होता है।

इस प्रकार का सुन्दर पद-नियोजन काव्य में रस, भाव आदि का भी उपकारक होता है। संक्षेप में रीति उसे कहते हैं जो शब्दार्थ के शरीर यानी काव्य के आत्मभूत रस आदि का उपकार करने वाली विशिष्ट पद रचना हो। इसे शब्द, अर्थ और रस तीनों का उपकारक होना अनिवार्य है। इसलिए रीति विचार में शब्द को बहुत महत्व दिया गया है।

**रीतियों का प्रकार**--रीति के प्रकारों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। दण्डी ने कहा है कि प्रत्येक कवि में रीति व्यक्तित्वानुरूप होती है। अतः रीति के भेद नहीं किये जा सकते।[४] भेदों में उसने केवल वैदर्भी और गौड़ी का उल्लेख किया है। वामन ने काव्यालंकार सूत्र में, तथा राज-शेखर ने काव्य मीमांसा में वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली तीन रीतियों का वर्णन किया। रुद्रट ने 'लाटीय' नामक रीति भी इनके साथ सम्मिलित की है। भोज ने संख्या चार से बढ़ा कर छः कर दी है।

परन्तु सामान्यतया रीति का वर्गीकरण देश-विदेश के प्रमुख कवियों की प्रचलित प्रणाली के नाम पर परम्परा से प्राप्त वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी--प्रदेशाश्रित हैं। इसलिए उसी रूप में इनका विवेचन किया जाता है।

**वैदर्भी**--माधुर्य व्यंजक वर्णों की ललित रचना को वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। ऐसी रचनाओं में माधुर्य गुण सन्निविष्ट रहता है।[५]

**गौड़ी**--ओज प्रकाशक वर्णों से आडम्बरपूर्ण वन्ध को गौड़ी रीति या परुषावृत्ति कहते हैं। इसमें ओज-गुण का प्राधान्य रहता है।[६]

**पांचाली**--दोनों रीतियों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पंचम वर्ण वाली रचना को पांचाली रीति या कोमलावृत्ति कहते हैं।

---

१. विशिष्टपदरचना रीतिः--काव्यालंकार सूत्र १।७।७
२. पदसंघटनारीति रंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्।--साहित्यदर्पण
३. रस मार्गद्वयंभिन्नतत्स्वरूपंनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुप्ति कविस्थिताः।
४. माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचनाललितात्मिका।
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा, वैदर्भीरीतिरिष्यते॥--साहित्यदर्पण--पृ० ५२६
५. ओजः प्रकाशकैर्वर्णै वन्ध आडम्बरः पुनः समासबहुलागौड़ी।
६. माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली।--काव्यालंकार सूत्र, १।१।१३



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों के उक्त लक्षणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि रीति और वृत्ति का पृथक्-पृथक् विवेचन पुनरावृत्ति मात्र है। पृथक्-पृथक् नादाभिव्यंजक वर्णों से संघटित शब्दों के चुनाव से वस्तु में झंकार की जो विशेषता होती है उसी से उन वृत्तियों के नाम क्रम से उपनागरिका, कोमला एवं परुषा पड़े हैं। मम्मट ने तो रीति को ही वृत्ति नाम दे दिया है। आचार्य उद्भट ने वृत्तियों को केवल वर्ण तक सीमित माना है। रुद्रट ने केवल समास को वृत्तियों का आधार बनाया। ध्वन्यालोककार ने शब्द और अर्थ की रसानुकूल योजना को वृत्ति कहा। इसी आधार पर उसने वृत्ति के दो भेद भी कल्पित किये --

**शब्दाश्रित वृत्ति तथा अर्थाश्रित वृत्ति।**[1]

संक्षेप में रूढ़ अर्थों में रीति-वृत्ति चाहे कुछ भी अर्थ व्यक्त करे किन्तु उनका सच्चा अर्थ वाल्टर पेटर के शब्दों में 'राइट सेन्स आफ़ वकेव्यूलरी' होगा, अर्थात् अपने भाव को व्यक्त करने के लिए रचनाकार रम्य, चुस्त एवं उपयुक्त वर्ण-योजना की सहायता से कौन-सा शब्द कहाँ रखे। इन दोनों आवश्यक बातों का अन्तर्भाव शब्द-चयन और काव्य गुणों में हो जाता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से आधुनिक काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द एवं संकुचित पुराने अर्थ को त्यागकर व्यापक 'अर्थ' शैली के पर्याय में प्रयुक्त होता है। इन सब कारणों से हम रीति-वृत्ति को अभिव्यंजना के उपादानों में पृथक् रूप में परिगणित नहीं करेंगे।

इस प्रकार ऊपर हमने अभिव्यंजना के सौन्दर्य-विधायक उन उपादान तत्वों का संक्षिप्त निरूपण किया जो भाव को रमणीयता प्रदान करते हैं, उसमें प्रभावोत्पादक गुणों का सन्निवेश करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप साहित्य का निर्माण होता है।

----------

१. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यावाम्याताः एताः वृत्योद्विविधा स्मृताः।। --ध्वन्यालोक



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० व० प० लिपेरोवस्की (मास्को)

# हिन्दी भाषा में संदेहार्थ

श्री कामताप्रसाद गुरु और श्री दुनीचन्द अपने हिन्दी भाषा व्याकरणों में लिखते हैं—कि आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में क्रिया के पांच अर्थ (moods) हैं अर्थात् निश्चयार्थ, आज्ञार्थ, संभावनार्थ, संकेतार्थ और संदेहार्थ। हमारे देश में भी भाषातत्वज्ञों का मत है कि हिन्दी में क्रिया (verb) के ऐसे अर्थ विदित हैं जिनमें से हरेक का विवरण अर्थ (meaning) और रूप विचार संबंधी विशेषताओं (morphological peculiarties) के आधार पर दिया जा सकता है। उन विद्वानों में से बहुत लोग एकादमीशियन अ० प० बरान्नकोव के उसी दृष्टिकोण को मानते हैं जिस के अनुसार हिन्दी में पांच नहीं, केवल चार अर्थ हैं। बात यह है कि क्रिया के वे रूप, जो वर्तमानकालिक या भूतकालिक कृदन्त तथा सहायक क्रिया 'होना' के भविष्यकाल से बने हुये हैं (उदाहरणतः—'बोलता होगा', 'बोला होगा') और जिनका संबंध सर्वश्री कामताप्रसाद गुरु और दुनीचन्द द्वारा संदेहार्थ से रखा जाता है। अ०प० बरान्नकोव के अनुसार निश्चयार्थ के विशेष भविष्यकालिक रूप हैं। यही कारण है कि यह छोटा निबंध लिखने का उद्देश्य क्रिया के उन रूपों पर प्रकाश डालने का है जिनको उपरोक्त भारतीय वैयाकरण संदेहार्थ के भीतर सम्मिलित करते हैं।

उन रूपों का अर्थ ध्यान में रखते हुये श्री कामताप्रसाद गुरु लिखते हैं कि "संदेहार्थ क्रिया से किसी बात का संदेह जाना जाता है"[1] अगर यह ठीक है तो हम कह सकते हैं कि उन रूपों से वह संभावना (potentiality) सूचित होती है जो संभावनार्थ के रूपों के द्वारा सूचित की गई संभावना से अधिक है अर्थात् उन रूपों से क्रिया के विषय में ऐसा अनुमान या अनिश्चय जाना जाता है जो विश्वास की ओर झुका हुआ है। इस अर्थ (meaning) को हम अनुमानात्मक अर्थ कह सकते हैं और यह उस बात का प्रतीक मालूम होता है कि दोनों उपरोक्त रूप क्रिया का एक अलग अर्थ (mood) बनाते हैं। सारांश यह कि उन रूपों को अलग अर्थ (mood) मानने के लिये भाषा संबंधी सामग्री ही विद्वानों को प्रेरित करती है।

परन्तु दूसरी ओर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जब उन रूपों का भविष्यकालिक

---

१: कामताप्रसाद गुरु, हिन्दी व्याकरण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४ वि०, पृष्ठ २६५।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



क्रिया सूचित करने के लिये या प्रश्नवाचक वाक्यों में प्रयोग होता है तो उनका अनुमानात्मक अर्थ नियमतः लुप्त हो जाता है।

क्रिया के उन दो वियोगात्मक रूपों को संदेहार्थ के रूप मानने से एक प्रश्न उत्पन्न होता है—क्रिया "होना" के भविष्यकाल को भी संदेहार्थ का एक रूप क्यों न माना जाय? वास्तव में उन दोनों रूपों की जो अर्थ संबंधी (semantical) विशेषतायें हैं वे "होना" के भविष्यकालिक रूप की विशेषतायें भी हैं। विशेषकर क्रिया "होना" के भविष्यकाल का प्रयोग उस अनुमान को सूचित करने के लिये हो सकता है जिसका संबंध वर्तमान काल या भूतकाल से है, जैसे "आओ उठो, खाने के कमरे में आओ, वहां पिता जी के सिवा इस समय और कोई न होगा—" (यशपाल), "मैं उदास रहने लगा। उस समय मेरी उमर बारह वर्ष के लगभग होगी" (सुदर्शन)। फिर क्रिया "होना" का भविष्यकालिक रूप भविष्यकाल के अर्थ के सूचित किये बिना प्रश्न वाचक वाक्यों में पाया जा सकता है, जैसे—"उसने पूछा, मान्डू में क्या बहुत स्त्रियों के पास होंगे ऐसे गहने-कपड़े ?" (वृन्दावनलाल वर्मा)।

और यही नहीं, बल्कि क्रिया "होना" की उपस्थिति के कारण ही उपरोक्त वियोगात्मक रूपों को अनुमानात्मक अर्थ मिलता है। इस बात का प्रमाण निम्नलिखित उदाहरण में स्पष्ट है—

सुरती ने कहा, "अंतिम समय तक अपने पति का नाम उसकी जबान पर रहा। क्यों मिस साहब, खन्ना साहब भी उससे इतना ही प्यार करते होंगे।" "होंगे क्या, करते हैं" सुलताना ने रशीदा की कलाई छोड़ कर कहा, "लक्ष्मी को तो मरना ही इसीलिये सुगम हो गया" (अश्क)। "करते होंगे" और "करते हैं" के बीच में जो अर्थ संबंधी अन्तर है वह इन दो रूपों की तुलना के आधार पर स्पष्ट दिखाई देता है।

ऐसे उदाहरण इस बात का प्रमाण हैं कि क्रिया "होना" के भविष्यकालिक रूप पर उन वियोगात्मक रूपों से, जो वर्तमान कालिक या भूतकालिक कृदन्त तथा "होना" के भविष्यकालिक रूप से बने हुये हैं, अलग विचार करना भ्रम होगा। ऐसे रूप जैसे "हो" "बोलता हो" और "बोला हो" कामताप्रसाद गुरु के अनुसार संभावनार्थ के रूप हैं और इसलिये तर्कसंगत विचार यह होगा कि "होगा", "बोलता होगा" और "बोला होगा" एक दूसरे से अलग किये बिना माने जायें। परन्तु कामताप्रसाद गुरु के अनुसार "होगा" निश्चयार्थ का भविष्यकालिक रूप है तथा "बोलता होगा" और "बोला होगा" संदेहार्थ के रूप हैं।

यदि "होगा' के संबंध में ऐसा पृथक्करण ठीक नहीं हुआ तो उन तीनों उपरोक्त रूपों के ढंग की समस्या को हल करने के तीन अलग-अलग रास्ते दिखाई देते हैं :—(१) तीन उपरोक्त रूप निश्चयार्थ के रूप हैं, (२) यह तीन रूप उस अर्थ (mood) के रूप हैं जो निश्चयार्थ नहीं है। (३) इन तीनों रूपों में दो अर्थों (moods) की व्याकरण संबंधी समानता अभिव्यक्त है जिनमें से एक निश्चयार्थ है और दूसरा अर्थ निश्चयार्थ नहीं है।

लेकिन यह विचार कि इन तीनों रूपों में से हरेक रूप में दो भिन्न रूप सन्निहित हैं, अस्वीकरणीय प्रतीत होता है क्योंकि इस बात का पता चलाना कठिन नहीं है कि निश्चयार्थ के भविष्य-



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


कालिक अर्थ (meaning) तथा वर्तमान काल और भूतकाल के अनुमानात्मक अर्थ के बीच में घनिष्ठ मेल है।

इस संबंध में सामान्य भाषा विज्ञान के तर्कों का उल्लेख करना अनावश्यक न होगा। विशेषकर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि निश्चयार्थ के रूपों में से भविष्यकालिक रूप को अन्य अर्थ (जैसे—अनुमान, संभावना आदि) सुगमता से प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि भविष्यकालिक क्रिया ऐसी क्रिया है जो अभी तक अस्तित्व में नहीं आई और इसीलिये वह अपनी वास्तविकता के संबंध में संदेह पैदा कर सकती है। लेकिन जहां तक उन वियोगात्मक रूपों का संबंध है, जो कृदन्त और सहायक क्रिया के भविष्यकाल से बने हुये हैं,—उपरोक्त तर्क हमारी व्याख्या के लिये पर्याप्त नहीं है। उनकी बनावट और ढंग पर विशेष रूप से प्रकाश डालना चाहिये।

ऐसे वियोगात्मक रूप दो स्वावलंबी शब्दों (कृदन्त और क्रिया का वैधेयिक रूप) के मेल से विकसित हैं। इस प्रकार के मेल में भूतकालिक कृदन्त से ऐसी क्रिया का बोध होता है जो वैधेयिक रूप द्वारा सूचित किये गये काल तक पूर्ण हो गई है और वर्तमानकालिक कृदन्त से ऐसी क्रिया का बोध होता है, जो वैधेयिक रूप द्वारा सूचित किये गये काल में होती है। इसलिये कृदन्त और भविष्यकालिक रूप के मेल में वह क्रिया, जो कृदन्त से सूचित है, भविष्यकाल से संबंधित है चाहे ऐसी क्रिया भविष्य में न हो। किसी भाषा में ऐसे मेल का अर्थ भविष्यकालिक हो सकता है। उदाहरणतः पोलिश भाषा में भूतकालिक कृदन्त और "होना" जैसे अर्थ की क्रिया के भविष्यकालिक रूप के मेल से वियोगात्मक रूप बनता है, जिसका प्रयोग भविष्यकाल सूचित करने के लिये होता है।

परन्तु हिन्दी भाषा की विशेषता यह है कि इस प्रकार के मेल में वर्त्तमानकालिक कृदन्त और भूतकालिक कृदन्त से ऐसी क्रिया सूचित होती है जिसकी घटना वर्तमान काल की या भूतकाल की है। लेकिन उसके साथ-साथ यह क्रिया भविष्य से संबंधित भी रहती है क्योंकि भविष्य ही में इस क्रिया की घटना की बात प्रत्यक्ष बात हो सकती है। फलस्वरूप वह अनुमानात्मक अर्थ आकर निकलता है जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया था। स्पष्टीकरण के लिये हम एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—"मैं कई दिन से मुहल्ले में गई भी नहीं, अब (वह) अच्छा हो गया होगा" (अश्क)। यह वाक्य कहते हुये वक्ता एक ओर मानों इस बात का निरूपण करता है कि "वास्तव में वह अच्छा हो गया" लेकिन दूसरी ओर वह जानता है कि इस बात की पुष्टि केवल भविष्य में हो सकती है।

स्पष्ट है कि इस वाक्य की ऐसी व्याख्या इस बात पर अवलंबित है कि सहायक क्रिया भविष्यकालिक रूप में है, निश्चयार्थ के वर्तमानकालिक या भूतकालिक रूप में नहीं, और यह क्रमानुकूल इस बात का प्रतीक है कि उपरोक्त तीनों रूपों के भिन्न अर्थ (जैसे—निश्चयार्थ का भविष्य और अनुमान) एक दूसरे से समकालीन स्तर पर (synchronically) संबंधित हैं। इसलिये यह विचार कि उपरोक्त तीनों रूपों में से ("होगा", "बोलता होगा", "बोला होगा")



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हरेक रूप में दो अर्थों (moods) के रूप सन्निहित हैं, ठीक नहीं होगा। वास्तव में ये तीन रूप एक ही अर्थ (mood) के रूप हैं।

इस संबंध में एक प्रश्न उत्पन्न होता है—उन रूपों का व्याकरण संबंधी क्या अर्थ है जिसके कारण वे क्रिया के उन रूपों से भिन्न हैं जो सब वैयाकरणों द्वारा निश्चयार्थ के रूप माने जाते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर केवल उन रूपों के समस्त प्रयोगों के साधारणीकरण के आधार पर दिया जा सकता है। साधारणीकरण से हमारा तात्पर्य यह है कि उन रूपों से ऐसा अर्थ संबंधी तत्त्व निकाला जाये जिसका बोध उन रूपों के समस्त प्रयोगों में होता है चाहे वे प्रयोग भिन्न क्यों न हों। हमको प्रतीत होता है कि हरेक वाक्य में उपरोक्त रूप इस क्रिया को सूचित करते हैं जिसकी वास्तविकता प्रत्यक्ष नहीं है। इस संबंध में उन तर्कों को ध्यान में रखना चाहिये—(१) वर्तमानकाल और भूतकाल में ऐसी अप्रत्यक्षता अनुमान के रूप में अभिव्यक्त है, (२) भविष्यकालिक क्रिया की घटना प्रत्यक्ष नहीं हो सकती है, जिसके कारण इस दशा में अनुमानात्मक अर्थ प्रायः अनावश्यक है, (३) प्रश्न भी इस विषय में किया जाता है जो प्रत्यक्ष नहीं मालूम होता है और इसलिये इस दशा में भी अनुमानात्मक अर्थ लुप्त हो जाता है।

उसके अतिरिक्त यह भी कहना है कि ऐसी अप्रत्यक्षता के अर्थ का निष्कर्ष ऐसे वाक्यों की विवेचना के आधार पर किया जा सकता है जिसमें अनुमान का बोध होता है, जैसे—"जरूर वहां आदमी रहते होंगे" (प्रेमचन्द), "भाईजान शायद अभी लाहौर ही में होंगे" (कृष्णचन्द्र) "शोक, खीज और बेबसी की ऐसी करुण मूर्ति शायद ही किसी ने देखी होगी" (सुदर्शन)।

हम देखते हैं कि जिन रूपों की हम छानबीन कर रहे हैं उनका प्रयोग ऐसे शब्दों के साथ (उदाहरणतः—"जरूर, "शायद", "शायद ही") हो सकता है जो क्रिया की वास्तविकता के संबंध में "निस्संदेह" से "कम संभावना" तक इतने विस्तार के भिन्न-भिन्न अर्थों के प्रतीक हैं। इसका आशय यह है कि उन रूपों का जो अर्थ है वह उन शब्दों के अर्थों से भिन्न या निस्पृह है। लेकिन भाषा में उपरोक्त रूपों का अस्तित्व क्रिया के उन रूपों के साथ ही है जो बिना किसी संदेह निश्चयार्थ के रूप माने जाते हैं और दो प्रकार के उन रूपों के बीच में अन्तर तो है। इसलिये मानना पड़ता है कि जिन रूपों की हम यहां छानबीन कर रहे हैं वे किसी क्रिया की वास्तविकता के संबंध में अप्रत्यक्षता प्रकट करते हैं।

अस्तु क्रिया की वास्तविकता के संबंध में अप्रत्यक्षता (non-evidence of the action expressed by the verb)—यही क्रिया "होना" के भविष्यकालिक रूप और दोनों वियोगात्मक रूपों (जैसे—"बोलता होगा", "बोला होगा") का मौलिक अर्थ है। क्या अप्रत्यक्षता का यह अर्थ (meaning) इसलिये पर्याप्त है कि उन रूपों को एक विशेष अर्थ (mood) माना जाये, जो निश्चयार्थ से अलग हो ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये यह तय करना चाहिये कि अगर यह अलग अर्थ (mood) हो तो हिन्दी भाषा के दूसरे अर्थों के बीच में इसका स्थान क्या होगा ? अनुमान कीजिये कि उपरोक्त तीन रूप एक ऐसे विशेष अर्थ के रूप हैं जो निश्चयार्थ से भिन्न हैं। तब इस बात का पता चलाना कठिन न होगा कि यह अर्थ निश्चयार्थ की ओर झुका



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हुआ है क्योंकि इससे क्रिया की वास्तविकता ही के संबंध में अप्रत्यक्षता का बोध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि निश्चयार्थ और दूसरे अर्थों के बीच में जो अर्थ संबंधी अन्तर है उसी प्रकार का अन्तर इस विशेष अर्थ और उन अर्थों के बीच में भी है। फलतः इस अर्थ को शेष सब अर्थों के बीच में समानाधिकार का स्थान प्राप्त नहीं होता। अर्थात् इस अर्थ को वह स्थान नहीं प्राप्त होता जो शेष सब अर्थों को मिलता है। इसी प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अर्थ विज्ञान की दृष्टि से उन रूपों को, जिनकी छानबीन हम कर रहे हैं, एक विशेष अर्थ मानने के लिये पर्याप्त आधार नहीं है। यह मानना अधिक उचित होगा कि ये रूप निश्चयार्थ के ऐसे रूप हैं जो क्रिया की वास्तविकता के संबंध में अप्रत्यक्षता सूचित करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। स्मरण रहे कि वह अनुमानात्मक अर्थ, जिसके कारण अनुसंधानकर्ता इन रूपों को अलग अर्थ (mood) मानने के लिये प्रेरित होते हैं, निश्चयार्थ के भविष्यकालिक अर्थ से समकालीन स्तर पर व्युत्पन्न प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त एक रूप विचार संबंधी तथ्य भी इस धारणा के विरुद्ध है कि उपरोक्त तीन रूप एक अलग अर्थ (mood) के हैं। अगर "होगा" निश्चयार्थ का रूप न हो तो शेष सब क्रियाओं के भविष्यकालिक रूप को निश्चयार्थ का रूप नहीं मानना चाहिये। लेकिन यह विचार कि सब क्रियाओं का भविष्यकालिक रूप (जैसे—"बोलेगा", "पढ़ेगा", हँसेगा", "चलेगा" आदि) निश्चयार्थ के रूप नहीं हैं, निरर्थक प्रतीत होता है। वास्तव में केवल "होना" का भविष्यकालिक रूप वर्तमानकालिक या भूतकालिक अनुमान सूचित करने के लिये प्रयुक्त होता है और इस बात का भाव यह है कि भविष्यकालिक रूप का यह अनुमानात्मक अर्थ किसी भी क्रिया का व्याकरण संबंधी मौलिक अर्थ नहीं है। अगर क्रिया "होना" का भविष्यकालिक रूप निश्चयार्थ के बाहर नहीं है, तो यही दशा इस रूप की सहायता से बने हुये वियोगात्मक रूपों की भी है, क्योंकि क्रिया "होना" के भविष्यकालिक रूप पर ऐसे वियोगात्मक रूपों से अलग विचार करना ठीक नहीं है।

फलस्वरूप हिन्दी भाषा में एक अधिकारपूर्ण विशेष अर्थ का, जिसको हम संदेहार्थ कह सकें, अस्तित्व मानने के लिये न अर्थ विज्ञान संबंधी आधार पर्याप्त है, न रूप विचार संबंधी। प्रस्तुत समस्या को हल करने का यह परिणाम हो सकता है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर प्रेमसागर जैन

# कवि बनारसीदास

मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में बनारसीदास का नाम सबसे पहले आता है। उनका जन्म वि० सं० १६४३ और दिवावसान वि० सं० १७०० में हुआ था। उनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि वे एक जन्मजात कवि थे। व्यापारी खान्दान में जन्म लेने के नाते उन्हें जीवन भर व्यापार करना पड़ा, किन्तु उसमें उनका मन नहीं लगा, असफलता ही मिली। उनके अन्तरमानस की आध्यात्मिक प्रवृत्ति निरन्तर उभर-उभर कर काव्य के रूप में प्रस्फुटित होती रही है। उनकी कृतियां उत्तम कोटि के काव्य की निदर्शन हैं।

## पारिवारिक जीवन[1]

कवि बनारसीदास जी के पितामह श्री मूलदास जी हिन्दी और फारसी के विद्वान थे। नरवर के नवाब ने उन्हें अपना मोदी नियुक्त किया था। वि० सं० १६०८, सावन सुदी ५, रविवार के दिन मूलदास के घर पुत्र-जन्म हुआ। उसका नाम खड़गसैन रक्खा गया। वि० सं० १६१३ में मूलदास का स्वर्गवास होगया। उनकी धन-सम्पत्ति नवाब ने ले ली। माँ-बेटे जौनपुर में आकर रहने लगे। वहाँ खड़गसैन की ननसाल थी। नाना मदनसिंह चिनालिया जौनपुर के प्रसिद्ध जौहरी थे। उस समय का जौनपुर अधिक समृद्धिशाली था। वहाँ हीरे और जवाहिरात का बहुत ऊँचा व्यापार होता था। वह चार कोस में बसा हुआ था। उसमें ५२ बाजार थे। इस नगर को पठान जौनसाह ने बसाया था। बनारसीदास के समय में जौनपुर का नवाब कुलीचरण था, जिसके अत्याचार से पीड़ित होकर जौहरी इधर-उधर भाग गये थे।

खड़गसैन जी बड़े होकर आगरा आये और सुन्दरदास जी के साथ व्यापार करने लगे। इसके पूर्व ये कुछ समय तक बंगाल के सुल्तान लोदीखां के पोतदार भी रहे थे। सुन्दरदास के साझे में व्यापार खूब चला। उसी समय इनका विवाह मेरठ के सूरदास श्रीमाल की पुत्री के साथ हो गया। प्रथम पुत्र के स्वर्गवासी होने पर उन्होंने, रोहतक के पास की 'सतीमाता' की जात की। दो बार जात करने पर उनके वि० सं० १६४३, माघ सुदी एकादशी रविवार के दिन, एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम विक्रमाजीत रक्खा गया। छः माह के बालक को लेकर वे भगवान

---

१. बनारसीदास का लिखा हुआ 'अर्ध कथानक' है, जिसके आधार पर यहाँ उनका जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पार्श्वनाथ की पूजा करने के लिये बनारस गये। वहाँ उनकी प्रार्थना पर पुजारी ने आशीर्वाद दिया, "भगवान पार्श्वप्रभु के यक्ष ने मुझसे प्रत्यक्ष हो कर कहा है कि इस बालक की कोई चिंता नहीं रहेगी, यदि पार्श्वप्रभु के जन्म के स्थान के नाम पर इसका नाम रक्खा जायेगा।" उसके निर्देशानुसार विक्रमाजीत बनारसीदास हो गये।

ग्यारह वर्ष की उम्र में, अर्थात् वि० सं० १६५४, माघ सुदी १२ को, खैराबाद के कल्याणमल की पुत्री के साथ उनका विवाह हुआ। जिस दिन पुत्र-वधू घर में आई, उस दिन खड़गसैन की दूसरी पुत्री का जन्म और नानी का मरण हुआ। तीनों काम एक साथ किये गये। बनारसीदास जी के तीन विवाह हुए, जिनमें से प्रथम दो स्त्रियाँ क्रमशः स्वर्गवासिनी हो गईं। बनारसीदास के ९ बालक जन्मे, सभी काल-कवलित हो गये। उनमें दो लड़कियाँ और सात लड़के थे। उस पर बनारसीदास जी ने यह कह कर सन्तोष धारण किया——

**तत्त्वदृष्टि जो देखिये, सत्यारथ की भाँति।**
**ज्यौं जाकौ परिगह घटै, त्यौं ताकौं उपसांति॥**

## शिक्षा-दीक्षा

आठ वर्ष की उम्र में बनारसीदास, पाठशाला में विद्या ग्रहण करने जाने लगे। वहाँ गुरु के पास वे, एक वर्ष में ही लिखना-पढ़ना सीख गये। इसके पश्चात् १४ वर्ष के होने पर, उन्होंने पं० देवदत्त के पास विद्याभ्यास किया और नाममाला, अनेकार्थ, ज्योतिष, अलंकार, कोकशास्त्र और चार सौ फुटकर श्लोक पढ़ें। इसी समय जौनपुर में उपाध्याय अभयधर्म जी आये, उनके साथ भानुचन्द और रामचन्द नाम के दो शिष्य भी थे। मुनि भानुचन्द से बनारसीदास का स्नेह हो गया; और वे उनके पास विद्याध्ययन करने लगे। मुनि जी से उन्होंने पंचसंधि, छन्द, कोश जैनस्तवन, सामायिक तथा प्रतिक्रमणादि पाठ सीखे। इनके प्रति बनारसीदास जी की अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने अपनी प्रत्येक रचना में, यहाँ तक कि नाटक 'समयसार' में भी, उनका स्मरण किया है। बनारसीदास की कवि-प्रतिभा जन्मजात थी। उन्होंने १५ वर्ष की अल्पायु में एक नवरस रचना लिखी, जिसमें आसिखी का 'विसेस वरनन' था। उसमें एक हजार दोहा-चौपाई थे। श्रेष्ठ ज्ञान होने पर उन्होंने यह रचना गोमती में प्रवाहित कर दी। इससे उनकी कवित्त्व-शक्ति का परिचय तो मिलता ही है।

बनारसीदास का वंश श्रीमाल और गोत्र बीहोलिया था। इनकी उत्पत्ति के विषय में बनारसीदास ने लिखा है ——रोहतक के पास बिहोली नाम का गांव था, जिसमें राजवंशी राजपूत रहते थे। वे सब एक जैन गुरु के उपदेश से जैन हो गये। णमोकार मंत्र की माला पहनने के कारण उनके कुल का नाम श्रीमाल पड़ा। वहाँ के राजा ने उनके गोत्र का नाम बिहोलिया रख दिया।[1] इस पर टिप्पणी करते हुए पं० नाथूराम प्रेमी ने लिखा है, "इसमें इतना तो ठीक मालूम होता है कि बिहोली गांव के कारण इनका गोत्र बीहोलिया हुआ, जैनों के अधिकांश गोत्रों के नाम स्थानों

---

**१. अर्ध कथानक, संशोधित संस्करण, दोहरा ८-१०, पृ० २।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के कारण ही रक्खे गये हैं, परन्तु समग्र श्रीमाल जाति के उत्पत्ति स्थान के विषय में वे कुछ नहीं कहते।"[१] प्रेमी जी की दृष्टि में श्रीमाल जाति की उत्पत्ति, श्रीमाल स्थान से हुई, जो अब भिन्न-माल कहलाता है। इसके खण्डहर अहमदाबाद से अजमेर जाने वाली रेलवे लाइन पर, पालनपुर और आबू स्टेशन से लगभग ५० मील दूर, गुजरात की ओर अवस्थित हैं। हुएनसांग के समय में यह नगर गुर्जरदेश की राजधानी थी।

## दो संतों से मिलन

कहा जाता है कि बनारसीदास जी की भेंट महात्मा तुलसीदास से हुई थी। तुलसीदास जी ने रामायण की एक प्रति बनारसीदास जी को दी थी और उन्होंने "विराजै रामायण घट माहिं"[२] पद की रचना कर रामायण के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की थी। तुलसीदास जी का स्वर्गवास वि० सं० १६८० में हुआ था, उस समय बनारसीदास जी की अवस्था ३७ वर्ष की थी। दोनों की भेंट होना असंभव तो नहीं है। पं० नाथूराम जी प्रेमी का कथन है—यदि गोस्वामी तुलसीदास से साक्षात् होने की बात सच होती, तो उसका उल्लेख अर्धकथानक में अवश्य होता।[३] हो सकता है कि इस घटना को गौण समझ कर ही उन्होंने अपने जीवन-वृत्त में कोई स्थान न दिया हो। यह सच है कि तुलसी का यश उनके जीवनकाल में नहीं था। इसके अतिरिक्त वे तुलसी की रामायण की प्रशंसा पहले ही कर चुके थे।

दूसरे संत सुन्दरदास जी हैं, जिनसे बनारसीदास की भेंट हुई थी। सुन्दरदास जी का जन्म वि० सं० १६५३ और मृत्यु वि० सं० १७४६ में हुई।[४] उनका रचनाकाल वि० सं० १६५४ से आरम्भ हुआ था। दोनों समकालीन थे। सुन्दर ग्रन्थावली के सम्पादक पं० हरनारायण शर्मा ने दोनों की भेंट होने की बात लिखी है। उन्होंने यह भी लिखा है कि दोनों में, आपस में पद्यों का आदान-प्रदान भी हुआ था। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इस भेंट को संभव माना है। 'अर्धकथानक' में इस घटना का भी उल्लेख नहीं है। बनारसीदास स्वयं संत थे और उनमें संत समागम की इच्छा स्वाभाविक थी।

## बनारसीदास और उनका सम्प्रदाय

बनारसीदास जी का जन्म श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुआ था, किन्तु न वे श्वेताम्बर थे और

---

१. वही, परिशिष्ट, पृ० ११८।

२. यह पद बनारसी विलास में संकलित है। देखिए, बनारसी विलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० २३३।

३. अर्धकथानक, संशोधित संस्करण, भूमिका, पृ० ९२।

४. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००८, द्वितीय संस्करण, पृ० २९३-९५।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



न दिगम्बर। उस समय आगरा में 'अध्यातिमियों' की एक सैली या गोष्ठी थी, जिसमें सदैव अध्यात्म-चर्चा हुआ करती थी। बनारसीदास जी उसी के सदस्य थे।

'समयसार' की राजमल जी कृत बालबोध टीका पढ़कर बनारसीदास को अध्यात्मचर्चा में जो रुचि उत्पन्न हुई थी, वह वि० सं० १६९२ में, पाण्डे रूपचन्द जी से 'गोमट्टसार' पढ़ने के उपरांत परिष्कृत हुई। परिणामस्वरूप वे अध्यात्म मत के पक्के समर्थक बन सके। यद्यपि बनारसीदास के पहले ही आगरा में अध्यातिमियों की 'सैली' थी, किन्तु उनके आने के बाद, उसमें स्थायित्व आया।

बनारसीदास जी के पांच साथी थे—रूपचन्द्र, चतुर्भुज, भगवतीदास, कुंअरपाल, और धर्मदास।[1] ये सब दिन और रात अध्यात्म सम्बन्धी केवल चर्चा ही नहीं करते थे किन्तु तदनुरूप साहित्य-सृजन भी करते थे। बनारसीदास और उनके इस साहित्यिक दल ने अध्यात्मवाद को अनुभूतिमय काव्य का रूप दिया, जिससे उसमें स्थायित्व तो आया ही, आकर्षण भी उत्पन्न हुआ। बनारसीदास के बाद का समूचा जैन हिन्दी साहित्य, उनके काव्यों की अन्तश्चेतना से प्रभावित है।

## जीवन की प्रमुख घटनायें[2]

**१. आसिखी**—१४ वर्ष की उम्र में ही बनारसीदास आसिखबाज हो गये। पिता जौहरी थे। उनके मणि-माणिक्य और हीरा-जवाहिरातों को चुराकर वे चन्द्रमुखियों के चरणों पर चढ़ा देते। यह आसिखी का भाव इतना तीव्र था कि मुनि भानुचन्द से धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने पर भी रुका नहीं। दोनों काम एक साथ चले, विद्या प्राप्ति और आसिखबाजी। इसके दो परिणाम हुए—नवरस रचना का निर्माण और 'गर्मी' की बीमारी।

यह बीमारी उस समय हुई, जब वे ससुराल में गौना कराने गये थे। वहाँ छः माह पड़े रहे। अपनी करुण दशा का चित्र उन्होंने स्वयं खींचा है। किन्तु यह बीमारी भी आसिखी के तीव्र प्रवाह को अवरुद्ध न कर सकी। लौटने पर फिर यह कार्य धड़ल्ले से चला। गौना करा लाने पर भी रुका नहीं।

एक दिन शुभ भाव का उदय हुआ। 'नवरस रचना' गोमती में फेंक दी। मित्र हा हा कर उठे। हाथ मलते हुए घर चले गये। इस क्षण ने उनके जीवन को एक नया मोड़ दिया। बनारसीदास ने फिर जीवन भर आसिखी नहीं की।

---

**१. रूपचन्द पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।**
**तृतीय भगौतीदास नर, कौरपाल गुनधाम॥**
**धर्मदास ये पंच जन, मिलि बैठें इक ठौर।**
**परमारथ चरचा करें, इनके कथा न और॥**
**(नाटक समयसार, अन्तिम प्रशस्ति, दोहा २६-२७)**

**२. इन घटनाओं के लिए देखिए अर्ध कथानक, संशोधित संस्करण, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**२. खाट के नीचे शयन**--पुत्र के भले लक्षण देखकर खड्गसैन ने बनारसीदास को जवाहिरात, कपड़ा, घी और तेल देकर आगरा में बेंचने के लिये भेजा। इटावे के पास पहुँचकर घनघोर वर्षा हो उठी। किसी ने बैठने तक को स्थान न दिया। गोपुर के बाहर दो चौकीदारों ने अपनी कुटिया कुछ रुपयों की लालच में बनारसी और उनके दो साथियों को सौंप दी। स्वयं घर चले गये। बनारसीदास लेटे ही थे कि एक 'जोरावर' आदमी आया। उसने कहा, तुरन्त चले जाओ अथवा मेरा चाबुक खाओ। तब बनारसी घबड़ा कर बरसते मेंह में चल पड़े। उसने दयालु बन कर बांह पकड़ ली और छाया में बैठाया। जमीन पर एक टाट बिछाया गया, उस पर खाट। खाट पर वह आदमी सोया और उसके नीचे बनारसी अपने साथियों सहित।

**३. कचौड़ियों का प्रासुक भोजन**--बनारसी ने आगरा में आकर सब कुछ गवाँ दिया। खाने तक को न रहा। उन्होंने बाजार जाना बन्द कर दिया। घर में ही बैठे रहते थे। उनके पास 'मधुमालती' और 'मृगावती' नाम की दो पुस्तकें थीं, जिन्हें वे रात को बाँच कर सुनाते थे। दस बीस सुनने वाले भी आ जाते थे, जो कथा सुनकर आशीर्वाद देते हुए उठ जाते थे। उनमें एक कचौड़ीवाला भी था। बनारसीदास उससे प्रति दिन प्रातःकाल उठ कर सेर भर कचौड़ियां उधार लेते थे, उसी का वे सांझ सबेरे प्रासुक भोजन करते थे।

एक दिन एकांत पाकर बनारसीदास ने कचौड़ी वाले से कहा, तुमने बहुत उधार दिया अब आगे मत देना। मेरे पास कुछ नहीं है। दाम कहाँ से लोगे। कचौड़ी वाले ने कहा—बीस रुपये की कचौड़ियाँ खा जाओ, तुमसे कोई कुछ न कहेगा, जी चाहे जहाँ जाओ। बनारसी चुप हो गये। कोई इस बात को नहीं जानता था। इस भाँति छः सात माह बीत गये।

**४. ब्राह्मण का वेश**--आगरा के सेठ ताराचन्द भोठिया ने बनारसीदास को कुछ सौदा देकर पटना में बेंचने के लिये भेजा। दो मित्र साथ थे। साहिजादपुर के आगे मार्ग भूल जाने से एक चोरों के गांव में जा पहुँचे। जब चोर-चौधरी ने डपट कर पूँछा--तुम कौन हो, तो सब के चेहरे विवर्ण हो गये। बनारसी ने उसी समय एक श्लोक पढ़ कर आशीर्वाद दिया। चौधरी ने उन्हें ब्राह्मण समझा और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। वह तीनों को ससम्मान अपनी चौपाल में ले गया। समय पाकर बनारसी ने सूत निकाल कर जनेऊ बटे और तीनों ने एक एक धारण कर लिया। भूमि से मिट्टी ली और तालाब से पानी, माथे पर तिलक लगा लिया। प्रातः होते ही चौधरी घोड़े पर चढ़ कर आया और उन्हें सुरक्षित मार्ग तक पहुँचा गया।

**५. फाँसी की सजा**--आगरा के सेठ सबलसिंह ने, हिसाब साफ करने के लिये, बनारसी को जौनपुर से बुलाया। वे सब काम छोड़कर चल पड़े। एक दिन वे घाटमपुर के निकट कोररा गांव की सराय में आकर ठहरे। उनके साथ १८ आदमी और थे, जिनमें दो मथुरावासी ब्राह्मण भी थे।

एक ब्राह्मण बाजार गया और एक सराफ से रुपयों की रेजगारी ले आया। कुछ समयोपरांत वह सराफ सराय में आया और उस रुपये को खोटा कहने लगा। कलह हुई, ब्राह्मण ने सराफ



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



को बहुत पीटा। सराफ का भाई मुँह का मीठा और हृदय का नीच था। उसने ब्राह्मण के सब रुपये देखने के लिये मांगे और उन्हें खोटा घोषित किया। उसने कोतवाल के पास जाकर शिकायत की कि यहाँ सराय में ठगों का एक गिरोह ठहरा है। कोतवाल और दीवान जांच के लिये आये। फांसी की १९ टिकठी मंगा ली गई, किन्तु दीवान न्यायप्रिय था। बनारसी के एक साथी महेश्वरी के छोटे भाई की ससुराल उसी गांव में थी। समधी के मिल जाने से बात प्रमाणित हो गई कि वे ठग नहीं हैं। इस भांति छुटकारा मिला, अन्यथा सभी को फांसी पर चढ़ा दिया जाता।

६. **जूत-पैंजार का खेल और अध्यात्म-ज्ञान**——चन्द्रभान, बनारसी, उदैकरन और थानसिंह चारों मित्र थे। वे प्रायः जूत पैंजार का खेल खेलते थे, अर्थात् एक दूसरे की पगड़ी छीन लेते थे और एक दूसरे को तीन तीन जूते मारते थे।

इस खेल के उपरांत चारों अध्यात्मज्ञान करने के लिये, नग्न होकर एक कोठरी में घूमते हुए कहते थे——हम मुनि हो गये हैं। हमको कुछ भी परिग्रह नहीं रहा। अपने मुख को अपने ही हाथ से पीटते थे और पुकार कर कहते थे कि हमारे "गुमान" पर पैंजार। वे गीत सुनते थे, बातें सुनते थे, फिर उनकी मजाक बनाते थे और उनका अध्यात्मिक अर्थ निकालते थे, किन्तु उनकी लौ मिथ्यात्त्व में लगी हुई थी।

## बनारसीदास के समय का सामाजिक जीवन

**विवाह और नारी दशा**——उस समय कम उम्र में ही विवाह कर देने की पृथा थी। गौना तीन चार साल बाद होता था। वधू के घर में प्रविष्ट होते समय की घटनाओं का श्रेय वधू को ही दिया जाता था। ससुराल में दामादों का अधिकाधिक आदर सन्मान होता था। विदा कराने के समय दामादों का ससुराल में एक एक माह बने रहना साधारण बात थी। दामाद को पुत्र से भी अधिक माना जाता था।

बारातों में खूब आमोद-प्रमोद होता था। बारात कई कई दिन तक ठहरती थी। नवयुवक अपने मित्रों के साथ बारातों में जाने के लिये लालायित रहते थे। एक बार बनारसीदास ने तो अपना सामान बेंच कर रुपयों का प्रवन्ध किया और बारात में गये।

घर में पत्नियों की कद्र, पति के धन कमाने पर निर्भर थी। जब बनारसी ने आगरा में बाप का दिया हुआ सब धन गँवा दिया, तो खड़गसैन ने बड़ी हाय-तोबा मचाई। इसके साथ ही उन्होंने बनारसी की बहू को मैके भेज दिया, जो मृत्यु पर्यन्त ससुराल में लौटकर नहीं आई। उसकी मृत्यु के समाचार के साथ ही नाई दूसरी लड़की की सगाई भी लाया, जिसे खड़गसैन ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। बनारसीदास उस समय बनारस में थे। रोये तो बहुत, किन्तु जी कड़ा करके रह गये। दूसरी शादी भी कर ली। उसके भी मरने पर तीसरी कर ली।

पति देवता माना जाता था। पत्नी की इस मान्यता को कोई भी परिस्थिति डिगा नहीं सकती थी। गौना करा लाने पर भी बनारसी की आसिखी चलती रही। धन सम्पत्ति बरबाद





CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कर देने पर भी पत्नी की श्रद्धा अटल रही। अपितु उसने अपनी मां से कहकर दो सौ रुपये पतिदेव को पुनः व्यापार करने के लिये दिलवाये। इसके प्रतिकूल नारी को ताड़न का अधिकारी माना जाता था। इटावा की वर्षा में जब एक नारी ने, पानी में भीगते बनारसी को आश्रय स्थान देना चाहा, तो उसका पति उसको पीटने के लिये बांस लेकर उठा।

उस समय वैश्या-पृथा जोरों पर थी। कुलीन खान्दानों में भी उनके नृत्य-गायन का रिवाज था। आगरा के सेठ सबलसिंह की महफिल के कलावंतों में वैश्याओं का प्रमुख स्थान था।

**अंध विश्वास और धर्म**--सत्तरहवीं शताब्दी में अंध विश्वासों को ही धर्म कहा जाता था। व्यक्ति किसी भी जाति अथवा धर्म का हो, अंध विश्वासों में अवश्य ही विश्वास करता था। यदि यह कहा जाये कि अन्ध विश्वासों ने सभी धार्मिक मतभेदों को दूर कर दिया था, तो अत्युक्ति न होगी। जैन होते हुए भी खड़गसैन ने पुत्र-प्राप्ति के लिये सती माता की जात की थी। बनारसी दास ने मोक्ष की लालच में शंखरूप महादेव की वर्षों पूजा की और एक वर्ष तक संडास में बैठकर प्रति दिन दीनार दिलाने वाले मंत्र का जाप किया। एक बार वे अपने दो मित्रों के साथ कोल गये, दो और प्रतिमा के सम्मुख श्रद्धावनत होकर प्रार्थना की थी, "हे नाथ हमको धन दो, यदि लक्ष्मी दोगे तो हम फिर तुम्हारी जात्रा करेंगे।"

**बादशाहों की धार्मिक उदारता**--बनारसी ने अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का शासनकाल देखा था। उस समय धार्मिक उत्पीड़न नहीं था। आगरा के प्रसिद्ध जैन जौहरी हीरानन्द मुकीम पर, अकबर के पुत्र सलीम का विशेष कृपा भाव था। उन्होंने मुकीम को शिखर जी के लिये यात्रा-संघ निकालने में सहायता की थी। इसी भांति सेठ धन्नाराय, एक पठान सुल्तान की सहायता से यात्रा-संघ ले जा सका था। जौनपुर के नवाब के बड़े बेटे चीनी किलिच ने बनारसी से नाममाला, छन्द कोश और श्रुतबोध आदि पढ़े थे। शिलालेखों से स्पष्ट है कि हीरानन्द और धन्नाराय के समय सैकड़ों जैन मन्दिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई थी। बनारसी ने लिखा है कि नाटक समयसार की रचना शाहजहाँ के काल में निर्विघ्न समाप्त हुई। कोई ईति भीति नहीं व्यापी। अकबर की धार्मिक उदारता जग-प्रसिद्ध थी। उन्होंने अनेक जैन साधुओं का शानदार सन्मान किया था।[१] अकबर की मृत्यु का समाचार सुन कर बनारसी बेहोश होकर गिर गये थे।[२]

---

**१. सम्राट् अकबर ने वि० सं० १६३९ में श्री हीरविजय सूरि को दो बार आमन्त्रित किया था। उनका अलौकिक स्वागत हुआ और उन्हें जगतद्गुरु की पदवी दी गई। सम्राट् ने श्री विजयसेन सूरि को भी वि० सं० १६५० में निमन्त्रण दे कर बुलाया था। उन्हें सवाई हीर विजय की उपाधि से विभूषित किया गया था। देखिए, मोहनलाल दुलीचन्द देशाई, जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, १९२६ ई०, पृ० २४१ व ३००।**

**२. अकस्मात् बानारसी, सुनि अकबर कौ काल।**
**सीढ़ी पर बैठ्यौ हुतो, भयौ भरम चित चाल॥**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कुछ नवाबों के अत्याचार की बात 'अर्ध कथानक' में कही गई है, किन्तु उनका उद्देश्य जौहरियों से धन प्राप्त करना भर था। उनके अत्याचार धर्मान्धता से अनुप्राणित नहीं थे।

**ब्राह्मण और साधु**--हिन्दुओं में चतुर्वर्णी प्रथा मौजूद थी, जिसमें ब्राह्मण का शीर्ष स्थान था। जनता के मध्य उसकी पूजा-अर्चा देव की भांति होती थी। चोरों के चौधरी ने बनारसी के आशीर्वादात्मक श्लोक को सुनकर, उन्हें ब्राह्मण समझा, और उद्धत भाव को एक ओर रखकर तुरन्त साष्टांग प्रणाम किया। जनेऊ और तिलक ब्राह्मण के मुख्य चिन्ह माने जाते थे। जनेऊ पहनने का तो अधिकार केवल ब्राह्मण को ही था।

जैनों में श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम के दो सम्प्रदाय थे। उनके साधु इधर उधर घूम घूम कर धर्मोपदेश करते थे। वे चातुर्मास में एक स्थान पर चार माह तक रहते थे। उपाध्याय अभयधर्म अपने दो शिष्यों सहित जब जौनपुर आये, तो उनके स्थान पर दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती थी। खड़गसैन भी अपने पुत्र सहित उनके दर्शन करने गये थे। ये साधु जब तक रहते थे, शिक्षक का काम भी करते थे। उनके उपासरों में शिक्षार्थियों का जमघट रहता था। इन साधुओं को यदि चलते फिरते 'स्कूल' का नाम दिया जाय तो उचित ही होगा।

**शिक्षा**--शिक्षा प्रदान करने के लिये प्रत्येक स्थान पर पाठशालायें बनी हुई थीं। ऐसी ही एक पाठशाला में खड़गसैन ने शिक्षा पाई थी। बनारसीदास की प्रारम्भिक शिक्षा भी उसी में हुई थी। उसमें मुख्य विषय थे—अक्षर ज्ञान और गणित। व्यापारी का लड़का घर पर रेजगारी गिनना और रुपया परखना सीखता था।

माध्यमिक शिक्षा के लिये स्कूल नहीं थे। प्रत्येक नगर में एक दो विशेष पंडित होते थे, जिनके घर ही माध्यमिक शिक्षा के केन्द्र स्थान थे। वहाँ कोश, ज्योतिष, साहित्य और धर्म के साथ-साथ कोकशास्त्र भी अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाता था। ऐसे ही एक पं० देवदत्त से बनारसीदास ने इन सभी विषयों में शिक्षा पाई थी। वे मुनि भानुचन्द के पास भी पढ़े थे। यहाँ प्रारम्भिक धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन ही मुख्य था।

उस समय उच्च शिक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। नालन्दा और तक्षशिला का युग तो बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था। अब तो 'टेम्पलकालिजों' का युग भी नहीं रहा था। जैनों में स्वाध्याय का विशेष रिवाज था। गोष्ठियों में आध्यात्मिक चर्चायें होती थीं। आगरा

---

**आइ तवाला गिरि पर्‌यौ, सक्यौ न आपा राखि।**
**फूटि भाल लोहू चल्यौ, कह्यौ 'देव' मुख-भाखि॥**
**लगी चोट पारवान की, भयौ गृहांगन लाल।**
**'हाइ हाइ' सब करि उठे, मात तात बेहाल॥**
**(अर्ध कथानक, दोहरा २४८-२५०, पृ० २८-२९।)**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में भी अध्यात्मियों की 'सैली' थी। बनारसी का ज्ञान उसी में विकसित हुआ था। अपने जीवन के अन्तिम समय में बनारसीदास 'पंडित' कहलाते थे।

**व्यापार**--अर्ध कथानक में लिखा है कि उस समय पटना, बनारस, जौनपुर, प्रयाग और आगरा व्यापारिक केन्द्र के रूप में विख्यात थे। इन नगरों में बड़े बड़े जौहरी रहते थे। हीरा, जवाहिरात, और मणि-माणिक्यों की बिक्री अधिक होती थी। स्वर्ण एक गौण पदार्थ माना जाता था।

एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिये, व्यापारी लोग काफिलों में ही चलते थे। ग्रामीण और नागरिकों का उनके प्रति व्यवहार अच्छा होता था, किन्तु चोर डाकुओं का भय भी कम नहीं था। अपेक्षाकृत दृष्टि से इस समय शान्ति थी और मार्ग में सुरक्षा का प्रबन्ध था। छोटे-छोटे सामन्त और जमींदार व्यापारियों के काफिलों से कर वसूल करते थे। हुण्डियाँ खूब चलती थीं।

धन की आवश्यकता पड़ने पर नवाब लोग व्यपारियों को ही पकड़ते थे। एक बार जौनपुर के नवाब कुलीचखां ने जौहरियों को कोड़ों से पिटवाया था। उन्होंने फिर भी रुपया नहीं दिया और जौनपुर छोड़कर भाग गये। किन्तु मुगल बादशाहों का दृष्टिकोण व्यापक था। वे जब कभी व्यापारियों के प्रपीड़न की बात सुनते तो नवाबों को दण्ड देते थे। जौनपुर के सूबेदार के उपर्युक्त अचारण की शिकायत जब बादशाह के पास पहुंची, तब उसे वापिस बुला लिया गया और यदि वह रास्ते में न मर जाता, तो अवश्य कड़ा दण्ड दिया जाता।

## साहित्यिक रचनायें और उनका परिचय–

बनारसीदास ने नवरस रचना, नाममाला, नाटक समयसार, बनारसी विलास, अर्धकथानक, मोहविवेक युद्ध, मांझा और कुछ फुटकर पदों की रचना की थी। नवरस रचना का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

**नाममाला**--इसकी रचना वि० सं० १६७०, आश्विन सुदी १० को जौनपुर में हुई थी। यह एक छोटा सा शब्दकोश है। इसमें १७५ दोहे हैं। यद्यपि इसका मुख्य आधार धनञ्जय नाम माला थी, किन्तु उसमें हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत तीनों भाषाओं के शब्दों का समावेश हुआ है। यह एक मौलिक कृति है। इसका प्रकाशन वीर सेवामन्दिर दिल्ली से हो चुका है।

**नाटक समयसार**[1]–नाटक समयसार बनारसीदास की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इस का निर्माण आगरा में, वि० सं० १६९३, आश्विन सुदी १३ रविवार के दिन हुआ था। उस समय बादशाह शाहजहाँ का राज्य था।

---

**१. नाटक समयसार का प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है, जिनमें जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित नाटक समयसार प्रामाणिक है।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नाटक समयसार में ३१० सोरठा-दोहे, २४५ सवैया-इकतीसा, ८६ चौपाई, ३७ तेईसा सवैया, २० छप्पय, १८ कवित्त, ७ अडिल्ल, और ४ कुंडलियां हैं।

नाटक समयसार का मुख्य आधार है—आचार्य अमृतचन्द्र (९वीं शताब्दी विक्रम) की आत्मख्याति टीका, जो आचार्य कुन्द-कुन्द के प्राकृत में लिखे गये समयसार पाहुँड़ पर संस्कृत कलशों में लिखी गई थी और राजमलजी पांडे (१६वीं शताब्दी विक्रम) की बालबोधिनी टीका जो हिन्दी गद्य में रची गई थी किन्तु नाटक समयसार केवल अनुवादमात्र नहीं है, उसमें पर्याप्त मौलिकता है। आत्मख्याति टीका में केवल २७७ कलशे हैं जब कि नाटक समयसार में ७२७ पद्य हैं। अंत का १४वां गुण स्थान अधिकार तो बिलकुल स्वतंत्ररूप से लिखा गया है। प्रारम्भ और अंत के १०० पद्यों का भी आत्मख्याति टीका से कोई सम्बन्ध नहीं है जिनका सम्बन्ध है, वे भी नवीन हैं। 'कलश' का अभिप्राय तो अवश्य लिया गया है, किन्तु विविध दृष्टान्तों उपमा और उत्प्रेक्षाओं से ऐसा रस उत्पन्न हुआ है, जिसके समक्ष कलश फीका जँचता है। नाटक समयसार साहित्यिक ग्रन्थ है, जब कि समयसार पाहुड़ और उसकी टीकायें दर्शन से सम्बन्धित हैं। नाटक समयसार में कवि की भावुकता प्रमुख है, जब कि समयसार पाहुड़ में दार्शनिक का पाण्डित्य है।

अपने स्वभाव व गुणपर्यायों में स्थिर रहने को समय कहते हैं। छहों द्रव्य अपने गुण-पर्यायों में स्थिर रहते ही हैं। अतः वे सब समय कहलाते हैं। उन सब में आत्म-द्रव्य ज्ञायक होने के कारण सारभूत है, और उसका ही मुख्यतया कथन करने के कारण इसका नाम समयसार है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार को नाटक नहीं कहा था, किन्तु अमृतचन्द्राचार्य ने अपने संस्कृत-कलशों में उसे नाटक की संज्ञा प्रदान की। बनारसीदास ने भी उसे नाटक कहा है। इसमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व अभिनय करते हैं। उनमें प्रधान होने के कारण जीव नायक है और अजीव प्रतिनायक। दोनों के प्रतिस्पर्द्धी अभिनय विभिन्न रूपकों के द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं। आत्मा (जीव) के स्वभाव और विभाव को नाटक के ढंग पर बतलाने के कारण इसको नाटक समयसार कहते हैं।

इस नाटक में एक से एक उत्तम रूपक हैं। एक स्थान पर आत्मा और पातुरी का रूपक-बनाया है। एक नटी वस्त्र और आभूषणों से सज कर, रात के समय नाट्यशाला में पट आडा करके आती है, तो किसी को दिखाई नहीं देती। किन्तु जब दोनों ओर के शमादान ठीक करके पट हटाया जाता है, तो सभा के सब लोग उसको भलीभांति देख लेते हैं। ठीक ऐसे ही आत्मा, जो मिथ्यात्त्व के पर्दे में ढका हुआ था, जब ज्ञान के शमादान के उजाले में प्रकट होता है, तो सभी जीव उसे देख सकते हैं। आत्मा को इस रूप में देखने वाले जीव संसार के सायक बनते हैं—

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, पटना, दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ (मारवाड़,) फरवरी १९५३, दूसरी गाथा, अमृतचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका, पृ० ८-९।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकैं।
दुहूं ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजे,
सकल सभा के लोग देखैं दृष्टि धरिकैं।।
तैसें ज्ञानसागर मिथ्याति ग्रन्थि भेदि करि
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूं लोक भरि कैं।
ऐसो उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता संभारै जग-जाल सौं निसरिकैं।।[१]

**बनारसी विलास**——[२]यह बनारसीदास की फुटकर रचनाओं का संग्रह है। आगरा के दीवान जगजीवन ने वि० सं० १७०१, चैत्र सुदी २ को उनकी बिखरी रचनाओं को एक स्थान पर संकलित कर दिया था और उस संकलन का नाम रक्खा था 'बनारसी-विलास'।

बनारसीविलास में बनारसीदास की ५० रचनायें संग्रहीत हैं। उनमें 'कर्म प्रकृति विधान' नाम की अन्तिम कृति भी है, जो फागुन सुदी ७, वि० सं० १७०० को समाप्त हुई थी। सूक्त मुक्तावली संस्कृत के सिन्दूर प्रकरण का पद्यानुवाद है। इसमें कुछ पद्य बनारसीदास के मित्र कुंवरपाल के रचे हुए हैं। ज्ञान बावनी पीताम्बर नाम के किसी कवि की रचना है। उस में बनारसीदास का गुणकीर्त्तन किया गया है। अवशिष्ट रचनाओं में जिनसहस्रनाम, शिवमंदिर, शिवपच्चीसी, भवसिन्धु चतुर्दशी, शारदाष्टक, नवदुर्गाविधान, अष्टप्रकारी जिनपूजा, दसबोल, अजितनाथ के छंद, शांतिनाथ स्तुति, साधुवंदना और फुटकर पद्य पंचपरमेष्ठी और देवियों की भक्ति से सम्बन्धित हैं। ध्यान बत्तीसी, अध्यात्मफाग, अध्यात्मगीत, अध्यात्मपद पंक्ति और परमार्थ हिंडोलना, आत्म, ब्रह्म अथवा सिद्धि की वंदना में रची गई कृतियां हैं।

बनारसीविलास की रचनायें केवल भक्ति और आध्यात्मिकता की दृष्टि से ही नहीं, अपितु उत्तम काव्य की दृष्टि से भी खरी हैं। बनारसीदास को शब्दों के प्रयोग का उपयुक्त ज्ञान था। उनके काव्य में अलंकारों की भी छटा है, किन्तु नैसर्गिकता उसका मूल प्राण है। बनारसीदास रस को काव्य की आत्मा मानते थे। कवि ने आत्मा को 'पिया' बनाया है। उसके दर्शन होते ही जीव की लज्जा दूर हो जाती है। पिय को प्राप्त करने के लिये जीव रूपी पत्नी ने बड़े-बड़े प्रयत्न किये हैं। अन्त में शारदा और गुरु की कृपा से वह प्राप्त हो ही गया——

---

१. नाटक समयसार, बम्बई, वि० सं० १९८६, ७।६१, पृ० २१५।

२. बनारसीविलास का प्रकाशन जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई और नानूलाल स्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर से हो चुका है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वालम तुहुं तन चितवन गागरि फूटि।
अँचरा गौ फहराय सरम गै छूटि॥
हूं तिक रहूँ, जे सजनी रजनी घोर।
घर करकेउ न जानै चहुँ दिसि चोर॥
पिउ सुधियावत वन में पैसिउ पेलि।
छाडत राजडगरिया भयउ अकेलि॥
संवरी सारद सामिनि औ गुरु भान।
कछु बलमा परमारथ करौ बखान॥ (अध्यातम-पद-पंक्ति, १-४)

**अर्ध कथानक**––अर्ध कथानक की रचना वि० सं० १६९८ में हुई थी। इसमें बनारसीदास के जीवन के ५५ वर्ष की आत्मकथा है। यह नाम स्वयं बनारसीदास का दिया हुआ है। उन्होंने अपनी १०० वर्ष की आयु मान कर, ५५वर्षों को आधी आयु में शामिल किया, और इसका नाम अर्धकथानक रक्खा। किन्तु इस रचना के दो वर्ष उपरान्त ही उनका स्वर्गवास होगया। अतः बनारसीपद्धति में आगे का जीवन होगा, एक अनुमानमात्र है।

अर्धकथानक में ६७५ दोहे-चौपाइयां हैं। उनमें बनारसीदास के जीवन के मर्मस्पर्शी घटनाओं के साथ साथ तत्कालीन भारत की सामाजिक अवस्था का भी यथार्थ परिचय अंकित है। इसके अध्ययन से ३०० वर्ष पहले के भारतीय जीवन का पूर्ण परिचय मिल जाता है।

अर्धकथानक एक सफल आत्म-कथा है। इसमें जो कुछ कहा गया है संक्षेप में और निष्पक्षता के साथ। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि––अपने को तटस्थ रख कर अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों पर दृष्टि डालना, उनको विवेक की तराजू पर बावन-तोले पाव रत्ती तौलना, सचमुच एक महान कलापूर्ण कार्य है।[1] डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है––कभी-कभी यह देखा जाता है कि आत्म-कथा लिखने वाले अपने चरित्र के कालिमापूर्ण अंशों पर एक आवरण सा डाल देते हैं, किन्तु यह दोष प्रस्तुत लेखक में बिलकुल नहीं है।[2] डा० मोतीचन्द ने लिखा है––इसमें सन्देह नहीं कि भाषा, भाव, सहृदयता और उपयोगी विवरणों से भरा अर्धकथानक न केवल हिन्दी साहित्य का ही वरन् भारतीय साहित्य का एक अनूठा रत्न है।[3]

अपने अन्तिम काल में बनारसीदास अध्यातमियाँ सम्प्रदाय के सामर्थ्यवान सदस्य थे। वे अन्ध-विश्वासों के विशृंखलमार्गों से होकर आध्यात्मिकता तक पहुँचे थे, अतः उसकी

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी, हिन्दी का प्रथम आत्म चरित, अनेकांत, वर्ष ६, किरण पृ० २१।

२. देखिए अर्ध कथा, डा० माताप्रसाद गुप्त सम्पादित, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्व-विद्यालय, १९४३ ई०, भूमिका, पृ० १४।

३. डा० मोतीचन्द, एक असफल व्यापारी की आत्मकथा, अर्ध कथानक, बम्बई के संशोधित संकरण में संकलित, पृ० १८।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वास्तविकता से भली भांति परिचित थे। उन्होंने अर्धकथानक में अपने विगत जीवन पर मार्मिक व्यंग किये हैं। कतिपय इस प्रकार हैं–

वह प्रदेस उठि गयौ स्वतंत्र, सठ बनारसी साधै मंत्र।
बरस एक लौं कीनौं खेद, दीनौं नाहिं और कौं भेद ॥२१५॥

\+ + +

संख रूप सिव देव, महासंख बनारसी।
दोऊ मिले अबेव, साहिब सेवक एक से ॥२३७॥

प्रथम पत्नी की मौत का समाचार पाकर, बनारसी और उनके मित्र नरोत्तम दोनों ही ने रुदन किया था। अब आध्यात्मिकता की परिपक्वता के समय, उन्हें वह रुदन भी मिथ्यात्व प्रतिभासित होता है, अतः उसके वर्णन में हल्के व्यंग की झलक है —

यह चीठी बांची तब दुहूँ। जुगल मित्र रोए करि उहूं ॥४४४॥

**मोह विवेक युद्ध[1]**––यह एक रूपक काव्य है। इसमें विवेक को नायक और मोह को प्रतिनायक माना गया है। दोनों में युद्ध होता है और जीत विवेक की होती है। इसमें ११० पद्य हैं, दोहा-चौपाइयों का प्रयोग किया गया है। मोह की ओर से काम और विवेक की ओर से विचार नाम के दो सेनापति परस्पर युद्ध कर रहे हैं। विचार ने ज्ञान-वाण से काम के पंचवाणों को व्यर्थ कर दिया, तब काम ने 'त्रिया शक्ति' चलाई। इस अवसर पर हुए विवाद की कतिपय पंक्तियां इस भांति हैं —

पांचौ बाण जब खाली गया, काम बिचार और तब किया।
त्रिया शक्ति काम कर लई, जाय विचार सौं सनमुख भई।
काम कहै तू यासौं लागि, कहै विचार याहु प्रतसि आगि।
काम कहै गोरी तन चाहि, कहै विचार यहु नागिन आहि ॥४१॥
काम कहै तू रूपहि राचि, कहै विचार विष फल करि बाचि।
काम कहै देखौं छवि गात, कहै विचार पापी यह मात ॥४२॥

**मांझा**––यह एक आध्यात्मिक रचना है। इसमें केवल १३ पद्य हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुर के दीवान बधीचन्द जी के मन्दिर में मौजूद है। इसका एक पद्य देखिए :—

नर भौ हार अकारज की तो समझ न षेल्यो पासा।
मानष जनम अमोलक हीरा हार गवायौ षासा॥
चलो होय दुषदा भाजन बाद सुषादी आसा।
दसै दष्टा ते मिलन दुहेला नर भव गत विचवासा॥

---

१. यह रचना श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल को जयपुर के बड़े मन्दिर के शास्त्रभंडार की सूची बनाते समय उपलब्ध हुई थी। अब इसका प्रकाशन 'वीर पुस्तक भण्डार, मनिहारों का रास्ता, जयपुर' से हुआ है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर मोहन अवस्थी

# खड़ीबोली के काव्य में मुहावरे

वाक्य की प्रभावोत्पादन शक्ति जिस प्रकार क्रिया के प्रयोग में है, उसी प्रकार उसका आकर्षण और मार्मिकता मुहावरों पर निर्भर है। जीवित भाषा की एक पहचान है उसके प्रचलित मुहावरे। जब तक भाषा जन-सम्पर्क में रहती है, उसमें लोक के अनुभव भी घुलते रहते हैं। भाषा के इस मुक्त प्रवाह को ये अनुभव नूतन रंग देते हैं। जिन भाषाओं की गति रुक जाती है उनमें मुहावरों की संख्या सीमित हो जाती है। उर्दू भाषा का जन्म ही जनता से सम्पर्क स्थापित करने के लिए हुआ था; इसीलिए वह बड़ी मुहावरेदार है। यदि प्रथम चार दशकों के खड़ीबोली के काव्य का परीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि संस्कृतादर्शों में पली अतीतोन्मुखी हिन्दी-काव्य-भाषा लोक से दूर थी। अस्तु, जब खड़ीबोली में कविता आरंभ हुई तो उसमें मुहावरों का प्रयोग नहीं के बराबर था।

ब्रजभाषा शताब्दियों से मँजती चली आ रही थी। मुहावरे, लोकोक्तियाँ उसके काव्य का शृंगार था। ऐसे जो मुहावरे खड़ीबोली में स्वाभाविकता से समाविष्ट हो गए उनसे कविता में चमक आ गई—

**शंख जो बराबरी की घोषणा सुनावेगा तो**
**नार कट जायगी उदर फट जायगा।**
**'शंकर' कली की छवि कदली दिखावेगा तो**
**ऐंठ अँट जायगी छवाड़ छट जायगा।।**

परन्तु न तो ब्रजभाषा के सभी मुहावरे खड़ीबोली-काव्य की स्वसम्पत्ति हो सकते थे और न यह आवश्यक था कि प्रत्येक कवि ब्रजभाषा का अनन्य प्रेमी हो। अतएव अधिकांश रचनाएँ या तो मुहावरेहीन हैं या उनके प्रयोग में प्रयत्नशीलता स्पष्टतः झांकती है। 'हरिऔध' के चौपदों में मुहावरे सहजरूप में नहीं आए, प्रत्युत बलपूर्वक बिठाए गए हैं। उनकी कविता मुहावरे याद कराने का कोष है, मुहावरेदार काव्य नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मुहावरों की भरमार करने पर तुला हुआ है:—

**हैं पड़े भूल के भुलावों में**
**कब भरम ने भरम गँवा न ठगा।**
**क्या कहें हम अभाग की बातें**
**आज भू-भाग-भूत भवन भगा।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



क्यों न रहती सदा फटी हालत
पास सुख किस तरह फटक पाता।
करतबों से फटे रहे जब हम
भाग कैसे न फूट तब जाता?

हिन्दी-कविता लोक-जीवन से जितनी अधिक सम्पृक्त होती गई मुहावरों की संख्या में उतनी ही वृद्धि होती गई। भाषा की सरलता के साथ-साथ मुहावरे भी सहजरूप से आने लगे। इस विषय में प्रेरणा उर्दू से मिली। जो कवि उर्दू का अध्ययन करके हिन्दी में उतरे उनकी कविताओं में एक नवीन फड़क के दर्शन हुए। हिन्दी गद्य में जो शैली प्रेमचन्द जी ने दी कविता में वैसी ही चलती हुई मुहावरेदार शैली पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' 'त्रिशूल' द्वारा प्राप्त हुई। उनकी कविताओं में हिन्दी-उर्दू दोनों के मुहावरे सहजतया आ जाते हैं:—

आँखों में डालो डेरा, हो जाए दूर अँधेरा।

× × ×

मेरे नयनों के तारे, जीवन के एक सहारे।
अब चले प्राण बेचारे, चरणों के निकट तुम्हारे।

इन दशकों के प्रथम चरण में कवि भाषा के विषय में अधिक सतर्क थे। उनकी कविता हृदय का उद्गार होने पर भी मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित होकर निकलती थी। जो मुहावरे समाज में जिस रूप में प्रचलित हैं उन्हें उसी रूप में वे अपनी कविता में रख देते थे:—

जब लगीं ठोकरें शीश पर
निकल पड़े मैदान में
जीवन की कुछ आशा बँधी
पड़ी जान कुछ जान में।[1]

मुहावरे वस्तुतः सामाजिक वस्तु हैं, किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं। उनका एक शब्द इधर से उधर करना समाज के हृद्स्पन्दन को बदलने की चेष्टा करना है। इस तथ्य को न समझकर जिन कवियों ने निरंकुशता दिखाई उनकी काव्यश्री धूमिल पड़ गई। 'कमर टूट जाना' मुहावरा है। इसको 'कटि टूटी'[2] लिखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच कमर टूट गई हो। यह तो शब्दानुवाद मात्र का फल है, किन्तु ऐसे उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं जिनमें कवि ने शब्दों को इधर-उधर करके या बिल्कुल बदलकर भाव का मात्र नाश ही नहीं किया वरन् एकदम विरोधी भाव भी सामने रख दिए गये हैं—

---

१. माधुरी, नवम्बर १९२८, पृ० ५६८
२. सिर पर अनंत सा आ टूटा।
कटि टूटी और भाग्य फूटा॥ —गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० १५४



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रक्खी गर्दन तलवारों पर
ये कूद पड़े अंगारों पर।
उर ताने शर बौछारों पर।
घाए बरछी की धारों पर।[1]

'राजपूत दुश्मनों से भिड़ गए', यह कवि का अभिप्रेत अर्थ है। लेकिन 'रक्खी गर्दन तलवारों पर' में आत्मसमर्पण का भाव है, कायरता की ध्वनि है। होना चाहिए 'झेलीं तलवारें गर्दन पर'। शर-बौछारों के आगे छाती तानी जाती है, बौछारों पर नहीं। 'अंगारों में कूद पड़ना' कार्य-काठिन्य की जो व्यंजना करता है वह अंगारों पर कूद पड़ने से प्रकट नहीं होता और तलवार की धार पर चलने में जो साहस है वह बरछी की धार में नहीं।

तात्पर्य यह कि चाहे शब्दानुवाद हो, तद्भव के स्थान पर तत्सम का प्रयोग हो, अथवा शब्द-परिवर्तन हो[2]; किसी भी प्रकार के रंच विकार से मुहावरे का भाव विनष्ट हो जाता है। 'ताली पीटना' (ताली बजाना) की जगह ताली ठोंकना कहना या 'बाँये हाथ का खेल' के बदले बाँये कर का खेल कहना[3] समान रूप से विघातक हैं। अभीप्सित भावाभिव्यक्ति के लिए 'जंगल में मंगल' के स्थान पर न तो वन में मंगल कहा जा सकता है और न 'सुग्गे पढ़ाना' के लिए शुक-अध्यापन। ये प्रयोग जब अक्षुण्ण रहेंगे तभी भावोत्कर्ष में सहायक होंगे।[4]

हिन्दी-कविता में मुहावरों के उपर्युक्त असाधु प्रयोगों के अतिरिक्त ऐसे व्यवहार भी मिलते हैं जिनमें न केवल एक दो शब्द, प्रत्युत मुहावरे में आई क्रिया को ही कवि ने परिवर्तित कर दिया है। 'आँतें निकल पड़ना' के स्थान पर 'आँतें गिर पड़ना' में क्रोध की व्यंजना मंद पड़ जाती

---

१. श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दीघाटी, १९४९, पृ० १४

२. यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की।
वारि पीकर पूछता है घर सदा॥
—पंत : ग्रंथि, सरस्वती, फरवरी १९२६, पृ० १८९

३. अप्सराएं नाच रही होंगी वहाँ ताली ठोक।
—रामचन्द्र शुक्ल, हृदय का मधुर भार, माधुरी, मार्च १९२५, पृ० १९५
मान कर क्या मेरा अनुरोध करोगे एक चित्र तैयार।
तुम्हारे बांये कर का खेल मुझे होगा संतोष अपार॥
—श्रीरत्न शुक्ल : मेरे प्रेम, सरस्वती, फरवरी १९२४, पृ० २४६

४. यदि अपना आत्मिक बल है, जंगल में भी मंगल है।
—गुप्त : साकेत, पृ० १०१
और भी तुमने किया है कुछ कभी, या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी।
गुप्त : साकेत, – पृ० १७



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है।[१] और कभी-कभी तो क्रिया-परिवर्तन से मुहावरे का कोई अर्थ ही नहीं निकलता—

**पहुँचे जहाँ वे अज्ञता का द्वार मानो रुक गया।[२]**

मुहावरा विचार को मूर्त कर देता है, क्रिया को अधिक स्पष्ट बनाता है। देखना और आँखें फाड़कर देखना, अलग-अलग दो भाव प्रकट करते हैं। एक में यांत्रिक क्रिया है, दूसरे में क्रिया के साथ आँखों की उत्सुकता भी जुड़ी हुई है—

**शुक भर-भर आँखें मौन हो देखता है।[३]**

'भर-भर आँखों' में शुक के हृदय की मौन व्यथा छलकती है। मुहावरे अपनी लाक्षणिकता के बिन्दु में अपार भाव-सिन्धु समेटे रहते हैं। उनका अभिधात्मक प्रयोग भाव का अवक्षय है। 'तारे गिनना' का अर्थ है निराश हो प्रतीक्षा में रात काटना। लेकिन यदि कोई कहने लगे कि अमुक की प्रेमिका ने कल दो घंटे तारे गिने या वह १५००० तक गिन पाई थी कि सबेरा हो गया; तो न वह भाव व्यंजित होगा, न अर्थ से ही उसका कुछ सम्बंध लगेगा—

**हाय! न आया स्वप्न भी और गई वह रात**
**सखि, उडुगण भी उड़ चले अब क्या गिनूँ प्रभात।[४]**

जान पड़ता है कि नक्षत्र-गणन-कार्य वास्तव में उर्मिला के सुपुर्द था। सबेरा हो जाने पर उसके सामने एक समस्या उत्पन्न हो गई कि अब वह क्या गिने? कुछ कवियों ने अभिधा को अपसारित कर न-केवल भाव को आपजात किया, वरन् उद्दिष्ट भावना को ही मिट्टी में मिला दिया—

**मैं पी लूँगा अभी रक्त थाल[५]**

'थाल पी लेना' कोई मुहावरा नहीं। सुराही, प्याला और गिलास पीते लोग देखे गए हैं थाल पीते नज़र नहीं आये। मुहावरा है 'खून पीना'। इसमें खून की मात्रा निश्चित न होने से ही लक्षणा है। मैं आध पाव खून पी लूँगा या थाल भर खून पी लूँगा में अभिधा की भी हत्या हो गई है।

---

१. ठाकुर ने त्योरियाँ के साथ तलवार भी
खींच ली तुरत और क्रोध कर यों कहा।
पार कर दूँगा अभी आंते गिर जायेंगी।
—गुप्त : मंगलघट, १९२७, पृ० २०५

२. गुप्त : भारतभारती, १९३७, पृ० ७

३. हरिऔध – प्रियप्रवास, द्वि० सं०, पृ० ७२

४. गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २६८

५. हल्दीघाटी, पृ० २०



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जब मुहावरे का एक शब्द भी इधर-उधर करना भाव को अवाङ्मुख बनाना है, तब उसका आविष्कार असंभव-सा प्रतीत होता है। परन्तु ऐसी बात नहीं। जो कवि लोक-भावनाओं को आत्मसात् कर चुके हैं, जिन्हें सामाजिक वाणी के उतार-चढ़ाव का परिज्ञान है उनका अनुभव जब भाषा में ढलकर निकलता है तो वह मुहावरा बन जाता है। आधुनिक काव्य में ऐसे मुहावरे यद्यपि बहुत ही कम संख्या में प्राप्त होते हैं, फिर भी उनका नितान्त अभाव नहीं है।

इस प्रकार के मुहावरे दो वर्गों में रक्खे जा सकते हैं—सादृश्य पर आधारित तथा एकदम नवीन। सादृश्य तथा नवीनता दोनों ही में कवि का निरीक्षण कार्य करता है, किन्तु नवीनता में उसके निजी अनुभव का अंश अधिक रहता है। सादृश्य तो किसी न किसी रूप में नवीन के भीतर भी छिपा रहता है, परन्तु वह सरलतया दृष्टिगोचर नहीं होता। आधुनिक हिन्दी-कविता ने दोनों प्रकार के मुहावरे प्रदान किए हैं—

**ज्वर-सा ताप चढ़ा था जग पर नहीं उतरता था पारा।**[1]

× × ×

**बहुत दिनों पर एक बार तो सुख की बीन बजाऊँ।**[2]

'पारा उतरना' 'पारा चढ़ने' के सादृश्य पर और 'सुख की बीन' 'चैन की वंशी' के आधार पर निर्मित हुए हैं। पारा उतरते हुए कवि ने देखा है, बीन के स्वर में उसने सुख का अनुभव किया है। फिर भी इस मुहावरे के शब्द 'चैन की वंशी' के ही आश्रित कहे जाएँगे। किन्तु जब परिचित पद के विशेष न्यास से भाव-चारुता उत्पन्न होती है तो चमत्कार का ओप प्राचीन को भी नितांत नवीन रंग में रंजित करता है—

**अभी भूख से रोते-रोते लाल हमारा सोया है।**
**धूल भरे हीरा ने मेरे घर भर मुक्ता बोया है।**[3]

'मुक्ता बोना' स्वयं नया मुहावरा है, लेकिन 'हीरे का मुक्ता बोना' नवीनता में नवीनता है। यहाँ प्राचीन दर्पण में नवीन प्रकाश परिवर्तित होकर इन्द्रधनुषी बन गया है। दूसरे प्रकार के मुहावरों में नवीनता के अवदात आलोक से भाव को उदात्तता प्राप्त होती है—

**कानन में कोकिल सुराग सरसावेगा तो**
**होड़ हट जायगी घमंड घट जायगा।**
**कोई कंठ कंठी इस कंठ की बँधावेगा तो**
**हुंडी पट जायगी प्रसाद बँट जायगा।**[4]

---

१. भक्त : वर्षा, माधुरी, आश्विन १९२९, पृ० ५४९
२. प्रसाद : कामायनी, नवम् स०, पृ० ११२
३. भक्त : धरोहर, विशाल भारत, अक्टूबर १९३७, पृ० ४७६
४. शंकर : वसंतसेना-विलास, सरस्वती, मई १९०७, पृ० ८५



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'कंठी बाँधना' और 'प्रसाद बँट जाना' एकदम नए मुहावरे हैं। 'प्रसाद बँट जाना' 'प्रसाद बँटना' या 'प्रसाद बाँटना' दोनों ही से नितांत भिन्न है। 'कंठी बाँधना' पद साधारण क्रिया-रूप में तो सदियों से प्रचारित था, किन्तु यहाँ अपनी व्यंजना से उसने जो नूतन अर्हता प्राप्त की है, वह उसे कभी नहीं मिली थी। कवि ने अपने कौशल से दो निर्जीव शब्दों में नए प्राण फूंक दिए हैं।

ऐसे मुहावरे भी मिलेंगे जो न नवीन हैं, न तो प्राचीनों के मेल से बने हैं, प्रत्युत जो एक साथ दोनों हैं। मुहावरों में अधिकतर भाषा की लक्षणाशक्ति काम करती है, अभिधा प्रायः गौण रहती है। किन्तु जब एक ही मुहावरा अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों के दो स्वाद प्रदान करता है तब ऐसा प्रयोग प्राचीन भी होता है और नवीन भी——

**उठता शरीर मानो अंग में न आता था**
**वक्षःस्थल देख के कपाट खुल जाते थे।**

'कपाट खुल जाना' लक्ष्यार्थ है, लेकिन इसका अभिधेयार्थ भी द्रष्टव्य है कि सवाईसिंह का वक्षःस्थल देखकर ड्योढ़ी पर किसी को उसे रोकने का साहस नहीं होता था और पौर द्वार उसके लिए उन्मुक्त कर दिए जाते थे। यहाँ लाक्षणिक अर्थ प्राचीन है किन्तु उसे अभिधेयार्थ की भांति प्रयोग करना नितांत नवीन है।

सारांश यह कि हिन्दी-कविता बीसवीं शताब्दी के आरंभ में यद्यपि मुहावरों से उतनी सम्पन्न नहीं थी जितनी ब्रजभाषा, लेकिन धीरे-धीरे उसमें मुहावरों का प्रयोग बढ़ रहा है। मुहावरों के नूतन प्रयोग बराबर सामने आ रहे हैं। यदि कविगण इस दिशा में सजग रहकर अंग्रेज़ी या अन्य भाषाओं के शब्दानुवादों से बचते रहें तो हिन्दी सक्षम होकर सरलतया मार्मिक एवं सूक्ष्म भाव अभिव्यक्त करने में अधिकाधिक समर्थ होती जाएगी।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर देवीदत्त शर्मा

# मीराबाई के काव्य में लोकजीवन

मीरा के गीतों में लोकतत्वों का विश्लेषण करने से पूर्व यदि हम लोकगीतों के स्वरूप और टेकनीक का भी कुछ परिचय प्राप्त कर लें तो अनुचित न होगा। साथ ही हमें शिष्टकाव्य और लोककाव्य के उस अन्तर को भी स्पष्ट करना होगा जिसके आधार पर मीरा का समस्त काव्य अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आ सके। यों तो मीरा की गिनती सदा से सन्त परम्परा में होती आई है और उसका काव्य भी शिष्टकाव्य का अंग बना हुआ है किन्तु जब हम उसके काव्य को लोककाव्य की कसौटी पर कसते हैं तो वह उसमें इतना खरा उतरता है कि उसे शिष्टकाव्य नहीं अपितु लोककाव्य ही कहने को बाध्य होना पड़ता है।

यहां हम लोकसाहित्य सम्बन्धी केवल दो विद्वानों के विचार उद्धृत करेंगे। प्रथम का सम्बन्ध है लोकसाहित्य की परिभाषा से और दूसरे का सम्बन्ध है लोकसाहित्य और शिष्टसाहित्य के अन्तर से। लोकगीतों की परिभाषा देते हुए डा० सदाशिव लिखते हैं—"शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द-तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।" इस लोक मानस सम्भूत साहित्य का अलंकृत साहित्य से मुख्य अन्तर क्या है, इस विषय पर प्रकाश डालते हुए भारतीय लोकगीतों के पिता महापंडित रामनरेश जी त्रिपाठी लिखते हैं—"ग्रामगीत और महाकवियों की कविता में अन्तर है। ग्रामगीत हृदय का धन है और महाकाव्य मस्तिष्क का। ग्रामगीत में रस है महाकाव्य में अलंकार। रस स्वाभाविक है और अलंकार मनुष्य-निर्मित।" (क० कौ० भाग० ५ पृ०९)। एक स्थान पर अन्यत्र वह लिखते हैं—"ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं। इनमें अलंकार नहीं केवल रस है, छन्द नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य है।" (वही पृ० १)

कहना न होगा कि मीरा के गीत इन दोनों ही कसौटियों पर इतने खरे उतरते हैं कि उन्हें लोकगीत कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। किन्तु किसी रचना को लोकगीत के सिंहासन पर ला बिठाने के लिए शायद इतना कह देना ही पर्याप्त न होगा। इसके लिए तो हमें विस्तार के साथ लोकगीतों की उन विभाजक विशेषताओं पर पृथक् पृथक् रूप से विचार करना होगा जो उसे अलंकृत अथवा शिष्ट साहित्य से भिन्न सिद्ध करती है।

भारतीय तथा वैदेशिक विद्वानों ने लोकगीतों या गाथाओं की जिन प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत किया है वे निम्न लिखित हैं—

(१) रचयिता का अज्ञात होना, (२) प्रामाणित मूल पाठ का अभाव, (३) संगीत



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और नृत्य का अभिन्न साहचर्य, (४) स्थानीयता की प्रचुर पुट, (५) मौखिक प्रवृत्ति, (६) उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव, (७) अलंकृत शैली का अविधामूलक प्रवाह, (८) रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव, (९) टेक पदों की पुनरावृत्ति, (१०) लम्बा कथानक।

मीरा के काव्य पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उसमें लोकगीतों की उपर्युक्त विशेषताओं की मात्रा इतनी अधिक है कि उन्हें लोकगीत कहने में भी कोई सन्देह नहीं रह जाता।

यद्यपि मीरा के गीत सीमित रूप में लोकगीत की उस परिभाषा को पूरा नहीं करते जिसमें कहा गया है कि लोककाव्य में काव्य के निर्माता का व्यक्तित्व सर्वथा अज्ञात रहता है किन्तु इधर कुछ ऐसी बातें प्रकाश में आ रही हैं जिनके आधार पर मीरा के कुछ गीत लोकगीतों की इस शर्त को भी पूरा कर सकते हैं। लोकसाहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ श्री के० एम० झावेरी जी गुजरात में प्रचलित गर्बा गीतों में से बहुतों को मीराबाई की ही रचना मानते हैं। यदि उनका यह अनुमान ठीक है तो हमें कहना होगा कि मीरा के वे गीत अवश्य ही 'रचयिता के अज्ञात' होने की शर्त को पूरा करते हैं।

प्रामाणिक मूल पाठ का अभाव तो मीरा के गीतों की एक प्रमुख विशेषता है ही। इतना कुछ अनुसन्धान होने के उपरान्त भी अभी तक 'मीरा पदावली' का कोई प्रामाणिक एवं सर्वमान्य पाठ स्थिर नहीं हो सका है। अभी तक पूरी तरह से यह भी निश्चित नहीं हो सका है कि मीरा के नाम से प्रचलित सभी गीत उसी के हैं या किसी और के भी? यहां तक कि कई विद्वान् उन अनेक गीतों को भी मान्यता देने को तैयार नहीं जिनमें मीरा की परम्परा पर ही गीत के अन्त में 'मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर' जैसी पदावली आती है और दूसरी ओर श्री झावेरी जी जैसे अनेक विद्वान् ऐसे भी हैं जो उन अनेक प्रचलित गीतों को मीरा के ही नाम से मान्यता देने के लिए प्रयत्नशील हैं जिनमें कि उसके नामादि का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। पाठ-भेद तो इन गीतों में इतना अधिक है कि एक संकलन का पाठ दूसरे संकलन के पाठ से अनेक अंशों में भिन्न पाया जाता है। एक पाठ यदि 'सास कहे मीरा भई री बावरी, ससुर कहे कुलनासी' कहता है तो दूसरा 'लोग कहें मीरा भई री बावरी, सास कहे कुलघाती' का रूप प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार एक संकलन में 'खोल मिली तन गाती' पाठ मिलता है तो दूसरे में 'खोल मिली हरि से माती' या 'कलम धरत मेरो कर कंपत हिरदो रहा घर्राई' एवं 'कलम भरत मेरो कर कंपत हियड़ो रहो थर्राई।' कहने का अभिप्राय यह है कि मीरा के इन गीतों में लोकगीतों के समान ही अपनी आत्मा के अक्षुण्ण रहते हुए शब्द परिवर्तन का तत्व विद्यमान है। इसीलिए भिन्न भिन्न गायकों द्वारा इसकी शब्दावली में परिवर्तन सम्भवतः होता रहा है जिससे कि प्रमाणिक मूल पाठ अनिश्चित हो गया है।

लोकगीतों की तीसरी विशेषता संगीत और नृत्य के अभिन्न साहचार्य के विषय में तो यहां अधिक कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। मीरा के गीत लोकजीवन में तो कई शताब्दियों से नृत्य और संगीत में प्रमुख स्थान पाते आ ही रहे थे किन्तु अब हमारा चित्रपट भी इनकी इन



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विशेषताओं से दूर नहीं रह पा रहा है। वस्तुतः यही तो मीरा के गीतों की आत्मा है, उनका जीवन है जिसने उन्हें लोक का कण्ठहार बनाया है।

लोककाव्य की चौथी विशेषता, स्थानीयता का प्रचुर 'पुट' है जो मीरा के काव्य में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। विषय और स्वरूप दोनों ही दृष्टियों से इसकी सत्ता इन गीतों में पाई जाती है। स्वरूप में राजस्थानी भाषा की शब्दावली इतनी प्रचुर है कि उससे ही स्थानीयता की छाप स्पष्ट झलकने लगती है—

**'आप बिना म्हारो कूँण धनी है,' 'राम मिलण रो घणो उभावो।'**
**'जो सुणि पावली विरहिणी रे, थारीं राखली पाँख मरोड़।'**
**'ज्यां देसां म्हारो पिव बसै रे,' 'मेरा प्राण निकस्या जात री।'**
**'प्रेम भगति को पैंड़ो ही न्यारो,' 'हम कूं गैल बता जा।'** आदि

इसी प्रकार विषय की दृष्टि से भी इन के गीतों में स्थानीय पुट काफी उभर आया है। उनकी सन्तवाणी में एक राजस्थानी रमणी के वाह्य श्रृंगार का रूप देखिए--

**ओढ़ण लज्जा चीर धीरज जो घाँघरो।**
**छिमता काँगण हाथ, सुमति को मून्दड़ो।**
**दिल दुलड़ी दरियाव, सांच को बोवड़ो।**
**उबटण गुरु को ज्ञान, जुगत को झूटणो।**
**बेसर हरि को नाम, चूड़ो चित ऊजलो।**
**जीहर शील संतोष, निरत को घूंघरो।**

इस गीत में प्रयुक्त सभी वस्त्र-भूषणों से राजस्थानी जीवन सम्बन्धित अलंकरणों का जो प्रयोग केवल उसके स्थानीय पुट के ही कारण हुआ है किसी अन्य प्रदेश का गीतकार निश्चय ही इससे भिन्न अलंकरणों का रूप प्रस्तुत करेगा।

लोकगीतों के समान ही ये पद भी अधिकतर मौखिक परम्परा पर ही जीवित रहे हैं। मुद्रित एवं संकलित पदों के अतिरिक्त अब भी अनेकों पद ऐसे हैं जो केवल मौखिक परम्परा पर ही चलते हैं और अभी तक इनका पूर्ण संकलन एवं मुद्रण नहीं हो पाया है। इसीलिए मीरा के पदों की जीवित संख्या अभी तक अनिश्चित है। एक ओर तो अब तक के मुद्रित पदों के आधार पर इनकी संख्या २०० के लगभग मानी जाती है और दूसरी ओर पुरोहित हरिनारायण जी अपने व्यक्तिगत संग्रह के आधार पर इसे ५०० के लगभग मानते हैं। इन दोनों संख्याओं के मध्य में आती है श्री झावेरी जी की संख्या जो कि कुछ गुजराती भाषा के गीतों को भी मीरा के ही गीतों का रूपान्तर मान कर इनकी संख्या २५० के लगभग मानते हैं। अतः ये गीत मौखिक परम्परा वाली कसौटी पर भी उतने ही खरे उतरते हैं जितने कि अन्य लोककाव्य। आधुनिक संकलनों से पूर्व कई शताब्दियों तक के गीत जनता के कण्ठ में ही जीवित रहे और अनेक गीत अब भी जन-कण्ठ में ही जी रहे हैं, यही इन्हें लोक गीतों की कोटि में रखने के लिए पर्याप्त है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'रचयिता के व्यक्तित्व के अभाव' की बात तो जितनी इन गीतों पर लागू होती है उतनी और किसी भक्त कवि की रचनाओं पर नहीं। 'मीराबाई की पदावली' की भूमिका में (पृ० १५) आचार्य परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"वास्तव में मीराबाई के अनेक पदों की भी, कबीर साहब आदि के पदों की भाँति ही, बहुत कुछ दुर्दशा हो गई है। जिस जिस ने गाया उसने उन्हें अपने रंग में रँगने की चेष्टा की है और अपने विचारानुसार, मीरां के ढर्रे पर कितने ही स्वरचित पद प्रचलित कर दिए हैं; जो बिना ध्यानपूर्वक देख-भाल किए मीरारचित ही जान पड़ते हैं।"

वस्तुतः यही तो है मीरा के गीतों का लोकतत्व जिसे चतुर्वेदी जी दुर्दशा कहते हैं। यह तो लोककाव्य की विशेषता ही है कि वह किसी विशेष व्यक्तित्व के अभाव में जनसम्पर्क के अनुसार अपना वाह्य स्वरूप बदलता रहता है। शास्त्रीय कवियों की रचनाओं में यह गुण नहीं पाया जा सकता। वहां तो प्रत्येक शब्द और अक्षर का अपना विशेष महत्व होता है। उनमें परिवर्तन को सह सकने की क्षमता नहीं होती। वे तो वाह्य परिवर्तन के साथ ही अपना अस्तित्व खो बैठते हैं जब कि लोककाव्य इस शाब्दिक परिवर्तन के बावजूद भी रसास्वादन की दृष्टि से अक्षुण्ण रहता है।

उसके ढर्रे पर अन्य गीत बन गए यह भी उनके लोकतत्वात्मक होने का एक प्रमाण है। लोकगाथाओं एवं लोकगीतों में प्रायः देखा जाता है कि भावाभिभूत गायक यत्र-तत्र अनेक पद जोड़ देता है पर गीत फिर भी सर्वथा अविकृत बना रहता है। उसमें केवल हृदय पक्ष की प्रधानता रहती है जो कि रचयिता, गायक और श्रोता के पृथक् पृथक् व्यक्तित्व को विलीन करके उन्हें एकाकार कर डालती है। यह तत्व मीरा के गीतों में विशेष रूप से पाया जाता है। व्यक्तित्व निरपेक्षता तो इतनी है कि यदि उनमें से मीरा का नाम हटा कर किसी और का नाम रख दिया जाय तो भी गीत के रसास्वादन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यही तो वस्तुतः ग्रिम का 'जनता का जनता के लिए लिखा गया काव्य' का अभिप्राय है। लोककवि का हृदय जनता के हृदय का प्रतिनिधि होता है और उसके द्वारा रचित काव्य तुरन्त ही लोकमानस में स्थान पा लेता है। वह लोक का कण्ठहार बन जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वरूप और आत्मा दोनों ही दृष्टियों से मीरा के गीत ऐसे हैं जो कि सरलता से लोक-गीतों में घुल-मिल जाते हैं और उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है।

स्मरण रहे कि केवल भक्ति-भाव के ही कारण जनता ने इन्हें नहीं सँजो रखा था अपितु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण इनका गुण था लोकात्मकता जो इनके संरक्षण में प्रधान कारण माना जा सकता है। अन्यथा बड़े बड़े दार्शनिक भक्तों और कवियों के काव्य-कलापों के बीच इनकी स्थिति कठिन थी। फिर भी यह गीतमालिका सर्वाधिक प्रचलित रही, इसका रहस्य इनमें पाये जाने वाले लोकतत्वों के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

शुद्ध 'उपदेशात्मकता का अभाव' भी मीरा के काव्य की अन्यतम विशेषता है। इसमें उस दार्शनिक उपदेशात्मकता का सर्वथा अभाव है जो कि मध्यकाल के अन्य साधकों, नाथपन्थियों और सिद्धों की वाणियों में मिलती है। मीरा के गीत आध्यात्मिक होते हुए भी लौकिक हैं क्योंकि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इन गीतों का नायक कृष्ण परब्रह्म भी है और वृन्दावनविहारी वासुदेव भी। इनका विधान, इनके प्रतीत सब लौकिक हैं, लोकजीवन के अति निकट है।

कबीर भी अपने पदों में 'दुलहन बनने' और 'नैहर जाने' की बातें कहते हैं किन्तु उनमें वह हृदय-स्पर्शिता नहीं जो कि मीरा के—

**"नैहरवा हम को नहिं भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहँ कोई आवै न जावै॥"**

जैसे पदों में पाई जाती है। इस पद के साथ तो कूर्माञ्चल के उस विदाई-गीत की पंक्तियां याद हो आती हैं जिनमें कि ससुराल जाती हुई कन्या अपने बाबुल से कहती है कि 'अब तो आपका देश बड़ा रूखा और उदास लगता है और स्वामी का देश मन को लुभाने वाला है।' कबीर के एक अन्य पद 'रहना नहि देश विराना है' की यह प्रथम पंक्ति तो ऐसी लगती है जैसे कि किसी लोक-गीत की विदाई-गीत की पंक्ति हो किन्तु इसके आगे बढ़ते ही उनका वह कोरा उपदेश शुरू हो जाता है जिसमें लोकगीत का माधुर्य समाप्त होकर सधुक्कड़पना सामने आ जाता है। किन्तु मीरा में कहीं भी यह उपदेशात्मकता अपने कोरे रूप में सामने नहीं आई है।

मीरा ने कहीं भी अपनी बात को अलंकारों के आवरणों से ढकने का प्रयत्न नहीं किया है। जो कुछ कहना चाहा सीधी सरल भाषा में कह डाला। स्वाभाविकता, सरलता और अकृत्रिमता तो मीरा के पदों में कूट-कूट कर भरी पड़ी है। उसके इसी गुण ने उसके गीतों को कोटि कोटि कण्ठों का हार बना दिया है। और तो और ये गीत लोकगीतों के ही समान पिंगल शास्त्र के बन्धनों को भी स्वीकार नहीं करते। श्री चतुर्वेदी जी ने उनके विषय में ठीक ही कहा है कि "पदावली के अन्तर्गत आए हुए पदों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि मानों उनकी रचना पिंगल के नियमादि को सामने रखकर नहीं की गई थी अथवा उनके विशेष रूप से गाये जाने योग्य होने के कारण, पीछे से उनमें संगीत की सुविधाओं के अनुसार परिवर्तन कर दिए गए हैं। पिंगल की दृष्टि से नाप-जोख करने पर पदावली का कदाचित् कोई भी पद नियमानुसार बना हुआ प्रतीत नहीं होता। किसी में मात्राएं बढ़ती हैं, तो किसी में घट जाती हैं। किसी में दो तीन तक शब्द बढ़ जाते हैं तो कहीं यति भंग का दोष आ जाता है और कहीं कहीं पर नियमादि की उपेक्षा के कारण यह कहना कठिन हो जाता है कि किसी पंक्ति अथवा किन्हीं पंक्तियों की किन लक्षणों को दृष्टि में रख कर परीक्षा की जाय' (मीराबाई की पदावली पृ० ४१–४२)। किन्तु यहां इतना स्मरण रखना चाहिए कि जहां चतुर्वेदी जी इसे संगीत की सुविधानुसार बाद में किया गया परिवर्तन मानने को तैयार हैं वहां हम इसे ही मूल एवं स्वाभाविक मानते हैं। वस्तुतः यही तो इनकी लोकात्मकता है। जिस प्रकार लोकगीत शब्द-शास्त्र की एवं पिंगल-शास्त्र की परवाह किए बिना ही अपनी लय के आधार पर चल पड़ते हैं वैसी स्थिति मीरा के गीतों की भी है।

लोकगीतों के ही समान इनमें सादगी है, स्वाभाविकता है। इनमें न शब्द-जंजाल है और न भावों की जटिलता। जो कुछ कहना है वह सीधे-सादे शब्दों में लोकभाषा में कह दिया गया है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यदि कहीं प्रतीकों की आवश्यकता पड़ी है तो वह भी हमारे दैनिक व्यवहार की वस्तुओं से लिये गए हैं। मीरा को न तो कबीर आदि की भांति 'त्रिकुटी' 'शून्य' आदि को समझाने की आवश्यकता है और न कल्पना लोक में भ्रमण की। उसने न दर्शनशास्त्र ही पढ़ा है और न काव्य-शास्त्र। इसीलिए उसके पदों में न कहीं दार्शनिक शब्दावली है, न उलटवासियां ही हैं और न मधुर एवं अलंकृत कल्पनाओं की छटा ही। उसके पास तो है एक निश्छल भोला-भाला नारी हृदय जो तर्क नहीं समर्पण जानता है। उसमें मस्तिष्क के लिए इतना अवसर नहीं जितना कि हृदय के लिए। यदि कहीं आवश्यकता पड़ी तो ऐसे प्रतीकों का सहारा लिया गया है जो इसी लोक के लिए थे। जीवन की निःसारता बतलानी थी तो कह गई—"बन्दगी मत भूल। चार दिना की करले खूबी, ज्यूं दाड़िम का फूल ॥"१९९॥ या जीवन मृत्यु का संदेश देना था तो वृक्ष के पत्ते के प्रतीक को सामने रख कर कहा—बिरछ के ज्यूं पात टूटे, बहुरि न लागे डार ॥१९५॥ या राम नाम की महत्ता की बात चली तो कह दिया—कनक कटोरे इम्रित भरियो, पीवत कौन टरै ॥२००॥

लोककाव्य का प्रमुखतम अलंकार है स्वभावोक्ति और रीति है वैदर्भी। मीरा की रचनाओं में ये दोनों अपने सुन्दर एवं निखरे हुए रूप में सामने आते हैं। मीरा के निम्नलिखित पद में रसिकवर नटवर का कितना स्वाभाविक चित्र कितनी सरल एवं स्वाभाविक भाषा में प्रस्तुत किया गाय है—

**मेरो मन बसिगो गिरधरलाल सौं ॥टेक॥**
**मोर मुकुट पीताम्बर हो गल वैजन्ती माल।**
**गउवन के संग डोलत हो जसुमति को लाल।**
**कालिन्दी के तीर हो कान्हाँ गउवां चरायं।**
**शीतल कदम्ब की छाहियां हो मुरली बजाय ॥६॥**

बिलकुल इसीसे मिलता-जुलता एक पछांही लोकगीत देखिए—

**सुन सखि कान्हां को मोरे ढूढ़ ला, हां हां कान्हा को मोरे०**
**जब देखूं तब जमना किनारे, गइयां चराय रहा री—वही तो मोरा सांवरा ॥सुन०॥**
**जब देखूं तब कदम्ब की छइयां मुरली बजाय रहा री—वही तो मोरा सांवरा ॥सुन०॥**

या श्याममनोहर की रूप-माधुरी पर मुग्ध मीरा का एक पद और देखिए—

**बसो मोरे नैनन में नन्दलाल ॥टेक॥**
**मोहनि मूरत सांवरि सूरति नैणां बने विसाल।**
**अधर सुधारस मुरली राजति, उर वैजन्ती माल,**
**छुद्र घंटिका कटितट शोभित, नूपुर शब्द रसाल ॥**

इन समस्त वर्णनों में न कहीं रूपक है और न कहीं उत्प्रेक्षा। क्या कोई शास्त्रीय कवि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



छैलछबीले कृष्ण के वर्णन का अवसर पाकर अपनी कल्पना-चातुरी का प्रदर्शन किए बिना रह सकता था ? सूर और तुलसी भी अपने इष्टदेव के सौन्दर्य-वर्णन के लिए उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं इकट्ठा करते नहीं अघाते। किन्तु मीरा ! वह तो सीधे ही कह जाती है–'मोहिनी मूरति सांवरि सूरति।'

वस्तुतः इस अनलंकृत वर्णन में भी एक अद्भुत आकर्षण है, सौन्दर्य है। इन शब्दों में वही जादू है जो लोककांव्य की सरलता में पाया जाता है और पाया जाता है लोकनायिका कें भोलेपन में। इस में तथा अन्य रीति-काव्यों में यही अन्तर है जो नगर की चतुर छैलछबीलियों और मुग्धा ग्रामवधूटियों में। लोकजीवन के सरल हृदय में इतना अवसर शब्द-जाल के लिए कहाँ है ? जो दिल को भाया उसे कह डाला, बिना किसी प्रकार के नमक-मिर्च मसाले के ही। यही तो वह लोकतत्व है जिसकी झलक मीरा में सर्वत्र पाई जाती है। मीरा के काव्य में हम चाहे शिष्ट काव्य की रसालंकारादि विशेषताओं को ढूंढ़ निकालें किन्तु उसकी कविता इनमें से किसी की चेरी नहीं।

लोकगीतों में पाई जाने वाली पदों की पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति भी मीरा में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। यह आवृत्ति कभी तो केवल टेक पद तक ही सीमित रहती है जैसे—जोगी मत जा, मत जा, मत जा इत्यादि में और कभी कभी अनेक पदों की भावात्मक पुनरावृत्ति, यथा—

**कंकर हीरा एक सार सा, हीरा किस कूँ कहिए रे।**
**हीरापण तो जद ही जाणूं महंगा मोल बिकइये रे।**
**कोयल कागा एक सरीखा, कोयल किसकूं कहिए रे।**
**कोयलपण तो जद ही जाणूं मीठा वचन सुनइये रे।**
**हंसा बगला एक सरीखा, हंसा किस कूं कहिए रे।**
**हंसापण तो तद ही जाणूं चुग चुग मोती खइए रे॥**

उक्त लोककाव्य की विशेषताओं में लम्बे कथानक वाली बात केवल लोकगाथा पर ही लागू होती है। मीरा-रचित 'नरसी रो माहेरो' के किंचित् उपलब्ध अंशों को देखने से पता चलता है कि उसकी यह रचना लोककाव्य-शैली का ही एक गाथा-ग्रन्थ है। इसका कथानक अवश्य ही लम्बा होगा, इसका प्रमाण इस पर आधारित अन्य लोकगीतों एवं गाथाओं से सहज ही किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा के काव्य में वे सभी विशेषताएं पूर्ण रूप में पाई जाती हैं जो कि किसी रचना को लोककाव्य की परिधि में लाने के लिए आवश्यक मानी गई हैं। हम मीरा के पदों में उन तत्वों को दर्शाने का यत्न करेंगे जिन्हें कि हम लोकसाहित्य में प्रमुख एवं रूढ़ि रूप से पाते हैं या जिन्हें हम लोकसाहित्य की रूढ़ियों के नाम से भी पुकार सकते हैं।

सर्वप्रथम यदि हम मीरा के जीवन को ही देखें तो वह स्वयं लोकाख्यान के तत्वों से परिपूर्ण है। उसके जीवन में स्वयं किसी लोकनायिका का जीवन प्रतिबिम्बित होता है। बचपन में कृष्ण



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की मूर्ति से लेकर अन्त में श्री रणछोड़जी की मूर्ति में विलीन होने तक की सभी घटनायें आश्चर्य और चमत्कार से परिपूर्ण हैं। विष को पीकर भी न मरना, सांप को माला की भांति गले में डाल लेना आदि अनेकों ऐसी घटनाएं हैं जो केवल लोककथाओं में ही सम्भव मानी जाती हैं। प्रेमी नायक-नायिकाओं के मार्ग में आने वाली जिन कठिनाइयों का वर्णन हमें लोकगाथाओं में मिलता है, मीरा के पदों में भी हमें उनका बिल्कुल वैसा ही रूप मिलता है। यदि उनमें से 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' जैसे पदों को निकाल दिया जाये तो फिर यह कहना कठिन हो जाता है कि ये पंक्तियां मीरा की हैं या किसी अन्य लोकगाथाकार की। उदाहरण रूप में निम्नस्थ पद को लीजिए--

**हे ली म्हासूँ हरि बिन रह्यौ न जाय।।टेक।।**
**सास लड़ै मेरि ननद खिजावै, राणा रह्या रिसाय।**
**पहरो भी राख्यो चौकी बिठार्यो, तालौं दियो जड़ाय।**
**पूर्व जन्म की प्रीत पुराणी सो क्यूं छोड़ी जाय।**
**मीरा के प्रभु गिरधर नागर, और न आवै म्हारी दाय।।४६।।**

यद्यपि 'मीरा की पदावली' कोई सम्बद्ध काव्य-ग्रन्थ नहीं, वरन् आन्तरिक अनुभूतियों का विभिन्न गीतों के रूप में अभिव्यक्त एक संकलन मात्र है, किन्तु फिर भी ये अनुभूतियां इतने व्यापक रूप में व्यक्त की गई हैं तथा उनमें प्रेमी जीवन के हृद्‌गत भावों की इतनी विस्तृत एवं विविध रूपात्मक अभिव्यंजना है कि इन्हें समुचित ढंग से सजाने पर यह सहज ही एक प्रेमाख्यानक लोककाव्य की रूप-रेखा प्रस्तुत कर देते हैं। प्रथम दर्शन में ही प्रिय के रूप पर मोहित हो जाना, बार बार उसे देखने के लिए लालायित रहना, प्रेम की पीर का निरन्तर बढ़ता जाना, वियोग-व्यथाओं की अभिव्यक्ति, विविध अभिलाषाओं की सृष्टि, प्रिय से मिलन की चेष्टा, परिवार एवं संबंधियों द्वारा मिलन-मार्ग में बाधा, कष्ट सहन, प्रिय को पाने के लिए गृहत्याग, जोगन बन जाना, अन्त में प्रिय से मिलन एवं संयोगजन्य आनन्द का वर्णन सभी कुछ तो है इसमें जो कि एक लोकगाथा या लोककाव्य के वर्णन का प्रमुख विषय होता है। इन गीतों के समान ही लोकगाथाओं के प्रकरण भी इस प्रकार जुड़े होते हैं कि उन्हें आसानी से विश्रृंखलित किया जा सकता है। लोककाव्य की विशेषता ही है कि वह शिथिल बन्ध होता है, उसकी प्रत्येक घटना और अभिव्यक्ति एक मुक्ता के समान होती है जो कि कथासूत्र में पिरोये जाने पर हार का अंग बन जाता है साथ ही अपना पृथक् स्वतंत्र मूल्य भी रखता है।

हम जानते ही हैं कि मीरा अपनी कौमार्यावस्था में ही श्री 'गिरधर गोपाल' की माधुरी पर मुग्ध हो गई थी और उससे उसका 'नेह' लग गया था। यह 'बालपने का नेह' कितना मधुर तथा कितना दृढ़ होता है यह हमारी लोकगाथाओं में, लोककाव्यों में सर्वत्र पाया जाता है। 'हीर रांझे' की प्रेमगाथा भी कुछ ऐसी ही है। किसी अन्य से स्नेह कर किसी अन्य से विवाही जाने वाली लोकनायिका के समान ही मीरा का भी विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध कुंवर भोजराज से कर दिया



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जाता है किन्तु वह तो अपना हृदय पहले ही किसी और को दे चुकी थी। विवाह उसके सच्चे स्नेह में बाधक न बन सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा के जीवन में स्वयं ऐसे अनेक तत्व हैं जो उसे लोकगाथाओं की नायिका की कोटि में ले जाते हैं। वे आश्चर्य, वह प्यार, वे बाधाएं और वह लगन सभी कुछ तो लोकतत्व से भरपूर हैं। इसीलिए तो एक लोकगीत में उसे ही नायिका बना लिया गया है—

**मीरा है मोरा नाम, मीरा है मोरा नाम,**
**मोरा मन लागा हरि चरनन में।।टेक।।**
**साधु संगति छोड़ दे मीरा, अरे दोऊ कुल आवै लाज।**
**साधू संगति छूटे ना राणा, मोरे जावै क्यों न कुल की लाज।।मोरा०।।**
**जहर का प्याला भेजा पापी, मीरा को देहु पिलवाय।**
**कर चरणामृत पी गई रे, हो गई अमृत की घूँट।।मोरा मन०।।**
**सर्प पिटारी भेजिया जी, मीरा को दो कटवाय।**
**न्हाय धोय मिरा खोलिया जी, झट हो गए सालिग्राम।।मोरा मन०।।**
**कोठे चढ़ के देखियो रे कि मीरा मरी है कि नाय।**
**मुख सें बजावै मीरा बांसुरी, रे वह गावै गिरधर लाल।।मोरा मन०।।**

इतना ही नहीं, इस गीत में स्वयं मीरा के अनेक पदों के भाव सम्मिलित हो गए हैं।

सन्त परम्परा की कवियत्री होते हुए भी मीरा ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए सन्तों की प्रतीकात्मक भाषा का बहुत कम प्रयोग किया है। यद्यपि उसका प्रियतम भी 'गगन मंडल' में रहने वाला है और उसके महल का मार्ग 'ज्ञान' की 'गली' में होकर जाता है। मीरा उसे 'त्रिकुटी' महल के झरोखों से झांका करती है। उसीके आने की प्रतीक्षा में सारी रात 'सुरत' 'निरत' का 'दिवाला संजोकर' (पद २०) एवं 'सुख की बहुरंगी सेज' बिछाकर 'सोलह शृँगार किए' बैठी रहती है (१२९) किन्तु ऐसे स्थल उसमें नगण्य हैं और इन प्रकरणों की भी यदि इस रहस्यात्मक प्रतीक भाषा को हटा दिया जाय तो यह भी शुद्ध रूप में किसी लोकनायिका का रूप प्रस्तुत करने लगेगा।

केवल आध्यात्मिक रूप में ही नहीं अपितु लौकिक रूप में भी मीरा ने अपने उस प्रियतम का तथा अपनी विरह-मिलन की दशाओं का खूब गान किया है। उस प्रियतम की 'माधुरी मूरत' उसके चित्त पर ऐसी 'चढ़ी' और उर में ऐसीं 'अड़ी' है कि भुलाए नहीं भूलती। हर समय याद आती रहती है (पद ११)। वह तो उसका रूप वर्णन करते नहीं अघाती (पद २३, ३४, ३८, ४५ आदि) और उसे रिझाने के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाती है।

**मैं गिरधर के घर जाऊँ।**
**गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रैण पड़े तब ही उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ।
रैण दिना वाके संग खेलूं, ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊँ।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ।
जहाँ बैठावे तितही बैठूं, बेचे तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ।।

उसे मनाने के लिए 'पायन' तक में पड़ जाती है (१४६)। उसके सामने हर प्रकार से आत्मसमर्पण कर डालती है :—

बाल्हा में वैरागिण हूंगी हो।
जीं जीं भेष म्हारो साहिब रीझै सोई-सोई भेष धरूँगी हो ।।१५२।।

या—

चालाँ वाही देश प्रीतम चालाँ वाही देश।
कहो कसूमल साड़ी रँगवाँ, कहो तो भगवाँ भेष।
कहो तो मोतियन माँग भरावाँ कहो छिटकावाँ केस ।।१५३।।

मीरा के सम्बन्ध में एक विशेष स्मरणीय बात यह है कि उसके 'प्रिय' में तथा अन्य सन्तों के 'प्रिय' में एक बहुत बड़ा अन्तर है। वह यह कि जहां अन्य सन्त कवियों या भक्तों का 'प्रिय' अमूर्त, रहस्यात्मक या सर्वथा आध्यात्मिक रूप में सामने आया है वहां मीरा का 'प्रिय' इससे कुछ भिन्न भी है। उसका नारी हृदय अपने 'पिया' के उस विश्वविमोहन सौन्दर्य को निराकार रूप में कम और साकार रूप में अधिक देखता है। इसीलिए जहां इतर सन्त-काव्य साधु-सन्तों, भक्तों एवं विद्वानों की सीमा में ही परिसीमित रहा, वहाँ मीरा के काव्य ने अधिकतर लोक-मानस को अपना आश्रय बनाया।

वह अलौकिक होते हुए भी लौकिक तत्वों से इतना सराबोर है कि हम कभी कभी उसके अलौकिक रूप को भूल ही जाते हैं और उसके लौकिक पक्ष में ही पूर्णतया रम जाते हैं। 'घायल की गति घायल जाने जो कोई घायल होई' के द्वारा अपनी मार्मिक व्यथा को अभिव्यक्त करने वाला लौकिक प्रेमी यह सर्वथा भूल ही जाता है कि मीरा ने इसे किसी और संदर्भ में कहा था। यही तो है वह लोकतत्व जो सीधे ही लोकमानस को अपना लक्ष्य बनाता है।

जब वह अपने को 'सुहागण नार' कहती है और 'सोलह सिंगार' की बात करती है तो हम क्षण भर के लिए यह भूल ही जाते हैं कि वह आध्यात्म लोक की बातें कर रही है। ये दोनों ही शब्द हमारे लोक साहित्य के इतने परिचित हैं कि इनकी ध्वनि-मात्र ही हमें उस लोक में ले जाती है जहां कोई मुग्धा ग्रामवधूटी या तो 'पिया मिलन को जा रही है' या उसकी प्रतीक्षा में 'पलक पाँवड़े बिछाए बैठी है।'



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यहां एक और प्रतीक को भी स्पष्ट कर देना उचित होगा। मीरा ने स्थान स्थान पर इस बात का संकेत किया है कि प्रियतम से मिलन में जहां जहां भी उसके मार्ग में बाधा पड़ी या कठिनाई उपस्थित हुई वहां वहां 'सतगुर' ने उसकी सहायता की जिससे उसका मिलन सरल हो गया। (१९७)। ठीक इसी रूप में लोककाव्य में इसकी स्थानापन्न होती है 'दूती'। जिसका कार्य होता है 'प्रियमिलन' की दिशा में नायिका की सहायता करना, उसकी विघ्न-बाधाओं को दूर करना, आदि।

मीरा के गीतों में प्रेमाख्यानक काव्य के 'पूर्वराग', 'विरह' और 'मिलन' के वे सभी रूप मिलते हैं जिनका कि उसमें प्रधान रूप से वर्णन होता है। पूर्वराग के रूप में मीरा ने बार बार अपने प्रिय 'गिरधरलाल' के 'नखशिख' का ऐसा साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है कि लगता है उसका प्रेमी हृदय वर्णन करते हुए अघाता ही नहीं। वस्तुतः बात भी कुछ ऐसी ही है। भला ऐसी कौन प्रेमिका होगी जो अपने प्रेमी के रूप-माधुर्य का वर्णन कर तृप्त हो जायगी ? प्रेम की पराकाष्ठा तो देखिए; उस प्रियतम को पुकारने लगती है 'निरमोहिया' कह कर। यह 'निरमोहिया' शब्द लोक साहित्य का कितना परिचित तथा भावाभिव्यंजक शब्द है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। कभी वह उस 'निरमोही' को लोकभाषा में ही 'ओ जोगी' कह कर सम्बोधित करती है—मत जा, मत जा, मत जा जोगी पाव पड़ूं मैं तोरे—और फिर उसे पाने के लिए स्वयं भी जोगन बन जाने की बात कहने लगती है (९४, ११८)। प्रियजन की खोज में जोगी बन जाने की बात भारतीय लोककथाओं एवं लोकगीतों में बराबर पाई जाती है। मीरा के पदों में इस भाव की अनेक बार पुनरावृत्ति हुई है—

**तोरे कारण जोगण बनूंगी, दूंगी नगर बिच फेरी ॥९४॥**
**माला मुँदरा मेखला रे बाला खप्पर लूंगी हाथ।**
**जोगणि होय जुग जुग ढूंढ सूं, रे म्हारा रावलियारी साथ ॥११८॥**

सहसा याद हो आती है हिन्दी लोकगीत की उन पंक्तियों की जब कोई नायिका अपने 'जोगिया' प्रियतम को पाने के लिए कहती है—"सैयां तोरे कारन जोगन बन जाऊँगी।"

वस्तुतः मीरा के काव्य में सबसे अधिक लोकतत्व उभरा है, उसके विरह-गीतों में। जरा इस गीत की शब्दावली देखिए—

**राम मिलण रो घणो उमावो, नित उठ जोऊँ बाटड़ियाँ।**
**दरसण बिन मोहि पल न सुहावै, कल न पड़त है आँखड़ियाँ।**
**तलफ तलफ के बहु दिन बीते, पड़ी विरह की फाँसड़ियाँ।**
**अब तो वेगि दया कर साहिब, मैं हूँ तेरी दासड़ियाँ।**
**नैन दुःखी दरसण को तिरसैं, नाभि न बैठे साँसड़ियाँ।**
**रात दिवस तह आरत मेरे, अब हरि राखे पासड़ियाँ।**
**लगी लगन छूटण की नाहीं, अब क्यों कीजै आटड़ियाँ।**
**मीरा के प्रभु गिरधर नागर, पूरो मन की आसड़ियाँ।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इसमें प्रयुक्त बाटड़ियाँ, साँसड़ियाँ, आसड़ियाँ, आदि शब्द कितने प्यारे तथा लोकवाणी के कितने निकट हैं यह तो स्वयं संवेदन हैं। इसी प्रकार के एक और गीत की पंक्ति देखिए—

**प्रभुजी कहाँ गयो नेहड़ो लगाय।**
**छोड़ गयो विश्वास संगाती, प्रेम की बाती बराय॥**

इस पद में 'नेहड़ो' और 'विश्वाससंगाती' शब्द केवल मधुर भाव-व्यंजक नहीं हैं अपितु हमारे लोककाव्य के उन इने-गिने शब्दरत्नों में से हैं जो कि लोकसाहित्य पर छाये हुए हैं। 'नेहड़ो' जैसा शब्द सुनते ही कानों में किसी लोकगीत की ध्वनि सी झंकृत हो उठती है और 'विश्वास-संगाती' शब्द तो अनुपम है, इस गीत की जान है। इसी प्रकार के कुछ अन्य घरेलू सम्बोधन जो मीरा के पदों में यत्र-तत्र सुनाई देते हैं वे हैं—सैयां, साजन, पिया, राजा, जोगी, धणी, भवन, पति आदि, लोकगीतों की नायिकाओं द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले ये सभी सम्बोधन क्या लोक साहित्य की अमूल्य निधि नहीं हैं? क्या शिष्ट साहित्य में इन अनगढ़ हीरों को भी स्थान मिला! हम कह सकते हैं कि मीरा के काव्य की आत्मा ही नहीं अपितु उसका एक एक शब्द बोलता है कि वह शिष्ट काव्य की नहीं अपितु लोककाव्य की निधि है, भले ही शिष्ट काव्य उस पर अपने छाप लगाने का कितना ही व्यर्थ प्रयास करे।

लोक और शिष्टकाव्य में एक विशेष अन्तर यह भी है कि लोककाव्य में अभिव्यक्त भावों का वक्ता के साथ तादात्म्य होता है, जब कि शिष्टकाव्य में वे काल्पनिक भी हो सकते हैं। अर्थात् लोककाव्य में अभिव्यक्त किसी नारीगत भावना या उक्ति का उद्गम अवश्य ही कोई नारी हृदय होगा, जिन्हें उसने किसी तीव्र अनुभूति के क्षणों में अनुभव कर तदनुकूल शब्दावली में अभिव्यक्त किया होगा, और इसी प्रकार पुरुषगत उक्ति का मूल भी कोई पुरुष हृदय ही होगा, इसीलिए लोककाव्य की अभिव्यक्तियों में अधिक स्वाभाविकता, अनुभूति की तीव्रता एवं अन्तस्तल तक पैठने की क्षमता होती है। किन्तु शिष्ट काव्य में प्रायः ऐसा नहीं होता। इसीलिए शिष्ट काव्य में जहां नारीगत भावों के चित्रण का अवसर आता है वहां वे या तो अतिरंजित हो जाते हैं या न्यून। क्योंकि पुरुष कभी तो मातृत्व की श्रद्धा में और कभी कामिनीत्व की वासना में यथार्थ को भूल जाता है, यही कठिनाई मधुर भाव के अन्य उपासकों के विषय में भी देखने में आती है। जहां पुरुष भक्त कवियों को माधुर्य भाव की उपासना में कृष्ण या परमात्मा को पति मानकर अपने ऊपर स्त्रीभाव का काल्पनिक आरोप करने एवं तद्वत् काल्पनिक अनुभूतियों का प्रदर्शन करने की कठिनाई रही तथा इसी कारण उसमें कुछ कृत्रिमता की गन्ध भी आई, वहां मीरा को स्वयं स्त्री होने के कारण अपने आपको किसी विशेष अवस्था में रखने का प्रयत्न नहीं करना पड़ा। वह माधुर्य भावगत सभी स्त्री-सुलभ बातों की स्वाभाविक अनुभूति कर लेती थी और तदनुकूल शब्दावली में स्वाभाविक रूप से उसे अभिव्यक्त कर डालती थी। इसीलिए तो उनके गीतों में लोकगीतों की सी स्वाभाविकता, सजीवता एवं हृदयतल तक पैठने की क्षमता है।

मीरा के इन गीतों में कहीं कहीं उन कथा-गीतों का भी स्वरूप मिलता है जिनमें बताया



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जाता है कि कोई नायिका कहीं किसी खेत या कुएं आदि पर एकाकी खोई सी खड़ी है और वहां से गुजरने वाला कोई परदेशी उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करता हुआ उससे पूछता है—तू कौन है, किसकी स्त्री है, यहां क्यों अनमनी सी खड़ी है ? क्या तुझे पीहर की याद सता रही है या तेरी सास ने तुझसे कुछ बुरा-भला कहा है ? इत्यादि । और प्रायः होता यह है कि प्रथम वह उस बटोही को यह कह कर झिड़क देती है 'ए बटोही तू जा अपने रास्ते, तुझे मेरे दुःख सुख से क्या लेना?' (बाद में वही या तो उसका प्रियतम निकल आता है या उसकी दुःखगाथा को सुनकर उसे कुछ उपाय बता देता है।) इस प्रकार के एक लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए —

**बड़े घरां दी धीय, गली बिच क्यों खड़ी ।। हाय राम ।।**
**क्या तेरा पिया परदेश, क्या तेरी सास बुरी,**
**चला जा रे असल गँवार तुझे मेरी क्या पड़ी ।। हाय राम ।।**
**ना मेरा पिया परदेश ना मेरी सास बुरी ।। हाय राम ।।**

और बिल्कुल इसी की परछाईं लिए हुए देखिए मीरा का एक पद—

**इण सरवरिया री पाल, मीरा बाई साँपड़े।**
**साँपड़ किया असनान, सूरज सामी जब करे।**
**होय विरंगी नार डगरा बिच क्यूं खड़ी।**
**काँई थारो पीहर दूर, घराँ सासू लड़ी।**
**चल्यो जा रे असल गँवार तन्ने मेरी के पड़ी।**
**गुरु म्हारा दीनानाथ हीराँ रा पारखी ।।१२०।।**

लोकगीत परम्परा का एक महत्वपूर्ण अंग है बारहमासा। इसमें प्रायः विरहिणियाँ प्रत्येक महीने में होने वाली अपनी विभिन्न वियोग-व्यथाओं का वर्णन करती हैं, मीरा के भी निम्न पद से इसी की ध्वनि निकल रही है—

**पिया मोहि दरसण दीजै हो।**
**जेठ महीने जल बिना पंछी दुःख होई हो।**
**मोर असाढ़ कुरलहें घन चालग सोई हो।**
× × × ×
**चैत चित ऊपजी दरसण तुम दीजै हो।**
**वैसाख बन राई फूलवै, कोइल कुरलीजै हो ।।११६।।**

सास ननद के शिकवे भी लोकगीतों का एक प्रिय विषय है। जब नायिका अपने नायक के रंग में रंग जाती है और रात दिन उसी के प्रेम में मस्त रहने लगती है तो सास ननद ही उसके मिलन-मार्ग में बाधक रूप में चित्रित की जाती हैं, वे उससे बुरा-भला भी कहती हैं—



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सास लड़ै मरि ननद खिजावै, राणा रह्या रिसाय,
लोग कहें मीरा भई री बावरी सास कहै कुलघाती।

इसी प्रकार लोकगीतों की वधुओं को यह भी शिकायत करते सुना जाता है कि 'वहां मेरे जेठ बैठे हैं, वहां ससुर बैठे हैं, मैं साजन से मिलने कैसे जाऊँ' इत्यादि। जैसे एक हिन्दी गीत की पंक्तियां हैं—

मेरे राजा की अलग अटरिया, मिलन जनै कब होगा।
आधी सी रात, पहर का तड़का, मिलने चली अटरिया।।मिलन०।।
जैसे ही मैंने पैर बढ़ाया तो आ गई सास बुढ़रिया।
ललना दे मैंने सासू जी भेजी, तो आ गई जुलम जेठनिया।।मिलन०।।

कुछ इसी प्रकार की मिलन-बाधा की बात मीरा के गीतों में भी पाई जाती है। एक गीत में वह कहती हैं—

गगन मंडल में सेज पिया की किस विध मिलणा होय।

तथा एक दूसरे गीत में कहती हैं—

गली तो चारों बन्द हुई मैं हरि से मिलूं कैसे जाइ।
ऊँची नीची राह लपटीली पाँव नहीं ठहराय।।
सोच सोच पग धरूँ जतन ते बार बार डिग जाइ।
ऊंचा नीचा महल पिया का हम से चढ्या न जाइ।।१९३।।

परदेश को जाते हुए प्रियतम से प्रथम तो रुक जाने की अनुनय-विनय तथा पुनः न मानने पर अपने हाथ से वियुक्त होने से पूर्व प्राणों से वियुक्त कर जाने की विनती लोकसाहित्य के परिचित रूपों में से है। जैसे एक हिन्दी लोकगीत में देखिए —

सुन या नीके भरतार, छोड़ के मत जइयो।
या मैंने जइयो जान से मार, फेर मत अइयो।।

ठीक ऐसी ही एक झाँकी मिलती है मीरा के इस कथन में भी—

मत जा, मत जा, मत जा, जोगी पाँय परूँ में तोरे।
प्रेम भगति को पैड़ो ही न्यारो, हम कूँ गैल बता जा।
अगर चन्दन की चिता बनाऊं, अपणे हाथ जला जा।।
जल बल भई भसम की ढेरी अपणे अंग लगा जा।।५०।।

इस पद में 'अगर चन्दन की चिता' जैसी शब्दावली शुद्ध लोककाव्य की शब्दावली है। जिस प्रकार लोकगीतों में भोजन के लिए थाली सोने की ही होगी और सोने के गड़वे में गंगाजल



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



होगा उसी प्रकार वह घर के किवाड़ भी चन्दन की ही लकड़ी के होंगे और यदि चिता के लिए लकड़ी की जरूरत पड़ेगी तो वह भी अगर या चन्दन की ही होगी।

मीरा अपने जीवन में इन लोकगीतों से भली-भांति परिचित रही ही होगी। इसलिए अवसर आने पर उसने उन्ही प्रतीकों एवं उसी शैली के सहारे अपने अलौकिक स्नेह की भी अभिव्यक्ति कर डाली।

किसी लोकगीत की 'गोरी' के द्वारा अपने परदेशी 'पिया' को पत्र लिखने और उत्तर न पाने का शिकवा मीरा के इन गीतों में देखिए—

**लिख लिख पतियाँ संदेशा भेजूं, कब घर आवै म्हारो पीव॥१२३॥**

× × × ×

**आप नहि आवै लिख नहि भेजे, बाण पड़ी ललचावण की॥१२२॥**

× × × ×

**मेरे प्रियतम प्यारे राम कूं लिख भेजूं रे पाती॥**
**स्याम सनेहो कबहुँ न दीन्हौं जानि बूझ गुझवाती॥१४२॥**

और दूसरी ओर अपने हृदय में ही अपने 'साजन' की मूर्ति को लिए फिरने वाली एक लोकनायिका यदि—

**पाती ताको भेजिए, जो होवे परदेस।**
**जो निशि दिन दिल में रहे, ताको कहा संदेस॥**

कहती है तो मीरा भी उसी के स्वर में स्वर मिला कर कहती है—

**जिनके पिया परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजें पाती।**
**मेरे पिया मेरे हीय में बसत हैं, यह सुख कह्यो न जाती॥**

ध्यान देने की वात है कि इनमें से एक अभिव्यक्ति का सम्वन्ध लौकिक स्थूल प्रेम से है और दूसरी का अलौकिक प्रेम से किन्तु अभिव्यक्ति की समता दोनों में ऐसी है कि कोई अन्तर ही नहीं दिखाई देता।

अब इसके साथ ही लगे हाथ लोककाव्य की नायिकाओं तथा मीरा के पत्र-लेखन की समता भी देख लीजिए, उधर एक ग्राम दोहे में एक नायिका की दशा देखिए—

**कागज भीजत नैन जल, कर काँपत मसि लेत।**
**पापी विरहा मन बसो, विथा लिखन नहि देत॥**

और इधर मीरा की भी सुनिए, क्या कहती है—

**पतियाँ कैसे लिखूं लिख ही न जाय॥टेक॥**
**कलम भरत मेरो कर कँपत, हियड़ो रहा धर्राई।**
**बात कहूँ मोहि बात न आवै, नैण रहे झर्राई॥७७॥**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वियोगिनी नायिकाओं द्वारा 'काक उड़ाना' पंडितों को प्रियतम के आने के बारे में पूछना आदि बातें भी लोकगीतों के प्रिय विषय हैं। किसी ग्रामगीत की एक नायिका कहती है—

**कोरा सा कागद मेरे हाथ पंडित पूछन मैं चली, मेरे राम।**
**कहो तो पंडत कुछ मन की बात, कब घर आवें मेरे लसकरी—मेरे राम॥**

तो दूसरी कहती है—

**स्याम दरस को नैन तरस गए, पल पल युग सम बीत रहे।**
**काक उड़ावत दिवस कटत हैं, गिन गिन तारे रैन कटे॥**

और इन दोनों रूपों को एकत्र देखिए मीरा में—

**काग उड़ावत दिन गया, बूझ पिंडत जोसी हो।**
**मीरा विरहिण व्याकुली, दरसण कब होसी हो॥११६॥**

इसी के साथ उसी लोकस्वर में प्रिय के झूठे वायदे के प्रति एक शिकायत मीरा के शब्दों में सुन लीजिए—

**सावण आवण कह गया बाला, कर गया कौल अनेक।**
**गिणता गिणता घिस गई रे म्हारा आँगलियाँ री रेख॥**

प्रिय के वियोग के दिनों को गिनते गिनते अंगुलियों के पोरुओं की रेखाएँ घिस जाने की कल्पना लोकगीतों की चिर-परिचित कल्पना है। मीरा ने इसे सीधे वहीं से लिया है।

लोकगीत परम्परा का एक बहुत ही प्रचलित रूप है पक्षियों द्वारा अपने परदेशी बालम के पास संदेश भेजना। अपनी विरह-व्यथा कहलवाना और इस सेवा के पुरस्कार में उनकी चोंच सोने से और पंख चांदी से मढ़वाने का प्रलोभन देना। मीरा के गीतों में लोककाव्य का यह रूप भी इसी रूप में उभरा है, एक गीत में वह कौवे से कहती है—

**प्रीतम कों पतियां लिखूं कउवा तू ले जाई।**
**जाइ प्रीतम जी सूं यूं कहे रे, थारी विरहिणि धान न खाई॥८४॥**

और पपीहे से कहती है:—

**थारा शबद सुहावण रे, जो पिव मेले आज।**
**चाँच मढ़ागी थारी सोवनी, तू मेरे सिरताज॥८४॥**

प्रिय वियोग में वियोगिनी को कोयल की कूक, मोर की केका और पपीहे की पीउ, पीउ



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सभी कुछ पीड़ा देने वाली लगती है। यह भाव यद्यपि शिष्ट साहित्य एवं लोकसाहित्य दोनों में ही समान रूप से पाया जाता है किन्तु इसकी जितनी सफल एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक साहित्य में हुई है उतनी शिष्ट साहित्य में नहीं। मीरा भी एक स्थान पर पपीहे को सम्बोधित करके कहती है—

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितार्‌यौ।।टेक।।
मैं सूती छी अपणे भवन में, पिव पिव करत पुकार्‌यौ।
दाध्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़ो करवत सार्‌यो।।८३।।

इसी प्रकार 'अमुवाँ की डारी में कोयलिया बोलै' जैसी लोकगीतों की प्रतिध्वनि उनके निम्न गीत में सुनाई देती है —

डारि गयो मन मोहन पासी।
आंबा की डारि कोइल इक बोले, मेरो मरण अरु जग केरी हांसी।।६७।।

विरहिणी लोक नायिकाओं के स्वर में एक कारुणिक भावना जो यत्र-तत्र देखने को मिलती है वह है कौवे को अपना मांस खिलाने की बात। एक प्रसिद्ध लोक दोहा है—

कागा सब तन खाइयो, चुन चुन खाइयो मास।
ये दो नैना मत खाइयो, पिया मिलन की आस।।

इसी भावना से युक्त मीरा के एक गीत की पंक्ति हैं—

काढ़ि कलेजो मैं धरूं रे कौवा तू ले जाई।
ज्यां देसां म्हारो पीव बसै, रे वे देखें तू खाई।।७४।।

इस प्रकार की उक्तियां लोक-भावना की ही प्रतीक हैं।

मीठी मीठी बातों में फंसा कर प्रेम का रोग लगाकर चले जाने वाले परदेशी के प्रति किए जाने वाले उलाहने के स्वर भी मीरा में वही हैं जो कि साधारणतया लोकगीतों में पाए जाते हैं—

जोगियारी प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल।।टेक।।
हिल मिल बात बणावत मीठी, पीछे जावत भूल।
तोड़त जेज करत नहिं सजनी, जैसे चंपेली के फूल।
मीरा कहे प्रभु तुमरे दरस बिन, लागत हियड़ा में सूल।।५८।।

और तो और मीरा के गीतों में वह स्वर भी नहीं छूटने पाया है जो कि नायक को किसी अन्य नायिका के प्रति आकर्षित होते देख उसे सहन न कर सकने वाली नायिका में देखा जाता है, कहीं तो वह आमने सामने उलाहना देती है—



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**जावो निरमोहिया जाणों तेरी प्रीत।**
**लगन लगी अदि प्रीत और ही, अब कुछ और ही रीत॥६०॥**

तो कहीं इस बात की शिकायत की जाती है कि आजकल तो कन्हैया किसी और के ही चक्कर में घूम रहे हैं। इस प्रकार उस गोपी के प्रति सौतिया डाह की ईर्ष्या प्रकट की जाती है जिसे कि स्याम का प्यार प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। इन पंक्तियों में मीरा का कौन सा रूप झलकता है —

**स्याम म्हासूँ एड़ो डोले हो, औरन सूं खेले धमाल।**
**म्हासूं मुखहि न बोले हो, स्याम म्हासूं मुखहि न बोले।**
**म्हारी गलियाँ ना फिरे, वाके आगण डोले, हो।**
**म्हारी अगुली ना छुवै, बाकी बहियाँ मोरे, हो।**
**म्हारो अँचरा ना छुवै, वाको घूघट खोले, हो।**
**मीरां के प्रभु साँवरो रंगरसिया डोले, हो॥१८२॥**

इस गीत से यदि मीरा का नाम हटा दिया जाय तो यह विशुद्ध लोकगीत बन जायेगा। क्योंकि लोकगीतों की नायिका भी रसिकवर कृष्ण और गोपियों के ही रूप में अपने भावों की अभिव्यक्ति करती हैं। जिस प्रकार पंजाब की प्रत्येक लोकगीत की नायिका अपने को 'हीर' और अपने रसिया को 'रांझां' के आवरण में रखना चाहती है वैसे ही हिन्दी प्रदेश की प्रत्येक लोक-गीत की नायिका अपने को 'राधा' और अपने साजन को 'स्याम' के रूप में रखती है।

इतना ही नहीं इस गीत के अन्त में पाई जाने वाली 'हो 'हो' की पुनरावृत्ति इसे विशुद्ध लोकतत्व से युक्त कर डालती है जो कि व्रज या राजस्थान के गीतों में अधिकतर पाया जाता है।

मीरा के गीतों में व्यक्त मरणोपाय भी प्रायः वही है जो कि लोकसाहित्य में पाये जाते हैं। एक स्थान पर वियोगिनी मीरा कहती है—

**लेई कटारी कंठ सारू, मरूंगी विष खाइ।**
**मीरा दासी रामराती, लालच रही ललचाइ॥६८॥**

प्रिय की प्रतीक्षा की व्याकुलता, उसकी राह देखते देखते आंखों का लाल हो जाना आदि भाव भी मीरा में लोककाव्य की ही पद्धति पर अभिव्यक्त हुए हैं —

**डगर बुहारू पंथ निहारूं, जोइ जोइ अखियाँ राती।**
**रात दिवस मोहि कल न परत है, हीयो फटत मेरी छाती॥१४२॥**

मीरा की पदावली में ऐसे गीतों की भी कमी नहीं है जिन्हें कि हम ऋतु गीत के नाम से संकेत करते हैं। इनमें से वर्षा और वसन्त से सम्बन्धित गीत ही अधिकतर पाए जाते हैं। यहां इस विषय में इतना जान लेना आवश्यक होगा कि जहां अलंकृत काव्य अथवा रीति काव्य



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में छहों ऋतुओं का वर्णन समान रूप से पाया जाता है वहां लोककाव्य में वर्षा और वसन्त का ही। क्योंकि मीरा ने रीति-परम्परा को नहीं अपितु लोक-परम्परा को अपनाया था। अतः उसके ये ऋतु-गीत भी इन्हीं दो विषयों पर केन्द्रित रहे हैं और इनकी वर्णन-पद्धति प्रायः वही है जो कि लोकगीतों की है। जैसे एक वर्षा-गीत में मीरा कहती है—

मतवारो बादर आए रे, हरि को संदेसो कबहु न लाए रे।
दादर मोर पपइया बोले, कोयल शबद सुणाए रे।
कारी अँधियारी बिजली चमकै, विरहिणि अति डरपाए रे॥

इसीका प्रतिरूप देखिए, विभिन्न लोकगीतों की इन पंक्तियों में—

महीना सावन का आया, पिया परदेशों में छाया।
रिमझिम रिमझिम मेघा बरसै, पल भर चैन न आए॥
× × ×
सावन के महीना पपीहा बोले, सूनी मेरी सेज हिया डोले।
भादों में बादर आए गरज के, रैन अंधेरी पिया मर जाऊँ डर के॥

वसन्तगीत या होलीगीत भी लोकगीतों की एक अविच्छिन्न परम्परा है, प्रधानतया वियोग-वर्णन ही इन गीतों का स्वर होता है। नायिका को इस बात की शिकायत करते सुना जाता है कि वसन्त आ गया किन्तु मेरा परदेसी बालम नहीं आया, मैं होली कैसे खेलूं। जैसे—

लागा रंग रंगीला फागुन, मोहन कर गए मुझको त्यागन।
होली खेलें सब बड़भागी, बिरज में गहरी धूम मचाय के।
गावैं और बजावैं खुशी साजन की मनावैं।
कौली भरै अबीर उड़ावैं, सोवैं सजनी सेज बिछाय के।
जो घर होते जी गोपाल मैं भी लाती रंग गुलाल।
कपड़े करती सब रंग लाल अब क्या होवे पछिताय के॥

कुछ इसी प्रकार के विरहोद्गारों से संवलित हैं, मीरा के गीत भी—

होली पिया बिन लागै खारी, सुनो री सखी हमारी।
सूनो गांव देस सब सूनो, सूनी सेज अटारी।
सूनी विरहिन पिव बिन डोलै, तज दइ पीव पिआरी॥७८॥
× × ×
होली पिया बिन मोहि न भावै, घर आंगन न सुहावै।
दीपक जोय कहा करूं हेली पिव परदेश रहावै।
सूनी सेज जहर ज्यूं लागै, सुसक सुसक जिय जावै॥७९॥



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मीरा के मिलन-गीतों में भी वही नायक की 'छेड़छाड़' और वही नायिका का 'कृतक कोप' पाया जाता है जो कि साधारणतया लोकगीतों में पाया जाता है, जैसे—

**छांड़ो लंगर मोरि बहियां गहो ना।।टेक।।**
**मैं तो नार पराये घर की मेरे भरोसे गुपाल रहो ना।**
**जो तुम बहियाँ गहत हो नयन जोर मोरे प्राण हरो ना।**
**वृन्दावन की कुंज गलिन में रीति छोड़ि अनरीति करो ना।।१७३।।**

अन्त में हम मीरा के गीतों की प्रतिध्वनि लिए हुए उस गीत को भी लिखने के लोभ का संवरण नहीं कर सकते जिसने कि हमारा ध्यान इस विषय की ओर खींचा और प्रेरणा दी प्रस्तुत अध्ययन के लिए। गीत पंजाबी भाषा का है—

**नी लैं दे माइए, कालिआ बागां दी मंहिदी।**
**गली गली मैं पत्तर चुनैंदी, लोक कहिंदे मसतानी।।नीलैं दे०।।**
**ना मैं मसतानी ना मैं दिवानी, लग्ग गई इशक दे कानी।**
**घोल मंहिदी मैं हत्था ते लानीआं, बहुटड़ी बण बण बहिंदी।।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा, भाव और टेकनीक सभी दृष्टियों से मीरा का काव्य लोककाव्य के अति निकट है। मीरा ने अवश्य ही अपनी आत्मानुभूति का निदर्शन लोकभाषा और लोककाव्य की पृष्ठभूमि पर उसी के आवरण में किया है इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। दोनों के बीच में यदि कोई विभाजक रेखा खींची जा सकती है तो वह है 'रसान्तर', जहां लोकगीतों का आधार स्थूल लौकिक होने से उनमें शुद्ध शृंगार रस पाया जाता है वहां मीरा के गीतों का आधार इन्द्रियातीत अलौकिक होने से 'माधुर्य'। यद्यपि शृंगार भी अपनी पराकाष्ठा पर मधुर रस में ही परिणत हो जाता है।[1]

---

**१. इस लेख में उद्धृत--पद तथा संख्या हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'मीराबाई की पदावली' के आधार पर दी गई है।--लेखक**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री प्रशांतकुमार जायसवाल एम० ए०

# शकों का जातीय परिचय और भौगोलिक स्थिति

भारत-भूमि प्राचीन काल से ही अनेक जातियों के आगमन का लक्ष्य रही है। अनेक जातियां इस देश में संक्रामक अथवा आक्रामक के रूप में आईं और काफी हद तक अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल भी हुईं। पर इस मिट्टी में अपनी एक विशेषता भी रही है और वह है सबको आत्मसात करने की प्रवृत्ति। सब आकर यहां एक ही रंग में रंग गए और पृथकत्व में एकत्व का अपना ऐसा अपूर्व उदाहरण बना गए, जो विश्व के इतिहास में अद्वितीय है। अतः आज की जनता में से शकों को ढूंढ़ निकालना कठिन है।

## शकों का स्रोत

बाहर से आने वाली इन जातियों में शक भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त और जो जातियां विशेष महत्व रखती हैं वह हैं यवन और पह्लव। भारतीय प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में हम इन तीनों का वर्णन पाते हैं। शकों का उल्लेख अधिकतर यवनों के साथ ही है। भारतीय साहित्य में शकों का वर्णन रामायण[1], महाभारत[2], मनुस्मृति[3], वायुपुराण[4], मत्स्यपुराण[5], ब्रह्माण्डपुराण[6],

---

१. (क) भूय एवासृजद्घोरान् शकान् यवनमिश्रितान्।
तैरासीत्संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ॥बालकाण्ड, ५४, २१
(ख) योनिदेशाच्च यवनाः शकृद्देशाच्छकास्तथा ॥वही, ५५, ३
(ग) काम्बोजान् यवनांश्चैव शकानारट्टकानपि॥ वही ४३, १२

२. (क) तुषारा यवनाश्चैव शकाश्च सह चूचुपैः॥ भीष्मपर्व, ७५, २१
(ख) शकास्तुषारा यवनाश्चसादिनः, सहैव काम्भोजवरैर्जिघांसव॥कर्णपर्व, ९४,१६
(ग) उदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च॥ उद्योगपर्व, १५८, २०

३. वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेनच।
पौण्ड्रकाश्चौड्र द्रविड़ाः काम्बोजा यवनाः शकाः॥मनु० १०, ४३-४४

४. वायुपुराण, अध्याय ८८

५. सप्तगर्दमिला भूयो, मोक्ष्यंतीमां वसुन्धराम्।
शतानि त्रीण्डशीतिं च शका ह्यष्टादशैव तु॥मत्स्य०

६. शतानि त्रीण्यशीतिं च मोक्ष्यन्ति वसुधां शकाः। ब्रह्माण्ड
—डाइनेस्टीज आफ दि कलि एज, पृ० ४७, ७२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पाणिनि[१], कात्यायन[२], पतंजलि[३], नाटचशास्त्रादि में हम पाते हैं। साहित्य के अतिरिक्त अभिलेखों में भी इनका वर्णन आया है। वासिष्ठीपुत्र श्री पुलोमावी[४] और समुद्रगुप्त[५] की प्रशस्तियों में हम उनका उल्लेख पाते हैं, साथ ही मथुरा-सिंह मस्तक-अभिलेख तथा कदम्ब मयूरशर्मण के चंद्रवल्ली प्रस्तर अभिलेख[६] में भी इनका वर्णन प्राप्त होता है।

मध्य एशिया में निवास करने वाली सीथियन जाति के शाखा-रूप से विद्यमान शकों का वर्णन हम बेहिस्तून, हखमनी साम्राज्य के अभिलेख, पर्सिपोलिस तथा ईरानी सम्राट दारा के अभिलेखों में पाते हैं।[७] हेरोडोटस का इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत है कि सीथियन लोग दारा के पूर्व ही मिड्स को जीतकर एशिया के स्वामी हो गए थे।[८] उनके द्वारा वहां पर निश्चित प्राप्त सूचना का भी उल्लेख किया गया है और वह यह है कि सीथियनों में इस परम्परा की विद्यमानता थी कि उनके प्रथम सम्राट से लेकर ईरानी सम्राट दारा के आक्रमण तक का समय पूर्ण-रूपेण १००० वर्ष का था।[९] दारा के सम्बन्ध में निर्धारित तिथि ५२६-४८६ ई० पू० मानी जाती है।[१०] इस प्रकार यदि हेरोडोटस को प्राप्त तथा उसके द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त सूचना पर हम विचार करें तो इतिहास के रंगमंच पर शकों की स्थिति १५०० ई० पू० से पहले ही हो जाती है।[११]

श्री सत्यश्रव जी ने शकों पर लिखी हुई अपनी पुस्तक में यह विचार व्यक्त किया है कि महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि दुर्योधन की ओर से शक सैनिकों ने भी युद्ध में भाग लिया था।[१२] महाभारत का समय श्री पी० सी० सेनगुप्त महोदय द्वारा निर्धारित २४०० ई० पू० मानते

---

१. अष्टाध्यायी, ४।१।१७५, ४।३।९२, ५।४।३८
२. अष्टाध्यायी के १।१।६४ पर वार्तिक--शकन्ध्वादिषु पर रूपो वाच्यम्।
३. पतंजलि द्वारा व्यवहृत शक--यवन समास--अष्टाध्यायी सूत्र संख्या २-४-१०
४. एपि० इं०, खण्ड ८ नासिक गुहाभिलेख नं० २, पृ० ६०
५. समुद्रगुप्त का इलाहाबाद स्तम्भ लेख, सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन, पृ० २५८
"देवपुत्रषाहि षाहानुषाहिशकमुरुण्डैः।"
६. एपि० इं०, खं० ९, पृ० १३५--"सर्वस सकस्तनस पूयए"।
७. मे० आर्को० सर्वे ए० रि० १९२९, पृ० ५०
कदंबाण मयूरशम्भण विनिम्भि अं
तटाकं (कुट) तेकूड--अमिर-पल्लव-परि
योतिक-सकस्यन सयिन्यक-पुणड-मोकरिण॥
८. सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन, डी० सी० सरकार, सं० १, पृ० ४-११
९. हेरोडोटस अनु० जी० रालिन्सन, भाग १, अनुच्छेद १०४।
१०. वही, भाग २, अनुच्छेद ११०।
११. दि शकाज इन इण्डिया, सत्यश्रव, पृ० २।
११. दि शकाज इन इण्डिया, ,, ,, ४-५।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हुए उन्होंने इस तथ्य को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि भारतीय इतिहास को शकों का ज्ञान २४०० ई० पू० से ही है। पर महाभारत की इस तिथि को सभी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। अतः इस विषय में कुछ निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि महाभारत का काल २४०० ई० पू० है या भारतीय इतिहास को शकों का परिज्ञान २४०० ई० पू० से ही है।

## "शक" नाम पड़ने का कारण

शक, "शक" क्यों कहलाए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। ग्रीक लेखकों द्वारा इस प्रश्न का विवेचन नहीं किया गया है, पर विभिन्न पुराणों के अध्ययन से इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है, जिसका अवधारण अन्य तथ्यों से करना होगा। वायु तथा मत्स्य पुराण में ऐसा वर्णन हम पाते हैं कि शकों का निवास-स्थान नदियों के जाल से अवछिन्न था और उनकी शाखाओं की आकृति शक अथवा साखू के वृक्ष-सदृश थी।[१] भारत में 'शक' के लिए अभी भी सागवान शब्द व्यवहृत होता है और हम स्पष्टतया देखते हैं कि इसकी व्युत्पत्ति मूल "शक" शब्द से है। मत्स्य-पुराण में हम इस विवरण का उल्लेख पाते हैं कि शकों के निवासस्थल में शक नामक एक पर्वत विद्यमान था, अतएव उनका नामकरण शक हुआ।[२] ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि इस पर्वत पर शक वृक्ष भी बहुत रहे हों और इसी से यह पर्वत शक संज्ञक हुआ हो। विभिन्न संस्कृत कोशों में शक शब्द का अर्थ वृक्ष,[३] द्वीप,[४] क्षत्रिय,[५] देश,[६] एक विशेष जाति[७] तथा राजा[८] दिया हुआ है। मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोश में शक का अर्थ एक पशु विशेष लिखा है तथा इसके स्त्रीलिंग का अर्थ एक पक्षी, मक्षिका अथवा लम्बे कान वाला पशु दिया है।[९] हम इससे यह कल्पना तो अवश्य कर सकते हैं कि संभव है कि कान लम्बे होने के कारण ही उनका "शक" नामकरण हुआ हो।

---

१. वायु पुराण, अध्याय ४९, ८८ तथा ८९।
२. मत्स्यपुराण, १२३, ३६।
३. विश्वप्रकाश कोश, पृ० ५, श्लोक ३५।
४. वही, नानार्थ शब्द कोश, पृ० ३, श्लोक ३६। नानार्थ संग्रह, पृ० ८७, श्लो० ३६, मद्रास संस्करण।
५. विश्वप्रकाश कोश, पृ० ४, २५।
६. वही।
७. नानार्थ शब्द कोश, पृ० ३, श्लोक ३५।
८. वही।
९. ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ० १०४५।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



## शकों का आदि देश

शक विशाल सीथियन जाति की एक शाखा स्वरूप थे, जिनका कि निवासस्थान मध्यएशिया का भूमिप्रदेश था। शकों के आदिम देश सीथिया के विषय में हेरोडोटस द्वारा दिया हुआ विवरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अनुसार सीथिया आकार में वर्गाकार है और इसके दोनों किनारे समुद्र का स्पर्श करते हैं।[१]

डायडोरस आफ सिसली के अनुसार शकों के पास पहले एक छोटा ही प्रदेश था, पर धीरे-धीरे जैसे-जैसे इनकी संख्या में वृद्धि होने लगी, इन लोगों ने और प्रदेशों पर भी अपना प्रभुत्व जमाना प्रारम्भ कर दिया और अर्क्ष (Arxes) नदी-प्रदेश जो उनका प्रारम्भिक स्थान था, उससे आगे बढ़ते हुए वे काकेशस पर्वत के पास तक पहुंच गए और उसके समय (५७ ई० पू०) तक तो वे भारत के सीमांत प्रदेश तक बस गए थे।[२]

पुराणों में भी शकों के आदि स्थान के विषय में चर्चा है और इस स्थान को वहां शकद्वीप कहा गया है। महाभारत में भी शकद्वीप का उल्लेख है। इसके अनुसार क्षीरोदसागर (कास्पियन सागर) का कुछ भाग शकद्वीप से घिरा हुआ था,[३] तथा दधि (ग्रीको का Dahae) एवं मण्डोदक (Median?) सागरों का स्पर्श करता था।[४] मत्स्यपुराण में ऐसा उल्लेख मिलता है कि लवणोदधि शकद्वीप से घिरा था।[५] महाभारत में ऐसा भी वर्णन आता है कि शकद्वीप के एक भाग अथवा मगियाना के लोग ब्राह्मण थे और मश्क निवासी क्षत्रिय तथा इसके और भागों में वैश्य तथा शूद्र भी निवास करते थे।[६] महाभारत का यह कथन हेरोडोटस के उस वर्णन से भी मेल खा जाता है, जिसमें यह कहा गया है कि सीथिया के बीच के प्रदेश में पशुपालक तथा कृषक सीथियन निवास करते थे।

शकों के मूल निवास के संबंध में साहित्यिक प्रमाणों के अलावा हमारे पास पुरातात्विक प्रमाण भी हैं। हखमनी-सम्राटों के वृतान्तों से पता चलता है कि शक तीन स्थानों पर बसे थे और वे लोग उनकी प्रजा थे। इस वंश के अभिलेख शकों के वासस्थान की ओर भी पूर्ण संकेत

---

१. भाग, ४।
२. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, भाग, २, पृ० ४३।
३. शाकद्वीपं च वक्ष्यामि यथावदिह पार्थिव।
क्षीरोदो भरतश्रेष्ठ येन सम्परिवारितः।।भीष्मपर्व ११।९।१०
४. क्षीरोदेन समुद्रेण सर्वतः परिवारितः।
शाकद्वीपस्तु विस्तारात्समेन तु समन्ततः।। वायु० ४९, ९९
परिवार्य समुद्रं स दधिमण्डोदकं स्थितः।। वायु० ४९।७५
५. तेना वृतः समुद्रो यं द्वीपेन लवणोदधिः।। मत्स्य० १२२।३
६. भीष्मपर्व ११।३६-३७



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करते हैं—'पर-सुग्दम'। सोग्द की राजधानी हमेशा से समरकंद रही है। 'पर-सुग्द' का ग्रीक अनुवाद ट्रांसियाक्सियाना किया जा सकता है, जो सीर दरिया के विशाल मैदान की ओर संकेत करता है।[१]

इसके पश्चात् द्वितीय तथा पहली शती ई० पू० के बीच इन शकों को उस स्थान को छोड़ना पड़ा और साइगल (वर्तमान सीस्तान) में बसना पड़ा। चीनी स्रोत शकों को अपनी मूलभूमि छोड़ने तथा दूसरे स्थान पर बसने के विषय में महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

चीनीविवरण शी-की तथा शान-हान-शू से ज्ञात होता है कि हूण चि-यू के काशगरिया के सुदुर पूर्व तथा उत्तरी पूर्वी प्रदेश में बसने वाली यहूची जाति को बुरी तरह से परास्त किया। यह घटना संभवतः दूसरी शती ई० पू० के दूसरे चरण में हुई।[२] टार्न के अनुसार यह तिथि १७६-७४ ई० पू० मानी जा सकती है।[३] क्लप्रोथ ने इस घटना का समय संभवतः १६५ ई० पू० निर्धारित किया है, जो स्थिम को भी मान्य है।[४] पर चीनी स्रोतों में इसके तिथि के संबंध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता और वहां केवल यही कहा गया है कि चि-यू के राज्य काल में हुई और यह समय लगभग १७६-१६१ ई० पू० तक का है।[५]

इस युद्ध में यूह्ची राजा मारा गया और इसके पश्चात् उनके पैर अपनी मातृभूमि में टिक न सके और उसने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। तदनन्तर यूह्चियों की मुठभेड़ वुसुन जाति से हुई और वुसुन राजा मारा गया। यूह्ची रुके नहीं, आगे बढ़ते ही गये। इसक्कूल झील पर यूह्ची दो शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं। क्षुद्र यूह्ची दक्षिण की ओर चले गये और तिब्बत के सीमांत प्रदेश पर बसे। ता-यूह्ची पश्चिम की ओर बढ़ते ही गए और अपर इली की घाटी में बसे हुए साई अथवा सेक लोगों से जा टकराये।

कुछ चीनी स्रोतों में यूह्ची तथा वुसुन के मुठभेड़ की कोई चर्चा नहीं है तथा ऐसा वर्णन है कि हिंग-नू (हूण) के आक्रमण के पश्चात् ही यूह्ची लोग सीधे बिना वुसुन इत्यादि से मुठभेड़ किये हुए ही सीर दरिया के कांठे में चले गये।[६] अतएव यूह्चियों तथा वुसुनों की मुठभेड़ के स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस प्रकार यदि सभी चीनी वृत्तान्तों की ओर हम दृष्टिपात करें तो यही पायेंगे कि हिंग-नू लोगों के द्वारा पूर्णरूपेण विजित किये जाने पर यूह्ची लोग पश्चिम की

---

१. मै० आर्के० सर्वे इण्डिया, ३४।३-४

२. दि शकाज इन इण्डिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० १।

३. ग्रीक बै० इं०, पृ० २७६।

४. टेबुलेक्सहिस्टोरिका डी ला एशिया, १३२, डा० चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'दि शकाज इन इण्डिया' में इसको उद्धृत किया है। पृ० १।

५. वही, फुट नोट में, पृ० १।

६. 'दि शकाज इन इण्डिया', डा० चट्टोपाध्याय, पृ० २।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


ओर बढ़े और उनकी भिड़न्त साई अथवा शक लोगों से हुई। इसका फल यह हुआ कि साई-वांग अथवा शक लोग दक्षिण की ओर मुड़े और की-पिन में जा बसे, तथा साथ ही साथ इनकी कई शाखाएं भी हो गईं और इनके अनेक राज्यों की स्थापना भी हुई।[1] इस साई-वांग शब्द का क्या अर्थ होता है और इनको हम शकों के अर्थ में निर्द्वन्द रूप से ले सकते हैं, अथवा नहीं, इस पर भी अनेक मत विभिन्न विचारकों द्वारा व्यक्त किये गये हैं, जिन पर डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने प्रकाश डाला है।[2] पर इतना तो निश्चित ही सा ज्ञात होता है कि यह शकों के लिए ही प्रयुक्त हुआ और डा० चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक में इस निष्कर्ष की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है।[3]

## भारत की ओर प्रस्थान

अब प्रश्न यह उठता है कि ये साई-वांग अथवा शक की-पिन किस मार्ग का अनुसरण करके आये। हान-शू से हमें केवल यहीं ज्ञात होता है कि दक्षिण की ओर मुड़कर वे हीन-तू अथवा हिन्दूकुश के रास्ते से आए। फाह्यान ने हीन-तू को स्कर्द से थोड़ा पश्चिम काशगर से दक्षिण-पश्चिम दिशा में सिंधु नदी के पास अवस्थित बतलाया है। पर चीनी वृत्तान्तों में हमें इस संबंध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती कि वे हीन-तू किस मार्ग का अनुसरण करके आए और इसके पश्चात् वे की-पिन कैसे पहुंचे तथा उन्होंने अपनी इस भीषण यात्रा के लिए इस दुर्गम तथा बीहड़ मार्ग को क्यों चुना? पर यदि हम तोलेमी के कथन को ध्यान में रखें तो यह बात पूर्णरूपेण हृदयंगम हो जाती है, क्योंकि उनके अनुसार शकों का विस्तार दक्षिण में बान्टिस्तान तक हो गया था और इस प्रकार इस प्रदेश की जातियों के लिए इस बीहड़ रास्ते से भारत में प्रवेश करना कोई अत्यन्त दुष्कर कार्य नहीं था।

अतएव यदि हम उपर्युक्त विवरणों पर ध्यान दें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि यूहचियों

---

१. 'की-पिन' का मामला विवादग्रस्त है। हान कुल के वृत्तान्त की-पिन का वर्णन करते हुए कहते हैं--वह स्थान जो नरम हो तथा जो दक्षिण-पश्चिम में वु-ह-शन-लि (आर्कोशिया) द्वारा घिरा हो और उत्तर पश्चिम में ताहिया (बल्ख) द्वारा। स्तेन कोनो इसकी कापिश से तुलना कर इसकी भौगोलिक स्थिति को बल्ख में कहीं स्थापित करते हैं। परन्तु यह प्रदेश हिमांचल है, यह गर्म नहीं हो सकता। हुवेन-त्सांग के अनुसार कापिश सर्द प्रदेश है। बहुत से विद्वानों ने 'की-पिन' को काश्मीर बतलाया है, जिसको कि आज की विद्वान-मंडली ने मान भी लिया है। सर आरेल स्टेन ने अपने 'एन्सेंट खोतन' खं० १, पृ० ५३ और स्मिथ महोदय ने अपनी 'अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया' पृ० २५१ में इस सिद्धांत को मान्यता प्रदान किया है।

२. दि शकाज इन इण्डिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० ३।

३. वही।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की भिड़न्त के बाद शकों की एक शाखा ने काश्मीर के मार्ग से भारत में प्रवेश किया और यह काश्मीर (पंजाब क्षेत्र) में जाकर बस गई।[1]

उपर्युक्त धारणा के अतिरिक्त हमारे पास अन्य प्रमाण भी विद्यमान हैं, जो शकों का आगमन स्थान पूर्वी ईरान घोषित करते हैं। हम ऊपर इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं कि यूहचियों के मुठभेड़ स्वरूप शकों की कई शाखायें हुईं तथा उनके अनेक राज्यों की आगे चल कर स्थापना भी हुई, जो लोग की-पिन में जा बसे थे, उनके अतिरिक्त कुछ और कबीले पूर्वी ईरान की ओर मुड़े। संभवतः इन्हीं को जस्टिन ने सीथियन की संज्ञा प्रदान की है।[2] उनकी चपेट में पार्थव तथा वाख्त्री राज्य-कुल आए और इस प्रकार सम्पूर्ण हेलियाक्लीज सपरिवार शकों की चपेट में आगया। युक्रेतिद का ग्रीक राजकुल अपनी गृह-कलह के कारण स्वयं क्षीण तथा दुर्बल हो गया था। वह शक आक्रमणकारियों का सामना न कर सका। वाख्त्री पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके शक और आगे बढ़े। रास्ते में पार्थव पड़ते थे। ई० पू० १२८ में पार्थव राजा फ़ात द्वितीय धराशायी हुआ। उसके उत्तराधिकारी आर्तबानस द्वितीय (१२८-१२३ ई० पू०) ने उनको कुछ कर इत्यादि देकर एक अस्थायी शांति की व्यवस्था की। पर यह बहुत दिनों तक चल न सका और वह भी पांच वर्षों बाद शकों द्वारा युद्ध में मारा गया।[3] परन्तु इसके बाद मिथ्रेडेट द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) ने जो कि शक्तिशाली राजा हुआ, उस संपूर्ण क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करके शकों को आगे बढ़ने से रोक दिया। इसके राजत्वकाल में उसका इतना दबदबा रहा कि शक रंचमात्र भी आगे न बढ़ पाये।

विद्वानों की ऐसी धारणा है कि उपर्युक्त राजा के राजत्व काल के पश्चात् अथवा उसी के काल में ही शक भारत की सीमा की ओर मुड़े। रास्ते में काबुल का राज्य पड़ता था, जो वाख्त्री राजकुल की ही एक शाखा द्वारा शासित होता था। अतएव उनके मार्ग में कुछ बाधा उपस्थित हुई और कुछ समय के लिए जहां थे वहीं पर उन्होंने अपना डेरा डाल दिया। उनकी यह निवास भूमि सीस्तान अथवा शकस्थान कहलाई। कुछ समय पश्चात् कंधार और बलूचिस्तान (बोलन-

---

१. लूजां ने अपनी पुस्तक, सी० पी० इं० हि०, पृ० ३५७ में इसी बात को दूसरे रूप में कहा है––Although it is probable that Sakas from Seistam invaded India at an early time the possibity exists that the makers of the kharosthi insecriptions in North-West India did not invade from the west, but from the north. परन्तु सी० डेबिओई और बनर्जी––शास्त्री ने क्रमशः ए० पो० हि० पा०, पृ० ५८-५९ में तथा इं० हि० क्वा० सं० १३, पृ० २०९ के अपने लेख में शकों के दोनों मार्गों से आने की संभावना व्यक्त किया है।

२. एपिटोम हिस्टोरिकेरम फिलिप्पिकेरम पाम्पेई ट्रांगि, १२।१।२
डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने इसको अपनी पुस्तक में पृ० ६ पर उद्धृत किया है।

३. जस्टिन ४२। १।१



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



दर्रे) के रास्ते से वे भारत पहुंचे और सिंधु नदी के निचले कांठे में जा बसे। उनके इस नवीन स्थान को हिंदू लेखकों ने शकद्वीप और ग्रीक भूगोलविदों ने "इण्डो सीथिया" कह कर पुकारा है।

पाणिनी के ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर अपना वार्तिक ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए कात्यायन ने 'शकन्धु' तथा 'कर्कन्धु' शब्दों का उल्लेख किया है।[1] ऐसा लगता है कि कात्यायन द्वारा वर्णित शक शकस्थान में आकर बसने वाले शकों के पूर्वज थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जब शक लोगों का निवासस्थान अभी मध्य एशिया ही था, तभी ई० पू० चौथी या तीसरी शताब्दी में 'शकन्धु' शब्द का प्रचलन हो गया था। 'शकन्धु' का अर्थ होता है शक लोगों का कुंआ। यह शब्द संस्कृत भाषा के व्याकरण में अपना विश्लेषण रखते हुए यह सिद्ध करता है कि भारत के लोग, शकों के यहां आगमन के पूर्व हीं, उनसे परचित हो गये थे और पाणिनी, कात्यायन-परिचित शक, ई० पू० प्रथम शताब्दी में यहां बसने वाले शकों के पूर्वज थे। पाणिनी ने 'कन्था' शब्द का भी उल्लेख किया है। मूल में यह शक भाषा का शब्द था, जिसमें कन्थ का अर्थ नगर होता है। ऐसा ज्ञात होता है है कि उस समय भी मध्य एशिया में कन्थाल नामों का एक तांता था, जो अभी तक विद्यमान है यथा समरकंद, पायकंद। कन्थ शब्द का परिवर्तन सुन्दी भाषा में कंद हो जाता है। इससे भी हम यही संकेत पाते हैं कि पाणिनी से भी पूर्व किसी समय शक जाति का प्रसार और सम्पर्क गजनी कंधार की उपत्यका से उतर कर तोचीगोमल नदियों के मार्ग से रावी और चिनाव के कांठे तक पहुंचा था।[2]

भारतीय शकों के नामकरण में सीथियन, पार्थव और ईरानी तत्वों का सम्मिश्रण है। इससे यह प्रमाणित होता है कि शक भारत में प्रवेश करने से पूर्व ईरानी "शक-स्थान" में पार्थव प्रभाव में रह चुके होंगे। वहीं पर उनका सम्मिश्रण भी हुआ होगा। ईरानी शकस्थान में रह कर शकों पर पार्थव और ईरानी प्रभाव पड़ा। उसी प्रकार भारत में आकर इन पर भारतीय प्रभाव पड़ा। उन्होंने भारतीय नामों को तथा भारतीय धर्म को अपनाया। उन्होंने भारतीय परिवारों (वंशों) से अपना विवाह सम्बन्ध स्थापित किया। इस संबंध में जूनागढ़ और कान्हेरी लेख को उद्धृत किया जा सकता है। जूनागढ़ लेख[3] में कहा गया है कि दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णी से रुद्रदामन का संबंध था। कैसा संबंध था इस बात का प्रमाण कान्हेरी लेख[4] में मिलता है, जहां शातकर्णी को रुद्रदामन का जामाता कहा गया है। एक दूसरा उदाहरण नागार्जुनीकोंडा लेख[5] में मिलता है, जिस से पता चलता है कि इक्ष्वाकु नरेश वीरपुरुष दत्त की

---

१. ६।१।९३ वा० ४।

२. पाणिनिकालीन भारत--वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८१-८२।

३. "दक्षिणापथपतेः सातकर्णोद्विरपि निर्व्याजनवजित्यावजित्य संबंधाविदूरत यान्त्सादनप्राप्तयशसा।"

४. आर्के० सर्वे वेस्ट इं० खं० ५, पृ० ७८ नं० ११।

५. एपि० इं० खं० २०, पृ० ४।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पत्नी महादेवी रुद्रभट्टारिका थी, जिसको उजनिका महार-बालिका कहा गया है। इस प्रकार वे भारतीय हो गये।

कालान्तर में शकों ने भारत में कई राजकुल स्थापित किये (१) सिंध और पश्चिमी पंजाब (२) तक्षशिला का शक कुल (३) मथुरा के क्षत्रप, (४) महाराष्ट्र का क्षहरात कुल और (५) उज्जैन के महाक्षत्रप।

## भारतीय शक कौन ?

शक कौन थे और वे भारत कैसे आए, इसी का विवेचन अब तक हम करते रहे। अब हमें यह देखना है कि ये भारतीय शक कौन थे। मथुरा-सिंह शीर्ष अभिलेख इस प्रश्न का उत्तर हमें देता है, इसमें उत्कीर्ण है :—

"सर्वस सकस्तनस पुयए'

यह प्रमाणित करता है कि मथुरा-क्षेत्र के क्षत्रप 'शकस्थान' या सीस्तान से आए थे और जो अब भी अपनी मूल भूमि को भूले नहीं हैं। सभी विदेशी जातियां अपनी मूल भूमि की स्मृति अपने मानस-पटल पर बनाए रहती हैं। वे शताब्दियों तक उसको नहीं भूलती। भारतीय पारसी अपनी मूलभूमि की स्मृति करीब आठ शताब्दियां तक बनाए रहे। प्राचीन इजिप्सियन और फोनेशियन अपनी मूल भूमि की अब तक यादगार बनाए हुए हैं, यद्यपि वे उस स्थान को जहां वे वस्तुतः रहते थे, भूल गए हैं।[1]

कान्हेरी लेख के अनुसार महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री अपने को कार्दमक वंशज कहती है। रेप्सन के मतानुसार कार्दमक कार्द्दम से बना है। कार्द्दम एक नदी है, जो (जरफ़शन) फारस में बहती है। इस प्रकार शकों की एक शाखा भारत में ईरान से आई। इस बात का अन्य प्रमाण भारतीय शकों का नामकरण है। शक क्षत्रपों में 'दामन' शब्द का प्रचलन था जैसे जयदामन, जीवदामन, रुद्रदामन आदि। ये सभी उज्जयिनी के चष्टन वंश के हैं। अवेस्ता में 'दामन' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ उत्पत्ति होता है।[2] और पेरिप्लस के अनुसार 'इण्डोसीथिया' तथा 'नम्बनस' के राज्य की राजधानी का नाम मिन नगर था और यह शकस्थान के 'मिन' नगर से निकला है। जिसको कि चौरक्ष के आइसैडोर ने उद्धृत किया है।

## शकस्थान की भौगोलिक स्थिति

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भारतीय शक 'शकस्थान' के थे। अब हमें यह देखना है कि इस 'शकस्थान' की भौगोलिक स्थिति क्या थी। 'यदि हम नक्शे पर दृष्टिपात करें तो पूर्व

---

१. दि वैदिक एज, तृतीय संस्करण, १९५७ पृ० २१६।
२. दि शकाज इन इण्डिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० ५।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में सिंधु, पश्चिम में हेरात से दक्षिण समुद्र, दक्षिण में समुद्र तथा उत्तर में हेरात से शिकारपुर सिंध होते हुए बोलन दर्रे तक की सीमाओं के बीच की भूमि शकस्थान थी। इसमें वर्तमान कर्मान सीस्तान, ईरानी बलूचिस्तान, केलात आदि जिले थे।[१] कोई बड़े नगर इसमें नहीं थे। इसके मुख्य नगरों में कर्मान, गुआदर बंदर, लाश, वेपुरी, मिर्रि, इका, तथ्य आदि थे। बाकी छोटे-छोटे गांव थे, जो पहाड़ियों पर स्थित थे।[२]

---

१. वही।

२. एन्सेंट इण्डिया, टी० एल० शाह, खं० ३, पृ० ९८।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विविधा

## साधारणीकरण : क्या और कैसे ?

साधरणीकरण का सूत्रपात भट्टनायक ने किया। अभिनव गुप्त ने उस पर अपने विचार प्रकट किये जिसकी चर्चा मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ ने भी की और उनके टीकाकार अथवा आलोचकों ने उनके भावों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। आधुनिक युग में डॉ० श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० केशवप्रसाद मिश्र, पं० रामदहिन मिश्र, डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित आदि अनेक विद्वानों ने इस विषय का मन्थन किया। डा० नगेन्द्र ने साधारण-जंगल को काट-छाँट कर उपवन का रूप दिया और उसमें, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य अध्ययन की पृष्ठ-भूमि में सुन्दर और नवीन कल्पना-सुमनों का आरोपण किया।

( २ )

साधारणीकरण की समस्या जटिल हो गयी अथवा बना दी गयी थी। डॉ० नगेन्द्र ने उसे बहुत कुछ सुलझा दिया है, तथापि उस पर और अधिक विचार कर लेना अहितकर न होगा ऐसी आशा है। 'साधारणीकरण' शब्द में 'च्वि' प्रत्यय 'अभूत्तद्भावे' अर्थात् 'जो वैसा नहीं उसे वैसा कर देना,' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार 'साधारणीकरण' 'शब्द का अर्थ है जो साधारण नहीं उसे साधारण कर देना। इस शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता रहा है: मनोविज्ञान-परक 'प्रत्ययीकरण' न्याय-परक 'सामान्यीकरण', धर्मशास्त्र-परक 'साधारणीकरण'। इन तीनों अर्थों का कुछ विवेचन अभीष्ट प्रतीत होता है :—

(क) **प्रत्ययीकरण**—मनोविज्ञान के अनुसार समान वस्तुविशेषों के प्रत्यक्ष, पुनरुत्पादक कल्पना आदि के आधार पर प्रत्यय (कौंसेप्ट) का निर्माण होता है। शिशु अनेक बार अनेक प्रकार के और अनेक स्थानों में, कुक्कुरों को देखकर उन कुक्कुरों के ऐसे गुणों को, जो उन सभी तथा अन्य कुक्कुरों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं; निकालकर कुक्कुरत्व का निर्माण कर लेता है। मनोविज्ञान में सामान्यीकृत यह रूप 'प्रत्यय' कहा जाता है।

(ख) **सामान्यीकरण**—भारतीय न्यायशास्त्र में और पश्चिमी आगमन तर्कशास्त्र में विशेष से सामान्य की ओर प्रवृत्ति को सामान्यीकरण कहते हैं। यथा, बारबार अनेक स्थानों और कालों में धुएं को अग्नि के साथ देखकर यह निष्कर्ष कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः) अथवा विभिन्न लौह-खण्डों को अग्नि में तपाकर और उन्हें बढ़ा हुआ पाकर यह निष्कर्ष कि लोहे के सभी टुकड़े तपने पर बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न धातु-खण्डों को अग्नि में तपाकर और उन्हें बढ़ा हुआ पाकर यह अनुमान कि सभी धातुएं तपकर बढ़ जाती हैं 'सामान्यीकरण' का उदाहरण है। ऐसे सामान्यीकरण में विशेष से



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सामान्य की ओर अथवा संकीर्ण सामान्य से विशाल सामान्य की ओर उज्झम्प (इण्डक्शन) होता है। अभिनव गुप्त, मम्मट आदि काव्याचार्यों ने साधारणीकरण को कभी प्रत्ययीकरण और कभी सामान्यीकरण के रूप में देखा है।

(ग) **साधारणीकरण**--इस शब्द का प्रयोग रामायण, कादम्बरी और राजतरंगिणी में भी हुआ है। इसका अर्थ है संयुक्त उपभोग 'साधारण-धन' को अंग्रेजी भाषा में जोइण्ट प्रौपर्टि कहा जा सकता है। मेरी विनीत सम्मति में काव्य में 'साधारणीकरण' का प्रयोग भी इसी अर्थ में संगत है। उदाहरण लीजिये:—कुछ दिन हुए मैंने एक ग्रन्थ मोल लिया जिसे पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैंने सोचा कि यदि मैं उसे किसी सार्वजनिक पुस्तकालय को भेंट कर दूँ तो अनेक व्यक्ति उससे लाभ उठा सकेंगे। इसी भावना से मैंने उसे एक सार्वजनिक पुस्तकालय को भेंट कर दिया। भेंट करने से पहले वह पुस्तक मेरी थी, अर्थात् मेरी निजी सम्पत्ति थी, किन्तु भेंट करने के पश्चात् वह मेरी निजी सम्पत्ति न रही। अब मैं उसके सम्बन्ध में यह नहीं कह सकता कि वह पुस्तक मेरी ही है, अथवा आपकी ही है, अथवा उसकी ही है; पर मुझे यह कहने का अधिकार है कि वह मेरी भी है, आपकी भी है और उसकी भी। वह मेरी इसलिए है कि पुस्तकालय के सदस्य होने के नाते, आवश्यकतानुसार अन्य सदस्यों की भांति, उसका उपयोग कर सकता हूं, हाँ, भेंट करने के पश्चात् मेरा यह अधिकार नहीं है कि मैं ही उसका उपयोग करता रहूँ। अभिनव गुप्त ने 'साधरणीकरण' का रूप इस प्रकार स्पष्ट किया है:—

**"ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्ध विशेष-स्वीकार-परिहार नियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतै रभिव्यक्तः"।**

'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने इस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है:—

**"परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।**
**तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥३, १२॥"**

संस्कृत के इन दोनों उद्धरणों से साधारणीकरण की ध्वनि निकलती है, यद्यपि सीता को कामिनीत्व के रूप में देखने की प्रवृत्ति मनोविज्ञान-परक है पर यदि 'सीता' का साधारणीकरण अभीष्ट है तो 'कामिनीत्व, पर ही क्यों रुका जाय 'प्राणित्व' अथवा उससे भी अधिक व्यापक सामान्य पर क्यों न रुका जाय, ऐसी आपत्ति सम्भव है। अतएव काव्य में भी साधारणीकरण का उक्त तीसरा अर्थ ही अपेक्षित है।

( ३ )

प्राचीन आचार्यों ने 'विभावादि' का साधारणीकरण माना है। पं० रामचन्द्र शुक्ल केवल 'विभाव' का (विशेषतः आलम्बन का) साधारणीकरण मानते हैं। आचार्यों का मत अधिक ठीक था, यद्यपि वे भी 'विभावादि' से कुछ अधिक लिप्त हो गये। डॉ० नगेन्द्र का सुझाव है कि साधारणीकरण 'विभावादि' का नहीं होता, वह तो कवि की अनुभूति का होता है। कवि की अनभूति में विभावादि का समावेश होता ही है अतएव प्रत्न आचार्य तथ्य के निकट आते-आते रह



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



से गये; तथ्याप्राप्ति का कारण उनका नैयायिक दृष्टिकोण प्रतीत होता है। एब्रर क्रौंबे जैसे पश्चिमी काव्य-शास्त्रियों ने भी काव्य को 'प्रेषणीय अनुभूति' समझा है, अतएव डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है सर्वथा युक्ति-संगत है।

मैं भी ऐसा ही समझता हूं। पर मेरी विनीत मति में कवि की अनुभूति व्यक्तिगत है, उसकी अनुभूति में विशेष बातें हैं। विशिष्ट भाव है और उसकी अनुभूति सरस भी है। मैं समझता हूँ कि कवि अपनी ऐसी निजी और आनन्दमयी अनुभूति को सर्वसाधारण के लिए उपस्थित कर देता है। वास्तव में वही कवि सफल है जो अनुभूति को, अपने पाठक (अथवा सामाजिक) के लिए, उसी रूप में उपस्थित कर सके जिसका अनुभव वह स्वयं कर चुका है। साधारणीकरण के पश्चात् कवि की अनुभूति उसकी ही नहीं अपितु उसकी भी एवं औरों की भी होती है।

( ४ )

भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण भावकत्व शब्दशक्ति के द्वारा होता है, जिसके दो साथी हैं—अविधा और भोजकत्व। मेरे विचार से शब्द शक्ति एक ही है, यद्यपि त्रिगुणात्मक है। वह उसी प्रकार त्रिविध है जिस प्रकार विद्युच्छक्ति—पौजेटिव, निगेटिव और इन दोनों का समन्वय (मैं लक्षणा और व्यंजना को शब्दशक्ति मानकर डाक्टर श्यामसुन्दर दास की भांति, अर्थ-प्रकार ही समझता हूँ) शब्द-शक्तिरूपी नदी की धारा अभिधा है; भावकत्व उसका चट्टानी तट है जो धारा को गतिशील बनाता है; और भोजकत्व उसका रमणीक सुमन-संकुल-तट है जो धारा को सरसता प्रदान करता है। जिस प्रकार विद्युत के द्वारा एक व्यक्ति की वार्त्ता दूसरे व्यक्ति तक पहुंच जाती है, उसी प्रकार कवि की अनुभूति भी इस त्रिगुणात्मिका शक्ति के माध्यम से पाठक-श्रोता के हृदय को यथावत् प्राप्त हो जाती है। दृश्य-काव्य में कवि अपनी अनुभूति अभिनेताओं को प्रसारित (ब्रौडकास्ट) करता है और अनुकर्तृ-गण उसे सामाजिकों को 'रिले' कर देता है। कवि की मूल अनुभूति में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् वह जितनी विशिष्ट है (अथवा विशेष गुणों से जितनी सम्पन्न है) उतनी बनी रहती है। कवि की अनुभूति में रस की निष्पत्ति एवं तज्जन्य आनन्द भी विद्यमान रहता है; और यह सब कुछ प्रायः उसी रूप में पाठकों अथवा दर्शकों को प्राप्त होता है।

( ५ )

'सहृदय' शब्द में 'समनाः' का अर्थ भी निहित है। हृदय और मन प्रायः पर्याय समझे जाते हैं। हृदय की कल्पना मन की अपेक्षा अधिक व्याप्त रही है। यजुर्वेद के अनुसार मन 'हृत्प्रतिष्ठं' है। काव्य का प्रधान सम्बन्ध 'भाव' से है जिसका अनुवाद 'थॉट' और 'फीलिङ्' दोनों से होता है, यद्यपि अधिकतर दूसरे से। 'हृदय' शब्द का प्रयोग उचित ही है। काव्य सहृदयों के लिए होता है, इस उक्ति का तात्पर्य यह नहीं कि काव्य-विशेष के पात्र अथवा अधिकारी पठित, अपठित, बाल-वृद्ध सभी हों,। हाँ, यह भी ठीक है कि काव्य का विषय वे साधारण भाव हैं जो मनुष्य-मात्र में समान होते हैं। इस दृष्टि-कोण से काव्य-श्रवण के अधिकारी मोटे तौर पर



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सभी लोग हो सकते हैं। साधारणीकरण के पश्चात् कोई भी सहृदय व्यक्ति काव्य का उपयोग उसी प्रकार कर सकता है जिस प्रकार प्रसारित वार्त्ता (ब्रौडकास्ट) की प्राप्ति 'रिसीविङ् सेट' ही कर सकता है। यह 'सेट' जितना उत्कृष्ट होगा प्रसारित वार्त्ता भी उतनी ही सुस्पष्ट और प्रभावोत्पादक होगी।

( ६ )

आचार्य विश्वनाथ ने साधारणीकरण के फलस्वरूप आश्रय के साथ तादात्म्य माना है। डॉ० नगेन्द्र आश्रय के साथ इस तादात्म्य को अस्वीकार करते हैं क्योंकि उनके अनुसार यह तादात्म्य कवि के भाव से होता है। इस विषय में, मैं 'तादात्म्य' शब्द की अपेक्षा 'तन्मयता' को अधिक अच्छा समझता हूँ। मेरे विनम्र विचार में पाठक, श्रोता या द्रष्टा किसी भी काव्यानुभूति से महत्तर होता है। अतएव इस अनुभूति से उसका तादात्म्य बताना उचित नहीं। अभिनव गुप्त समझते हैं कि काव्य, सामाजिकों के प्रसुप्त 'भावों' को जाग्रत कर, रस की निष्पत्ति कर देता है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या किसी कवि का काव्य सामाजिक के जन्मजन्मान्तर-प्राप्त प्रसुप्त 'विचारों' को उद्बुद्ध नहीं कर देता, क्योंकि वेदान्त के इस सिद्धान्त के अनुसार कि 'जीव ब्रह्म ही है, अन्य नहीं', सभी सामाजिक ब्रह्म होने के नाते पूर्ण हैं, उनके लिए कोई भी बात नितान्त नवीन नहीं। अतएव यह कहना कि सामाजिकों में केवल स्थायीभावों का जागरण होता है, मेरी विचारधारा में असंगत और अनावश्यक है। इसलिए जीव के पारमार्थिक रूप की चर्चा न कर यदि हम व्यवहार-जगत् की चर्चा के लिए जीव के व्यावहारिक रूप पर ही अधिक ध्यान दें तो अधिक ठीक हो। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह माना जा सकता है कि जीव में दोनों ही शक्तियाँ विद्यमान हैं---काव्य को प्रसारण करने की, और उसे ग्रहण करने की। वस्तुतः श्रोता कवि की उस अनुभूति को (सहानुभूति अथवा सिम्पथी के द्वारा) ग्रहण करता है जिसमें भाव, विचार, रसादि पहले से ही विद्यमान हैं। उस रस की निष्पत्ति श्रोता या सामाजिक के मन में नहीं होती। पर इसमें सन्देह नहीं कि उसमें रस को ग्रहण करने की शक्ति विद्यमान है, और वह अपनी शक्ति-सौष्ठव के अनुसार ही उस रस का अनुभव करता है जो काव्यानुभूति के साथ प्रसारित किया जाता है।

( ७ )

संक्षेप में, मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि साधारणीकरण शब्द के तीन अर्थ हैं: मनोविज्ञानपरक, न्यायपरक, धर्मशास्त्रपरक। काव्यजगत् के लिए मैं उसका तृतीय अर्थ ही सम्मत समझता हूँ। इस प्रकार काव्य के साधारणीकरण का अर्थ है कि कवि, व्यक्ति के द्वारा, अपनी अनुभूति को सर्वसाधारण के लिए उपस्थित कर देता है। साधारणीकृत काव्यानुभूति कवि की निजी सम्पत्ति होते हुए भी औरों की भी है; केवल उसीकी नहीं न केवल औरों की। अर्थात् काव्यानुभुति सर्वसाधारण की होती है, जो वक्ता की है और श्रोता की भी। साधारणीकरण शब्द-शक्ति के द्वारा होता है जिसके तीन रूप हैं---अभिधा, भावकत्व, और भोजकत्व। साधारणीकरण के द्वारा कवि की अनुभूति की यथावत् प्राप्ति उस पाठक श्रोता अथवा द्रष्टा को हो जाती है



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जिसके मन और हृदय, अनुभूति को ग्रहण करने के निमित्त, समान होते हैं। अनुभूति-ग्रहण के समय सामाजिक के हृदय की तन्मयता कवि की अनुभूति से होती है।

—(डॉ०) रामदत्त भारद्वाज

० ० ०

## रीतिकालीन कवि-परिपाटियों के प्रतीक

रीतिकालीन कवि-परिपाटियों के दो प्रमुख वर्ग हैं—एक वनस्पति संसार का और दूसरा जीवधारियों का। यहां प्रथम वर्ग पर ही विचार अपेक्षित है।

कवि-प्रसिद्धियों का आदितम रूप हमें आदिम जातियों के वृक्ष तथा पौदों के पूजा-भाव अथवा पवित्र-भावना में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दूसरा तत्त्व 'वृक्ष-दोहद' की भावना का भी है। इन दोनों तत्वों का समाहार कवि प्रसिद्धियों के उद्गम तथा विकास में प्राप्त होता है। दूसरी ओर केवलमात्र 'वृक्ष-दोहद' की भावना को ही इन परिपाटियों का स्रोत नहीं माना जा सकता है जैसा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है।[1] इसके अतिरिक्त, कवि-परिपाटियों का उद्गम तथा विकास पौराणिक तथा धार्मिक स्रोतों से भी हुआ है। इन सभी तत्त्वों का एक समन्वित रूप हमें इन परिपाटियों में दृष्टव्य होता है।

आदिम जातियों में जड़ पदार्थों में भी सचेतन-क्रिया का आरोप प्राप्त होता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वृक्ष तथा पौदों की भावना से सचेतन-क्रिया का आरोप किया गया। वैसे तो ये प्रथायें तथा विचार अंधविश्वास ही थे, पर उनके अंतराल में प्रतीक-सृजन का स्रोत एक सत्य है। फ्रेजर[2] ने अपने अत्यंत खोजपूर्ण ग्रंथ में इस ओर संकेत किया है। इन अंध विचारों ने ही जिज्ञासा को जन्म दिया और क्रमशः जड़-प्रकृति में मानवीय स्पंदन को देखा गया। आदिम जातियों ने वृक्षों तथा पौदों के उत्पन्न होने में और मानवीय प्रजननक्रिया में एक धूमिल समानता का अनुभव किया। इसी विश्वास ने वृक्ष को उर्वरता का प्रतीक बनाया। यही कारण है कि अनेक परिपाटियों में मिथुनपरक अर्थ की भी अवतारणा प्राप्त होती है। ऐसे कुछ उदाहरण हैं—श्रीफल, अशोक तथा प्रियंगु। इस मिथुन भाव में दोहद (पुष्पोद्गम) का भी अर्थ समाविष्ट है। यह एक यौनपरक (sexual) क्रिया है।

प्रश्न है कि दोहद की प्रवृत्ति का आरोपण नारी की क्रियाओं पर क्यों किया गया? इसका उत्तर हमें आदिम जातियों (आर्येतर) के विश्वासों में मिलता है। अनेक आदिम जातियों में प्रजनन क्रिया के प्रथम अनेक वृक्षों से नारी के प्रजनन अंगों के स्पर्श करने की प्रथा का संकेत

---

१. हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २२३

२. गोल्डन बॉउ द्वारा फ्रेजर—ए स्टेडी इन मैजिक एंड रिलीजन, पुस्तक २, भाग १. अध्याय २, ३



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


मिलता है। इससे यह समझा जाता था कि स्त्री की उर्वरा शक्ति का विकास उस विशिष्ट पौदे या वृक्ष के स्पर्श से सम्भव है। फलतः इस अंधविश्वास के कारण वृक्षों की उर्वरा शक्ति से स्त्री का उत्तरोत्तर सम्बन्ध बढ़ता गया, और अंत में, स्त्री के अंगों के स्पर्श से पौदों तथा वृक्षों का पुष्पित तथा विकसित होना, एक प्रकार से, कवि प्रसिद्धि में परिवर्तित हो गया।

वृक्ष की इस उर्वरा शक्ति से पुराणों में वर्णित यक्षों, गंधर्वों तथा अप्सराओं का भी अपरोक्ष सम्बंध है। नागों तथा यक्षों का देवता 'वरुण' है। वरुण जल का अधिपति है। वरुण से सम्बंधित यक्षि तथा यक्षणियां भी अपदेवता के रूप में रामायण तथा महाभारत में भी मान्य रहे।[1] अतएव इनका सम्बन्ध वृक्ष की उर्वरा शक्ति तथा जल से माना गया। अत: यक्ष को उर्वरता का प्रतीक माना गया। दूसरी ओर गंधर्व और अप्सरायें भी उर्वरता के प्रतीक हैं। इनका घनिष्ट सम्बंध इंद्र से रहा। गंधर्व जल या सोम का रक्षक है[2]। ऋग्वेद में सोम को देवताओं के पिता का सृजनकर्ता भी कहा गया है। यह सोम वृक्ष पर्वतों पर प्राप्त होता है जहां गंधर्व वास करते हैं[3]। दूसरी ओर, गीता तथा उपनिषद् में गंधर्व को अमानवीय जीव भी कहा गया है। यहां तक कि कृष्ण ने अपने को गंधर्वों में चित्ररथ की संज्ञा प्रदान की है[4]। इस प्रकार गंधर्व शब्द एक विस्तृत क्षेत्र की व्यंजना करता है। इसी प्रकार अप्सरायें भी जल से सम्बंधित हैं जो उर्वरता की प्रतीक हैं। निरुक्तिकार ने अप्सरा की व्याख्या 'अपस्' अर्थात् जल में 'सरण' करनेवाली नारी-रूपिणी शक्ति से माना है। ऐसी स्त्रियों की कल्पना पाश्चात्य देशों में साइरन, मरमेड तथा निम्फ के रूपों में प्राप्त होती है[5]।

इन सब विवरणों से सिद्ध होता है कि यक्ष, गंधर्व तथा अप्सरायें, किसी न किसी रूप में, जल तथा वृक्ष से सम्बंधित हैं। वरुण भी जल का अधिपति है। जब वरुण का स्थान इंद्र ने ग्रहण कर लिया, तो ये गंधर्व और अप्सरायें वरुण के हाथ से च्युत होकर इंद्र के दरबार के गायक हो गए। इसी से, यक्ष और यक्षिणी तथा गंधर्व और अप्सरायें एकार्थवाची शब्द माने गये हैं।[6] यहां तक कि कामदेव और वरुण मूलतः एक ही देवता हैं जो उर्वरता के प्रतीक होने के कारण, वृक्ष से सम्बंधित हैं। जल का एक अन्य प्रतीक 'कमल' भी है जिसमें वरुण और उसकी स्त्री वास करते हैं। भारतीय साहित्य में कमल जल और जीवन का प्रतीक होने से अत्यंत मंगलमय माना गया

---

**१. हिंदी साहित्य की भूमिका--डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २२९**

**२. हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ--त्रिबेणी प्रसाद सिंह, पृ० ८८**

**३. इपिक्स, मिथ्स एंड लीजेन्ड्स आफ इंडिया--पी० थामस, पृ० ९**

**४. गीता, विभूति योग, श्लोक २६, पृ० ३६२ तथा वृहद् उपनिषद, अध्याय ३ पृ० ६९२**

**५. हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० ८८**

**६. हिंदी साहित्य की भूमिका--डा० द्विवेदी, पृ० २३१**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है। कवि परिपाटियों में कमल और कामदेव का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार, इस प्रसंग में जिन कल्पित रूपों की अवतारणा की गई है, उनका प्रयोग कवि प्रसिद्धियों के रूप में, संस्कृत साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक में होता रहा है।

मैंने रीतिकालीन कवियों में बिहारी, मतिराम, केशव और सेनापति के काव्य को ही विवेचन का आधार बनाया है। इन कवियों ने अनेक वृक्षों तथा फूलों को अपनी भावाभिव्यंजना का प्रतीक बनाया है। ये प्रसिद्धियां उसी समय प्रतीक का कार्य करती हैं जब उनके द्वारा किसी भाव तथा विचार या वस्तु की व्यंजना होती है और उस व्यंजना में उनका परम्परागत रूप भी स्पंदित होता है।

**चम्पक**––चम्पक के प्रति यह प्रसिद्धि है कि वह रमणियों के मृदु हास से मुकलित एवं पुष्पित हो जाता है। सत्य में यह एक प्रसिद्धिमात्र है। मेघदूत में चम्पक के प्रति ऐसी ही प्रसिद्धि प्राप्त होती है[१]। रीतिकाल में चम्पक के प्रति ऐसी धारणा नहीं प्राप्त होती है, परंतु, दूसरी ओर कवियों की भावाभिव्यंजना में वह अन्य संदर्भों की वाहक अवश्य बन गई है। एक स्थान पर बिहारी ने चम्पक को रूप-सौंदर्य का व्यंजक बनाया है :––

**केसरि कै सरि क्यौं रुकै, चंपक कितक अनूप।**
**गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप कौ रूप॥**[२]

यहां बिहारी ने चम्पक की प्रसिद्धि को व्यापक अर्थ देने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर मतिराम ने चम्पक और भौरे के द्वारा नीतिपरक अर्थ-व्यंजना प्रस्तुत की है :—

**सुबरन, बरन सुवास जुत, सरस दलनि सुकुमारि।**
**ऐसे चम्पक कौ तजै, तै ही भौंर गँवारि॥**[३]

यहां पर चम्पक को सद्‌गुणों का और भंवरे को उस व्यक्ति का प्रतीक बनाया गया है जो सद्‌गुणों से युक्त 'वस्तु' का त्याग कर देता है।

**अशोक**––अशोक एक अत्यंत रहस्यमय वृक्ष माना गया है। संस्कृत कवियों ने इसके गुच्छों तथा किसलयों का ही अधिक वर्णन किया है। ऐसी मान्यता है कि ये सुंदरियों के वाम पदाघात से अथवा स्पर्श से खिल उठते हैं। राजशेखर तथा कालिदास ने इसी प्रसिद्धि को अपने काव्य में स्थान दिया है।[४] मतिराम ने अशोक की इस प्रसिद्धि का अपने ढंग से प्रयोग किया है —

---

१. वही, पृ० २४५
२. बिहारी-सतसई; सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० ४२।१०२
३. मतिराम ग्रंथावली, सतसई, पृ० १७९।७४
४. हिंदी साहित्य की भूमिका––डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २३५



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तेरो सखी सुहागबर, जानत है सब लोक।
होत चरन के परस पिय, प्रफुलित सुमन अशोक।।[१]

यहां पर अशोक की प्रसिद्धि का सहारा लेते हुए कवि ने उसे नायिका के हृदगत भावों का व्यंजक बनाया है।

**मालती**--इसका वर्णन कविगण वसंत तथा शरद् ऋतु में नहीं करते हैं। रात्रि के आगमन पर ये प्रफुल्लित होते हैं। मतिराम ने इसका वर्णन किया है और उसे कामदेव (अतनु) की फुलवारी का एक वृक्ष माना है --

दिसि दिसि विगसित मालती, निसि नियराति निहारि।
ऐसे अतनु-अराम में, भ्रम भ्रम भौर निवारि।।[२]

मालती का विकसित होना नायिका के विकसित होने का प्रतीक है, जब वह प्रिय के मिलन-मोद के वशीभूत हो जाती है। उस समय मानो मालती का आरोपण संयुक्तावस्था की नायिका का भावात्मक रूप प्रस्तुत करता है। इस प्रकार मतिराम ने मालती की प्रसिद्धि को मिलनेच्छा का प्रतीक बानाया है ---

सकल कला कमनीय पिय, मिलन-मोद अधिकात।
विलसति मालति मुकुल निसि, निसि मुख मृदु मुसक्यात।।[३]

**मंदार**--रीतिकालीन कवियों में मंदार के प्रति प्राप्त प्रसिद्धि का प्रयोग नहीं मिलता है। रीतिकाल में जो भी प्रयोग प्राप्त होता है वह अपनी विशिष्टता लिये हुए है। मूलतः उसका प्रयोग किसी भाव-विशेष की अभिव्यंजना के लिये हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि रीतिकवियों ने परम्परागत परिपाटी का भी उल्लंघन किया है और साथ ही, उस वस्तु का अर्थ-विस्तार भी किया है। मंदार के बारे में यह पूर्ण सत्य है। मंदार रमणियों के नर्म वाक्यों से कुसुमित होता है और इंद्र के नंदनकानन का एक पुष्प है।[४] इस प्रसिद्धि में कल्पना का ही अधिक आश्रय है। परंतु रीति कवियों ने उसमें यथार्थ दृष्टि का भी सुंदर काव्यात्मक समावेश किया है। बिहारी का निम्न दोहा मेरे कथन की पुष्टि करता है जहाँ पर उसने आक (मंदार) को मानदती नायिका का प्रतीक बनाया है जिसके पास उसका प्रिय (भंवरा) भी प्रेमकेलि के लिये नहीं आता है, यथा--

---

१. मतिराम ग्रंथावली, सतसई, पृ० २३७।६५२
२. वही, पृ० १८९।१७७
३. वही, पृ० २१७।५४२
४. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० २५०



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।**
**आक कली न रली करे, अली, अली जिय जानि॥[1]**

आक के प्रति यह सत्य धारणा है कि वह ग्रीष्म में भी फूला रहता है। बिहारी ने एक अन्य स्थान पर इस तथ्य का सहारा लेकर मंदार को एक ऐसे निराश्रित एवं त्याज्य व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो संसार में किसी का भी दयापात्र नहीं है। फिर भी, वह विपरीत दशाओं में अस्तित्व के लिये द्वन्द करता है :—

**जाकैं एकाएक हूँ, जग ब्यौसाइ न कोय।**
**सो निदाघ फूलै फरै, आक डहडहौ होय॥[2]**

**चंदन**——चंदन वृक्ष का महत्त्व काव्य में व्यापक रहा है। इसके प्रति जो भी प्रसिद्धि काव्य में प्रचलित हुई, वह कवि-कल्पना में अनेक भावभूमियों की वाहक बन सकी। रीतिकाल में हमें इस प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। कवि समयानुसार चंदन वृक्ष में फल फूल होते हैं, पर सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। अतः यह प्रसिद्धि केवलमात्र एक कल्पना है। चंदन के प्रति दूसरी प्रसिद्धि यह है कि यह केवल मलय पर्वत पर प्राप्त होता है और सर्पों से वेष्टित रहता है। जहां तक सर्प का प्रश्न है, यह सत्य है, पर इसका मलय पर्वत पर ही प्राप्त होना, एक कल्पना है। अतः चंदन के प्रति यह कहा जा सकता है कि इसकी प्रसिद्धि में सत्य और कल्पना का सुंदर समन्वय है। केशव ने चंदन की दोनों प्रसिद्धियों का वर्णन किया है —

**केशवदास प्रकाश बहु, चंदन के फल फूल।**

अथवा

**वर्णत चंदन मलय ही, हिमगिरि ही भुजपात।[3]**

इसके अतिरिक्त केशव ने चंदन को शृंगार का एक अंग भी माना है जिसे स्त्रियां प्रयुक्त करती हैं।[4] मतिराम ने मुख के सौंदर्य की सादृश्यता चंदन से इस प्रकार प्रस्तुत की है——

**उजियारी मुख इंदु की, परी कुचनि उर आनि।**
**कहा निहारति मुगधि तिय, पुनि पुनि चंदन जानि॥[5]**

**कमल**——कवि समय है कि पद्म के सात प्रकारों में 'कुमुद' केवल जलाशयों में ही प्राप्त होते हैं। पौराणिक क्षेत्र में विष्णु के लिये श्वेत पद्म तथा शक्ति के लिये रक्तपद्म का वर्णन

---

१. बिहारी सतसई, पृ० २४।९८
२. वही, पृ० १११।४६९
३. कविप्रिया द्वारा केशवदास, सं० लाला भगवानदीन, पृ० ३६ तथा ३९
४. कविप्रिया, केशव, पृष्ठ ३८
५. मतिराम ग्रंथावली, पृष्ठ १८८।१७१



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मिलता है।[१] इसी प्रकार पद्म की तरह नीलोत्पल का नदी तथा समुद्र में वर्णन नहीं होना चाहिए। नील कमल का वैष्णव साहित्य में भी संकेत प्राप्त होता है। असल में, यह कहीं भारत में होता है या नहीं, इसमें विद्वानों को संदेह है। नीलोत्पल दिन में नहीं खिलता है, परंतु पद्म दिन में ही खिलते हैं और उनके मुकुल हरे होते हैं।[२]

कमल या पद्म (सरोज-कंज) का संकेत रीतिकाव्य में यदा कदा मिल जाता है, परंतु प्रसिद्धि के तौर पर अत्यंत न्यून। मेरे देखने में कमल की प्रसिद्धि का निषेधात्मक रूप ही मिलता है। सेनापति ने सरोज का सरोवर में प्रफुल्लित होने का वर्णन निषेध रूप में इस प्रकार किया है—

**दामिनी ज्यौं भानु ऐसे जात है चमकि ज्यौ न**
**फूलन हूँ पावत सरोज सरसीन के।**[३]

इसी प्रकार, नीलोत्पल की यह प्रसिद्धि कि वह रात्रि में ही खिलता है और दिन होने के साथ कुम्हलाने लगता है—इसका भावात्मक चित्रण मतिराम ने इस प्रकार किया है—

**दुहूँ अटारनि मैं सखी, लखी अपूरब बात।**
**उतै इंदु मुरझात है, इतै कंज कुँम्हलात॥**[४]

इन प्रसिद्धियों के अतिरिक्त कमल को अन्य संदर्भों का भी प्रतीक बनाया गया है। वह प्रेम तथा प्रणय का भी प्रतीक है। कहीं वह नैन के प्रफुल्लित होने तथा मुख की शोभा का प्रतीक माना गया है। केशव ने कमल को चमत्कारिक विधि से दो संदर्भों का वाहक बनाया है। उन्होंने कमल के द्वारा वियोगिनी नायिका के नीर भरे नेत्रों का भाव कमल को उलटा करके व्यंजित किया है। दूसरी ओर, उसी कमल को कली बना कर लौटाने का अर्थ यही है कि जब रात्रि में कमल संकुचित हो जायेंगे तब मैं तुमसे मिलूंगा। सत्य में यहां भाव, संवेदना तथा प्रेम के मिलन-सुख का सुंदर प्रतीकात्मक निर्देशन प्राप्त होता है। पंक्तियां इस प्रकार हैं जब गोप सभा में बैठे कृष्ण के पास एक गोपी आती है और—

**तिनको उलटों करि आनि दियो, केहुँ नीर नयो भरिकै।**
**कहि काहे ते नेकु निहारि मनोहर फेरि दियो कलिका करिकै॥**[५]

उपर्युक्त कवि-परिपाटियों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रतीकों का कलात्मक रूप ही कवियों को मान्य है। इन प्रतीकों में भाव तथा रूप (Form) दोनों का

---

१. कल्याण, संख्या २, फरवरी १९५०, वर्ष २४ में 'हिंदू संस्कृति और प्रतीक' द्वारा प्राणकिशोर स्वामी, पृष्ठ ९४०

२. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २४७

३. कवित्त रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, पृष्ठ ६७।४७

४. मतिराम ग्रन्थावली, पृष्ठ १९३।२१७

५. कविप्रिया, केशव, पृष्ठ २००।४६



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



समन्वय प्राप्त होता है, पर 'रूप' का आग्रह अधिक है। सत्य में, रीति काव्य में रूढ़ि परम्पराओं के पालन के साथ उन परम्पराओं में नवीन उद्भावनायें भी यदा कदा मिल जाती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि परिपाटीगत प्रतीक, भावों तथा संवेदनाओं की दृष्टि से, कहीं अधिक हृदयग्राही एवं स्वाभाविक हैं। इन प्रतीकों के द्वारा हमारी प्राचीन परम्परा का एक कलात्मक उन्मेष ही भी प्राप्त होता है।

—(डॉ०) वीरेन्द्र सिंह

० ० ०

## हिन्दी-साहित्य और गोर्की

इतिहास बताता है कि जब-जब संसार के विभिन्न देश पारस्परिक सम्पर्क में आये; उन्होंने जीवन के अनेक क्षेत्रों में एक दूसरे को प्रभावित किया। सांस्कृतिक आदान-प्रदान की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है। साहित्य अहं के विस्फोट की अपेक्षा युग-सापेक्ष्य अधिक है। प्रत्येक युग की विचारणा साहित्यिक मन्तव्यों, गतिविधियों, कलात्मक अभिरुचियों तथा साहित्यिक विधाओं को प्रभावित व नियंत्रित करती है। साहित्यकार की मनीषा का अंश भी युग की विचारणा को प्राप्त होता है और इस प्रकार साहित्यकार युग-धर्म का निर्वाह करता हुआ युग-निर्माण की महत्वपूर्ण भूमिका भी सम्पन्न करता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में मुद्रण-यंत्र एवं आवागमन के शीघ्रगामी साधनों के कारण विभिन्न देशों का वैचारिक तथा जनसम्पर्क अत्यधिक सुगम और सुलभ हो गया है। हिन्दी-साहित्य, अन्य भाषाओं के साहित्यों के समान ही, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से, संसार के नवीन आन्दोलनों व वादों से कम या अधिक प्रवाहित हुआ है। ब्रिटिश आधिपत्य के कारण, हिन्दी-साहित्य पर यद्यपि आंग्ल-साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है तथापि हिन्दी लेखक रूसी साहित्य तथा साहित्यकारों के श्रेष्ठ कृतित्व से कभी अनभिज्ञ भी नहीं रहे। जहां तक मैक्सिम गोर्की का संबंध है, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनके व्यक्तित्व तथा विचारों से समस्त विश्व-साहित्य प्रभावित हुआ है। उनकी धारणाओं को अपनाकर संगठित रूप से साहित्य-सर्जन तथा साहित्य-समीक्षा का आन्दोलन संसार के प्रायः सभी जागरूक देशों में दृष्टव्य है। साहित्य में प्रगतिशील विचारधारा को सही अर्थों में प्रतिपादित करने तथा समाजवादी यथार्थवाद के पुरस्कर्त्ता के रूप में गोर्की का नाम अमर है।

मैक्सिम गोर्की का जन्म २२ मार्च सन् १८६८ ई० में हुआ। चौबीस वर्ष की आयु में अर्थात् सन् १८९२ में उनकी प्रथम कहानी 'मकर छुद्रा' प्रकाशित हुई तथा तीस वर्ष की आयु में अर्थात् सन् १८९८ में उनकी कहानियों तथा यात्रा-वर्णनों के दो संग्रह प्रकाशित हुए। इन संग्रहों के प्रकाशित होते ही गोर्की सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये तथा उनकी गणना टॉल्सटॉय और चैखोव के साथ की जाने लगी। सन् १८०६ में उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय रचना 'माँ' प्रकाशित हुई। मक्सिम गोर्की का देहान्त १८ जून सन् १९३६ में अर्थात् लगभग ६८ वर्ष की अवस्था में ही हो गया। इस प्रकार उन्होंने सन् १८९२ से जीवन के अंतिम वर्ष तक—लगभग चवालीस वर्षों तक साहित्य-



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



निर्माण का कार्य किया। इस बीच उन्होंने अनेक कविताएँ, गीत, उपन्यास, नाटक, यात्रा-वर्णन, संस्मरण, निबंध आदि लिखे। उनका कृतित्व गहन व्यापक और वैविध्यपूर्ण है।

मैक्सिम गोर्की का व्यक्तित्व महान् था। वे केवल लेखक ही नहीं थे, प्रत्युत क्रांतिकारी गतिविधियों में प्रमुख रूप से सक्रिय योग भी देते थे। उनका प्रारम्भिक जीवन अत्यधिक संघर्षपूर्ण तथा कटु घटनाओं के मध्य व्यतीत हुआ था। सन् १९१७ की अक्टूबर-क्रांति के पूर्व गोर्की को जिन विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा उन्होंने ही वास्तव में गोर्की को महान् बनाया। जीवन के विविध क्षेत्रों के निकटतम सम्पर्क तथा दूरस्थ स्थानों के भ्रमण के कारण गोर्की के साहित्य में अनेक जीवन्त तत्त्वों का समावेश अनायास ही हो सका। यही जीवन्त तत्त्व तथा अनुभूति जीवन-दृष्टि उनकी कृतियों की अमरता का मूल रहस्य है। उनकी कथनी और करनी की एकता अप्रतिम है; अनुकरणीय है। हिन्दी के अनेक साहित्यकारों ने गोर्की के जीवन से प्रेरणा ग्रहण की है तथा उनकी साहित्यिक ईमानदारी से प्रभावित होकर तज्जन्य जीवन को वरण किया है।

मैक्सिम गोर्की के साथ हिन्दी में सर्वप्रथम उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद का नाम लिया जाता है। प्रेमचंद की जीवनी इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वे गोर्की को कितना चाहते थे। गोर्की की मृत्यु पर, अस्वस्थ होते हुए भी, उन्होंने शोक-सभा के लिए भाषण लिखा था। प्रेमचंद जी का भी जीवन तपस्या का जीवन था। यह अवश्य है कि गोर्की के समान उन्हें संघर्ष नहीं करना पड़ा तथा प्रारम्भ में गोर्की के समान उनके पास वह दृष्टि भी नहीं थी। पर, इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद गोर्की से क्रमशः प्रभावित हो रहे थे और अपनी अंतिम रचनाओं में उनके मानवतावाद का विकास सही दिशा में उत्तरोत्तर विकसित हो रहा था। हिन्दी के समीक्षकों ने प्रेमचंद और गोर्की की तुलना करके तथा एक को दूसरे से श्रेष्ठ या समकक्ष रखकर भ्रांतियों का पोषण किया है। तुलनात्मक अध्ययन तो तभी उपयुक्त हो सकता था यदि नई दृष्टि-सम्पन्न प्रेमचंद और जीवित रहते तथा 'गोदान' के पश्चात् सामाजिक यथार्थ की पुष्टतर कृतियाँ प्रस्तुत करते। फिर भी, प्रेमचंद और गोर्की की बात इतनी असंगत नहीं है; जितनी कि कुछ समीक्षक सोचते हैं। सन् १९३० के लगभग भारतीय भाषाओं में गोर्की की रचनाओं के अनुवाद होने लगे थे। प्रेमचंद तथा परवर्ती प्रगतिशील हिन्दी-साहित्य पर गोर्की के सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

गोर्की के लिए साहित्य का उद्देश्य था, "मनुष्य को अपने आपको समझने में सहायता देना। उसके विश्वास को बढ़ाना तथा उसमें सत्य की अनुभूति उत्पन्न करना, मानव की क्षुद्र प्रवृत्तियों से संघर्ष करना, उसकी अच्छाइयों को खोजना और उसके हृदय में ग्लानि, क्रोध और साहस को जगाना। यह सब इसलिए कि मनुष्य उदात्त और दृढ़ बन सके तथा अपने मन को सौन्दर्य की पवित्र भावना से प्रेरित कर सके।" इस प्रकार गोर्की का साहित्य मानव की गरिमा से ओतप्रोत है। उन्होंने मनुष्य की महानता को समझा था; तभी वे मानव-जीवन में आस्था की भावना दृढ़ करने वाले साहित्य की रचना कर सके। अपने 'निचले तले पर' शीर्षक नाटक के एक पात्र के द्वारा वे मनुष्य के संबंध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "मनुष्य! कितना भव्य! इस शब्द की ध्वनि कितनी गर्वीली है। मनुष्य का आदर करना चाहिए। उस पर तरस नहीं दिखाना



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चाहिए। दया दिखा कर उसका अपमान न करना चाहिए। उसका आदर करना चाहिए।" हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों ने मानवीय गरिमा के अनेक सुन्दर चित्र अपनी कला-कृतियों में अंकित किये हैं। उनमें और गोर्की की धारणा में पर्याप्त साम्य है; क्योंकि जिस जनवादी परम्परा का गोर्की अनुसरण कर रहे थे वही हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारों का भी लक्ष्य था। गोर्की के समान उन्होंने भी कला को जनहित से सम्बद्ध करके देखा। गोर्की ने अपनी कला के संबंध में एक स्थल पर लिखा है, "मैं यदि समीक्षक होता तो लिखता कि जिस शक्ति ने गोर्की को गोर्की बनाया है, वह मानव-श्रम व्याप्त है। मैं कहता कि गोर्की इस कारण गोर्की बना कि उसने मानव-श्रम की महत्ता को समझा, उस मानव-श्रम की महत्ता को जो संसार में हर मूल्यवान सुन्दर और महान् वस्तु का निर्माण करती है।" अनेक आलोचकों ने गोर्की के उपर्युक्त वक्तव्य को विश्व-साहित्य में नया स्वर घोषित किया है। हिन्दी-साहित्य में मानव-श्रम की प्रतिष्ठा अपने सर्वाधिक सशक्त रूप में प्रगतिशील आन्दोलन के साथ ही देखने में आई। किसानों-श्रमिकों को साहित्य में समाहृत करने का श्रेय प्रगतिशील लेखकों को ही दिया जाता है।

गोर्की के साहित्य की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें शोषित और शोषक दोनों को ही विस्तार से चित्रण किया गया है। गोर्की सामाजिक विकृतियों, कुरीतियों तथा असंगतियों के मात्र चित्रण से ही संतुष्ट नहीं हो जाते। वे उनकी निन्दा भी करते हैं तथा पाठकों के हृदय में उनके प्रति आक्रोशभाव को भी जागृत करते हैं। उनके पूर्व यथार्थवादी रचनाओं में अधिकतर शोषित पात्रों का ही विवरण रहता था। गोर्की ने शोषण को और अधिक गहरा रंग देने के लिए शोषक-वर्ग को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया। हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों पर गोर्की की इस कला और विचार-पद्धति का प्रभाव भी कुछ कम नहीं पड़ा है। पर, जहाँ तक समग्र हिन्दी-साहित्य पर गोर्की के प्रभाव का प्रश्न है यह अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी-लेखक गोर्की की समस्त विशेषताओं को आत्मसात कर चुके हैं। वास्तव में गोर्की का साहित्य भारत में दिन-प्रतिदिन लोकप्रिय होता जा रहा है। यह लोकप्रियता इस बात का संकेत है कि भारतीय साहित्य भविष्य में गोर्की से और प्रभावित होगा तथा उससे नई प्रेरणा ग्रहण करेगा। आगे यह प्रभाव गोर्की की प्रत्यक्ष कृतियों के माध्यम से आयेगा जब कि पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य गोर्की के सिद्धान्तों व विचारों से अधिक प्रभावित व संचालित है।

**--(डॉ०) महेन्द्र भटनागर**

## प्राचीन राजस्थानी कवि 'भंडारी उदयचंद'

राजस्थान में भाषा और साहित्य की विक्रम संवत् १७०० से १९०० तक की अवधि में सर्वांगीण उन्नति हुई। इसीलिए विद्वानों ने इस काल को "स्वर्णयुग" की संज्ञा दी है।[१] इस काल

---

१. मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य; पृष्ठ १९४



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में काव्य के सभी अंगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण किया गया। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम ने "भाषा भूषण" की रचना के साथ जिस परंपरा का समारंभ किया था वह सम्वत् १९०० तक विद्यमान रही। कालान्तर में इन्हीं के वंशज महाराजा मानसिंह के काल में अनेकों कवियों ने रीति एवं नीति संबंधी कई अप्रतिम ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथकारों में भंडारी बंधु श्री उत्तमचन्द एवं श्री उदयचंद का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

भंडारी उत्तमचंद[1] जोधपुर महाराजा के सचिव थे। इन्होंने "अलंकार आशय" नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह उस काल में अलंकारों पर अत्यधिक प्रचलित ग्रंथ था। इनके कनिष्ठ भ्राता थे भंडारी उदयचन्द। ये बड़े साहित्यमर्मज्ञ एवं तत्वज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति थे। महाराजा मानसिंह के ये सचिव थे। इनका जन्म संवत् १८४० में जोधपुर में हुआ था। इन्होंने अपना वंश परिचय इस प्रकार दिया है:—

**चैन कुसलवत ताहिते उत्तम उदय जुग भ्रात।**
**भंडारी नृप के सचिव ओसवाल बड़ ग्यात।।**
**दया दीप्त लाडला जिन धरम मं तपे गच्छ बुद्ध सुद्ध।**
**सबसे समता सुजनता काहूं सो न विरुद्ध।।**
**उत्तम उग्र जुग जाहीं ते उग्र वंश ही होत।**
**उदय पुत्र उद्योतकर उदित वंश उद्योत।।**

भंडारी उदयचन्दजी के प्रायः सभी ग्रंथ उनकी स्वयं की लेखनी से लिखे हमारे संग्रह में विद्यमान हैं।[2] इन्होंने डिंगल एवं पिंगल दोनों में रचना की थी। इनके ग्रंथों की सूची इस प्रकार है:—

(अ) पंचरत्न : (१ वंदना, २ करुणा बत्तीसी, ३ जुक्त प्रकाश, ४ विनती, ५ प्रश्नोत्तर वार्ता।)

(आ) अष्टरत्न : (१ ज्ञान प्रदीपिका, २ भक्त प्रबोध, ३ आनपूर्वी, ४ ज्ञान सत्तावनी, ५ ब्रह्मविनोद, ६ ब्रह्मविलास, ७ विज्ञविलास, ८ विज्ञविनोद)

(इ) विचार-संग्रह : (१ विचार चंद्रोदय, २ आतम रत्न माला, ३ विवेक पच्चीसी, ४ ज्ञान प्रभाकर छत्तीसी, ५ आतम पचासका, ६ षटमतसार, ७ विचार सार)

(ई) आत्म प्रबोध।

(उ) आत्मसार।

(ऊ) श्री शनिश्चरजी की कथा, लघु एवं वृद्ध चाणक्य नीति।

---

**१. देखिए, अमरज्योति, प्रस्तुत लेखक का 'महाराजा मानसिंह के समकालीन कवि' शीर्षक लेख।**

**२. श्री दौलतराम मेहता प्राच्य ग्रंथागार, जोधपुर।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(ए) श्री सौभाग्य लक्ष्मी स्तोत्र।
(ऐ) शिखनख।
(ओ) स्वरोदय।
(औ) ज्योतिष।
(अं) कोकपद।
(अः) साहित्य सार: (१ छंद प्रबंध, २ शब्दार्थ चंद्रिका, ३ दूषण दर्पण, ४ रसनिवास, ५ छंद विभूषण, ६ प्रस्तार प्रबंध)
(क) कोष: आतम रतनमाला[1] तथा हेमचंद्राचार्य कृत अभिधान चिंतामणी का राजस्थानी अनुवाद।
(ख) जीवनी—मान मंडन विलास।
(ग) स्फुटपद।

इन रचनाओं के अतिरिक्त इनके लिखे कुछ अपूर्ण ग्रंथ भी मिलते हैं। इनमें केशवदास कृत "कविप्रिया" की टीका, भर्तृहरि कृत 'नीतिशतक' का डिंगल काव्यानुवाद तथा 'मोक्षमार्ग वचनिका" (जैन) उल्लेखनीय है।

इन्होंने कतिपय फारसी कथाओं का भी राजस्थानी गद्य में अनुवाद किया था। अनुवाद के कुछ पृष्ठ हमारे देखने में आये हैं।

भंडारी जी काफी समय तक देशाटन करते रहे। इन्होंने "छंद प्रबंध" ग्रंथ की रचना नागपुर में की थी। ये कुछ समय तक डीडवाने तथा बालोतरा में भी रहे।

नागौर के कवि सेवक मूलचन्द (१८८५) ने इनके संबंध में दो छप्पय कहे थे। हमें ये छप्पय महाराजा मानसिंह के समकालीन कवियों की रचनाओं को ढूंढ़ते समय मिले। छप्पय इस प्रकार है :—

सरस गुणां समंद वसुधा सको वखाणे,
रचे जुगत कर ग्रंथ उदयचंद बेद प्रमाणे,
दया धर्म उर धार सील साझे सत धारी,
चैन सुत कुल माहीं भान ज्यूं तपो भंडारी।
कुसलेस हरा दांनतलियां मंत्री पूत जोधाण रे,
देख्यो न इसो कानां सुण्यों उदय जैपुर बीकाण रे।
पूरब पुण्य प्रताप धरा में हुओ प्रमाणे,
पाई सघर सरन्न जिको जग सगलो जाणे,
मेटे चिंता मुकर हाव मन लहे साची,
आसा पूरे अवस भंडारी करे अजाची।

---

१. देखिए, 'ज्वाला', प्रस्तुत लेखक का 'आतम रतनमाला'—एक परिचय शीर्षक लेख।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**चहूं देश देश भटकत फिर्‌यौ देख्यो नह को अवर नर,**
**मन धार व्रत इसड़ी सुकव जांचू एक ही कुसल घर।**

इनकी अंतिम रचना "मान मंडन विलास" है। इसकी रचना महाराजा मानसिंह के देहावसान (सम्वत् १९००) के पश्चात् की गई थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका देहान्त सम्वत् १९०० के बाद हुआ था।

इनकी रचनाओं को देखने से इनकी सहृदयता, रचनाकौशल तथा विषय एवं भाषा पर पूरा अधिकार अच्छी तरह से प्रमाणित होता है।

—मदनराज दौलतराम मेहता

० ० ०

## भोजपुरी लोकगीतों में सांस्कृतिक तत्व

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा की 'संस्कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है जिसका शाब्दिक अर्थ 'अच्छी स्थिति', 'सुधरी हुई स्थिति' आदि का बोधक है। लेकिन यह शब्द और भी अधिक व्यापक और विशुद्धि का द्योतक है। 'संस्कृति' में देश काल के अनुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ करते हैं किन्तु उसकी सत्ता सदैव बनी रहती है। भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में से एक है। आज मिस्र, रोम और चीन की प्राचीन संस्कृतियाँ लुप्त सी हो गई हैं किन्तु भारतीय संस्कृति अपनी सत्ता बनाये हुए है क्योंकि भारतीय संस्कृति की आत्मा लोक-संस्कृति है। यही इसकी विशेषता है।

"भारतीय लोक-संस्कृति की आत्मा भारतीय साधारण जनता है, जो नगरों से दूर गावों, वन, पर्वतों में निवास करती है। 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' यही भारतीय लोक-संस्कृति का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त का स्वभावतः पालन करती हुई भारतीय साधारण जनता ब्रह्म-तत्त्व और माया-तत्त्व को अनायास समझती है। भारतीय ग्रामवासिनी संस्कृति के मूलाधार, जिन्हें आज की परिभाषा में अपढ़, गँवार कहा जाता है, भारतीय संस्कृति के जीवित, जाग्रत प्रहरी हैं।"[१] इनके गीतों में मानव की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और जीवन सम्बन्धी सभी चेतनाओं के रूप दृष्टिगोचर होते हैं, जो संस्कृति के विशेष अंग हैं। इस भाँति लोकगीतों में सांस्कृतिक तत्वों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दर्शन होता रहता है।

भारतीय समाज व्यवस्था की महत्वपूर्ण इकाई संयुक्त परिवार है। प्रत्येक परिवार में बाबा मालिक होते हैं। उन्हीं पर परिवार का सारा उत्तरदायित्व होता है। उन्हीं से लड़की कहती है—"बर खोजु, बर खोजु, बर खोजु रे बाबा, अब भइलों बिअहन जोग ए।" माता घर के अन्दर का प्रबन्ध करती है। हमारे वैदिक ग्रन्थों में सोलह संस्कारों का वर्णन मिलता है जिसका मुख्य उद्देश्य था—विभिन्न संस्कारों द्वारा मानव की प्रतिभा और योग्यता का पूर्ण विकास। आज समाज में

---

१. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृष्ठ १८



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



केवल पांच संस्कार—जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह और अंतेष्टि संस्कार ही प्रचलित हैं जिनका लोकगीतों में उल्लेख मिलता है। इन संस्कारों के रूप में भी परिवर्तन हो गया है, जैसे जात-कर्म—इसे बालक के जन्म लेते ही किया जाता था। बालक का पिता सोने की सलाई द्वारा घी और शहद से बालक की जिह्वा पर 'ओंम' लिखता था किन्तु आज इस अवसर पर 'सोहर' गाने की प्रथा है। यह 'सोहर' भी केवल पुत्र पैदा होने पर ही गाया जाता है, लड़की पैदा होने पर 'सोहर' नहीं गाया जाता। पुत्र पैदा होने पर सारा परिवार खुशी मनाता है। परिवार में एक 'रंगीनी' छा जाती है। माता-पिता अपने भाग्य को सराहते हैं। सभी माताएँ अपने पुत्र को राम और कृष्ण ही समझती हैं। लोकगीतों में सर्वत्र ही पुत्र के लिए राम और कृष्ण का प्रयोग मिलता है। एक भोजपुरी 'सोहर' में दिखलाया गया है कि एक माँ अपने बच्चे को किस तरह नहला-धुलाकर और उसका श्रृंगार कर रही है। 'सोहर' इस प्रकार है—

**सुरही भइया के दूध त कृस्न नहवाइले,**<br>
**पाट पिताम्बर अंग पोछन, सिंहासन बइठाइले हो।**<br>
**बबुआ के ऊँच लिलरवा देखक निक लागे,**<br>
**करीं वसुदेव जी चनन अँगुरिया मति डोलैं हो।**<br>
**बबुआ के बड़ी बड़ी अँखिया देखत निक लागे,**<br>
**करी ना जसोदा मइया काजर अंगुरिया मति डोलैं हो।**

प्रत्येक माँ-बाप चाहे वे गरीब हों या धनी, यशोदा-नंद की भाँति ही अपने बच्चों को प्यार करते हैं, उनका श्रृंगार करते हैं। जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते हैं तो उनका चूड़ाकर्म संस्कार होता है जिसे मुंडन भी कहते हैं। यह संस्कार दोनों के लिए होता है। इसी समय बच्चों का प्रथम बार किसी नदी या तालाब के किनारे बाल काटे जाते हैं। इस समय भी 'सोहर' गाने की प्रथा है जिनमें एक उत्साह भरा होता है। इस समय गंगा से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं। एक गीत में कोई स्त्री कह रही है कि हे गंगा! अब मैं नहीं आऊँगी। मैं थक गई। मरे पैरों में दर्द होने लग गया, अब मैं नहीं आऊँगी। फिर वही स्त्री कह रही है—हे गंगा! मैं फिर आऊँगी, दुबारा आऊँगी। अपनी गोदी में बालक लेकर फिर आऊँगी—

**अब ना अइबो ए गंगा, अब ना अइबो हो,**<br>
**मोरे गोड़वा बथेला, गंगा अब ना अइबो हो।**<br>
**फेनु अइबो ए गंगा, फेनु अइबो हो,**<br>
**गोदिया बलकवा लेके, फेनु अइबो हो।**

ऊपर के गीत से ज्ञात होता है कि स्त्रियों में संतान की कितनी प्रबल इच्छा होती है। ये यही कहती हैं कि मैं बालक लेकर पुनः आपके किनारे उसका मुंडन कराने आऊँगी। वास्तव में लोक में इस प्रकार का विश्वास है कि जो व्यक्ति पापी होते हैं या पूर्व जन्म में बुरे कर्म किये रहते



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हैं, उनके संतान नहीं होती। बेचारे 'निरवंशी' कहलाने लगते हैं। जनता उनको देखना अपशकुन समझती है। साथ ही यह भी होता है कि संतान नहीं है तो मरने पर पानी कौन देगा? इस भाँति निरवंशी के लोक-परलोक दोनों के बिगड़ने की शंका रहती है। इसलिए प्रत्येक ग्रामीण की यही अभिलाषा होती है कि मुझको संतान अवश्य हो।

ब्राह्मण, क्षत्रिय के लिए जनेऊ एक विशेष संस्कार है। जनेऊ को यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार भी कहते हैं। उपनयन संस्कार होने पर ही मनुष्य द्विज होता है। आज उपनयन संस्कार का रूप बदल गया है। आज इसमें द्विज बनने की भावना कम और परम्परा पालन या वैभव प्रदर्शन की भावना प्रमुख रहती है। जनेऊ के गीतों में 'बरुआ', 'मूँजी-मेखड़ा', 'भिक्षा माँगने' एवं विद्याध्ययन के लिए काशी जाने का उल्लेख मिलता है। लड़का अभी दो पग ही गया रहता है कि माँ बुला लेती है कि तुम्हारे दादा पंडित हैं, लौट आओ, वे घर पर ही पढ़ायेंगे। इस तरह हिन्दू समाज में यज्ञोपवीत की पुरानी प्रथा प्रचलित है। उपनयन, वेदारंभ और समावर्तन संस्कार सभी कुछ एक घंटे में हीं हो जाता है। एक लड़का अपने पिता से कह रहा है कि मेरा जनेऊ कीजिए—

**कुंइया जगत पर मुँजहि के रा झुरवा,**
**चिरेले कवन बाबा मुंजि रे।**
**तहँवा कवन बरुआ अत नधिअइले,**
**दीहीं बाबा पियर जनेव, दीहीं चाचा नवगुन।**
**झरलनि झुरलनि जांघे बइठवले,**
**हम देबों नवगुन, हम देबों पियर जनेव।**

भोजपुरी क्षेत्र में विवाह विशेष धूम-धाम से मनाया जाता है। आज प्रचलित संस्कारों में विवाह सब से महत्वपूर्ण है। लड़के का विवाह हो या लड़की का, प्रत्येक पिता इस संस्कार को धूम-धाम से सम्पन्न करता है। यदि घर में रुपया नहीं है तो कर्ज लिया जाता है। भोजपुरी में एक कहावत है—'सादी कि बादी' अर्थात् खर्च या तो विवाह में होता है या मुकदमे में। वर पक्ष और कन्या पक्ष के गीत अलग अलग होते हैं। वर पक्ष के गीतों में एक उत्साह होता है, उमंग होती है, खुशी होती है और कन्या पक्ष के गीतों में नम्रता होती है, एक करुणा होती है। जब लड़के की बारात जाती है तो स्त्रियां गाती हैं कि हे अमुक बाबा! हाथी को सजाइये, घोड़े को सजाइये। श्रीराम की बारात जा रही है—

**हाथी साजो घोड़ा साजो, साजो ए कवन बाबा,**
**राम के जात बाराति हो।**

कन्या पक्ष की स्त्रियाँ गाती हैं—

**आपनि खोरिया बहार एन कवन बाबा,**
**राम के आवत बाराति हो।**
**जे मोरा राम के नजरी लगइहें,**
**मरबों में लोढ़वन मारि हो।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भारतीय संस्कृति की लोक-मंगल की भावना विवाह के 'चुमावन' नामक गीत में दृष्टिगोचर होती है। विवाह में जब कोई विशेष विधि होती है तो उसके बाद वर एवं कन्या को घर की अन्य स्त्रियाँ उनके हाथ में चावल, दूब एवं चाँदी या सोना रखकर उन्हें चूमती एवं आशीर्वाद देती हैं। वे गाती हैं—

**साठी के चउरा लहालरी दूबि रे।**
**चूमही चले ली अमुक देई, बड़ा रे पंडितवा के धीय।**
**मन भरी चुमीह अमुक देई, हिय भरी दीह असीस।**
**मथवा चुमीय चुमीय देली असीस रे, जियसु दुलहा दुलहिनि लाख बरीस।**

इस 'चुमावन' में जब कोई लड़की चूमने जाती है तो उसके लिए 'बड़ा रे पंडितवा के धीय' और जब कोई बहू चूमने जाती है तो 'हर जोतवा के री धीय' का प्रयोग होता है। यहां पर बहू के प्रति एक हास्य है। इससे ज्ञात होता है कि हमारे लोक-जीवन में हास्य का कितना महत्व है।

हमारे ग्रामों की रचना वर्ण व्यवस्था के आधार पर हुई है। जहां ब्राह्मण पूजा-पाठ करते-कराते हैं, क्षत्रिय जमींदार हैं, जो एक शासक के रूप में हमारे सामने आते हैं, वैश्य खेती करते हैं, ब्राह्मणों और क्षत्रियों की आवश्यकताएँ पूर्ण करते हैं और शूद्र इनकी सेवा करते हैं। इसका विशद रूप एक सोहर में मिलता है। इसमें दिखलाया गया है कि जब कृष्ण का जन्म हुआ तो ब्राह्मण पत्रा लेकर, तेलिन तेल लेकर, तमोलिन पान लेकर, मालिन हार लेकर और बढ़ई पालना लेकर नंद जी के यहाँ आये हैं—

**धनि यह पंडित, धनि यह रोहिणी, धनि रे भदउवा के री रात।**
**कन्हैया जी के जनम भयो।**
**धनि रे जसोदा रउरे भागि खेलावे कृस्न गोद में।**
**हुलसि हुलसि जीय होत त, दूध पियावहीं।**
**तेलिनि ले आवे तेल, तमोलिनि पानवा,**
**मालिनि ले आवे हार, कन्हैया पहिरावहीं।**

गाँवों में ब्राह्मण, तेली, तमोली, माली और बढ़ई आदि अपना-अपना काम करते है अन्य, लोग इन्हें अन्न-पैसा देते हैं किन्तु धीरे-धीरे यह सामाजिक व्यवस्था विश्रृंखल हो रही है। ये लोग केवल अपना काम नहीं कर रहे हैं वरन् कुछ खेती भी कर रहे हैं और कुछ नौकरी पेशा अपना रहे हैं क्योंकि उनके अपने काम से पेट नहीं भर रहा है। यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय समाज-व्यवस्था की प्रथम इकाई संयुक्त परिवार और वर्ण-व्यवस्था में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। इन दोनों प्रणालियों के परिवर्तन से हमारे देश के भविष्य पर भी प्रभाव पड़ेगा।

लोक परम्परा और लोकगीतों से ज्ञात होता है कि समाज में स्त्रियों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। कोई भी पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा या यज्ञ बिना पत्नी के सफल नहीं होता। जब रामचन्द्र



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जी राजसूय यज्ञ कर रहे थे तो उनको सोने की सीता की प्रतिमा बनानी पड़ी थी, क्योंकि सीता जी वन में थीं। लोक की यही पुकार थी––

**"रामा! बिना रे सीता जग्गि सूनि"।**

वास्तव में भारतीय नारी की महानता तो उसके सतीत्व में है। वह मन, वचन और कर्म से पातिव्रत धर्म का पालन करती है। सावित्री ने अपने सतीत्व के बल से ही अपने मरे हुए पति सत्यवान को जीवित करा लिया। भोजपुरी में अधिकतर ऐसे लोकगीत मिलते हैं, जिनमें भारतीय नारियों के सतीत्व का उल्लेख है। एक गीत में यह उल्लेख है कि जब चौदह वर्ष बाद राजा रामचन्द्र वन से लौट कर आते हैं, तब वे सोचते हैं कि दूसरे के घर में रही हुई सीता की परीक्षा होनी चाहिए। गीत इस प्रकार है––

**कवन आम पियर कवन आम हरियर, कवन आम सेनुरवा के जोति ए।**
**ई तीनु आमावा के, के सीरिजल, कवन पापी लगन सोचाई ए।।**
**चौदहों बरिस पर अइले राजा रामचन्द्र, सीता बिचरवा हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई अगिनी हाथे लिहली रे, अगिनी भइली जुड़ पानी ए।।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, अदित बिचरवा हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई अदित हाथे लिहली रे, अदित छपित होई जाइ ए।।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, सरप बिचरना हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई सरप हाथ लिहली रे, सरप बइठे फेटा मारि ए।।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, गंगा बिचरवा हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई गंगहि हाथ लिहली रे, गंगहि परि गइले रेत ए।।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, तुलसी बिचरवा हम लेबि ए।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, तुलसी बिचरवा हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई तुलसी हाथ लिहली, तुलसी गइली सुखाई ए।।**

जब सीता जी ने अपनी शुद्धता दिखलाने के लिए अग्नि हाथ में ली, तब वह बिल्कुल ठंडी हो गई, उन्होंने जब सूर्य को अपने हाथ में उठा लिया तो वह लेते ही अस्त हो गया, सर्प फन फैला कर हथेली पर बैठ जाता है, गंगा को हथेली में लेते ही, वह सूख जाती है और तुलसीदल भी सूख जाता है। प्रत्येक परीक्षा में सीता जी की पवित्रता, इनका सतीत्व प्रगट हुआ किन्तु प्रत्येक बार रामचन्द्र यही कहते हैं कि मैं इस परीक्षा को सत्य नहीं मानता। अंत में राम ने सीता जी को बनवास दे दिया, तब सीता जी ने क्रुद्ध हो कर कहा कि मैं ऐसे पुरुष का मुंह नहीं देखना चाहती जिसने मुझे बनवास दिया है। यदि धरती फट जाती तो मैं उसी में विलीन हो जाती। अब मैं इस दुष्ट संसार को देखना नहीं चाहती––

**अइसन पुरुखवा के मुँह नाहिं देखबि, जिनि राम देले बनवास ए।**
**फटि जइती धरती अलोप होई जइतीं रे, अब ना देखबि सनसार ए।।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ऊपर के लोकगीत में भारतीय नारी का सतीत्व दृष्टिगोचर होता है। इसके सतीत्व के बल से आग पानी हो जाता है, सूर्य अस्त हो जाता है, सर्प फन फैला कर बैठ जाता है और गंगा सूखती जाती है। इसी कारण वह संसार में पूज्य है। साथ ही दुष्ट पुरुषों द्वारा नारी पर किया गया अत्याचार भी प्रगट होता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में अस्पृश्यता का कोई स्थान नहीं था। 'पुरुष सूक्त' में शूद्रों को परमात्मा के पैरों से उत्पन्न बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि समाज को शूद्रों की नितान्त आवश्यकता है। लोकगीतों एवं लोक-परम्परा से ज्ञात होता है कि इन शूद्रों का हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। जब बच्चा पैदा होता है, तो सब से पहले चमारिन बुलाई जाती है। वह जच्चा और बच्चे की कम से कम बारह दिनों तक सेवा करती है। विवाह के समय चमार के बाजे की पूजा होती है और लड़के के विवाह में 'सिंगा' (तुरही) बजना ही चाहिए जिसे डोम बजाते हैं और मरने पर भी डोम की दी हुई आग ही व्यक्ति के मुँह में दी जाती है। इस भाँति जन्म से मृत्यु तक इनकी आवश्यकता पड़ती है। छुआछूत का भेद-भाव हमारे समाज के लिए एक कलंक है। गांधी जी ने इस राज-रोग को मिटाने के लिए मरते दम तक प्रयत्न किया। उसका प्रभाव गाँवों पर भी पड़ा। जनता गाने लगी—

**मान गाँधी के बचनवा, दुखवा हो जइहैं सपनवा,**
**तन से उतार कपड़ा विदेसी, खदर के कइल धरनवा।**
**छुआछूत के भेद मेटा के, एक साथ कइल भोजनवा।**

कहा जाता है कि भारत में दूध-दही की नदियाँ बहती थीं। इसकी पुष्टि लोकगीतों से ही होती है क्योंकि लोकगीतों में सुखी और समृद्ध भारत का उल्लेख हुआ है। अधिकतर गीतों में 'सोने की थारी में जेवना परोस लो', 'झंझर गडुअवा गंगाजल पानी', 'पाँच-पाँच पनवा के बिरवा लगवलो', और 'फूल हजारी के सेज डसवलो', का उल्लेख मिलता है। लड़की के विवाह में भले ही एक भी गहना न आया हो किन्तु स्त्रियां गुरहथी के समय सैकड़ों गहनों का नाम गिनाती हैं और सभी चाँदी, सोने और मोती के ही होते हैं। भोजन के समय छप्पनों प्रकार के व्यंजनों के नाम गिनाये जाते हैं। स्त्रियाँ गाती हैं—

**दालि भात मयदा की रोटी,**
**तेहि पर घीव चभोरी जी।**
**नौ नौ भाँति बनी तरकारी,**
**कृस्न बड़ा रस भोगी जी।**

ये लोकगीत एक धनी परिवार से लेकर, एक महादरिद्र के घर भी गाया जाता है जिनके धर में सोने की थाली को कौन कहे, लोहे की भी थाली नहीं होती वहाँ यह गीत उसी तन्मयता से गाया जाता है। लोगों को इसमें आनन्द मिलता है क्योंकि भले ही वे रुपये-पैसे के ग़रीब हैं किन्तु दिल के धनी।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ग्राम-समाज एक मौखिक विश्वविद्यालय है। हाँ, वहाँ पर अक्षर-ज्ञान की कमी है किन्तु एक चमार से लेकर ब्राह्मण तक एक दूसरे को ज्ञान-दान करते रहते हैं। जब चमार आत्मविभोर होकर 'निर्गुन' गाता है तो इस जीवन की नश्वरता ज्ञात होती है—

**इ देहिया कागद की पुड़िया,**
**बूँद पड़े गलि जाना जी।**

यह शरीर कागज के समान है, जो पानी पड़ते ही गल जाता है। यदि कोई बुरा काम करता है तो वे (ग्रामीण) तुरंत कहते हैं जो गड्ढा खोदेगा, वही उसमें गिरेगा—'जे गाड़ा गड़ाई करी, से भाड़ा भरसाई परी।' इस भाँति भजन, कहावत और मुहावरे आदि उनके जीवन के अंग हैं।

भोजपुरी लोकजीवन कलामय है। इसमें चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला आदि कलाओं का दर्शन होता है। भोजपुरी में धरती पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को 'चउका' (चौक) और दीवालों पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को 'भित्ति-चित्र' कहते हैं। इसको भी राहुल जी ने 'थापा' या 'ठापा' कहा है किन्तु यह नाम उचित नहीं है क्योंकि केवल हथेली की छाप को 'थापा' कहते हैं और भित्ति-चित्र में थापा के अतिरिक्त और कई प्रकार के चित्र बनाये जाते हैं। त्यौहार, पूजा-पाठ एवं अन्य धार्मिक कृत्यों के समय 'चौक' पूरा जाता है। महाराष्ट्र में इसे 'रंगोली' कहते हैं। वहाँ पर इसका बहुत ही चलन है। यह चौकोर होता है और उसके अन्दर अन्य डिजाइनें बनाई जाती हैं। इसके लिए अधिकतर आटा (सफेद रंग के लिए) गुलाल (लाल रंग के लिए) का प्रयोग होता है। जब कभी कोई व्यक्ति धार्मिक-कृति के लिए चौक पर बैठता है तो गाया जाता है कि गाय के गोबर से आँगन लीपा गया और गजमुक्ता से चौक पूरा गया—

**गाई का गोबरे महादेव आँगन लिपाई,**
**आहो गजमोतिया महादेव चउक पुराई॥**

भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के भित्ति-चित्र अंकित किये जाते हैं। विवाह में लड़के और लड़की वाले के यहाँ एक घर में चित्रकारी की जाती है, जिसे 'कोहबर' कहते हैं। लड़की अपने यहाँ स्वयं कोहबर का चित्र बनाती है। उसमें आदमी, हाथी, घोड़े, फूल पत्ते आदि के चित्र होते हैं। इसके लिए चौरठ, गेरू और अन्य रंगों का प्रयोग होता है। सीता जी अभी कोहबर के द्वार पर चित्र बना रही थीं, तब तक श्रीराम आ गये—

**कोहबर दुअरिया सीता लिखहीं ना पवली,**
**आई गइले श्रीराम हो।**
**गढ़ भइल बोले ले गढ़ कोतवलवा,**
**घोड़ा पीठी बोले शिशुपाल हो।**

शीतला देवी की पूजा में स्त्रियाँ दीवाल पर 'थापा' लगाती हैं। नाग पंचमी के समय दीवाल पर गोबर से सर्प का चित्र बनाती हैं। प्रत्येक गाँव में किसी न किसी देवी या देवता के यहाँ झंडा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लहराता है। उस पर 'त्रिशूल' या 'हनुमान' का चित्र बना होता है। 'तीज' 'बहुला' के समय स्त्रियाँ अपनी कोमल हथेली को मेंहदी से सजाती हैं, यह भी तो एक चित्रकारी है। प्रत्येक विवाहित स्त्री के लिए आवश्यक है कि वह अपनी बाँह पर गोदना गुदवाये। यह भी एक चित्रकारी है। एक स्त्री अपने पति से कहती है कि आप विदेश जा रहे हैं तो हमारी बाँह पर अपना चित्र बनवा दीजिए, जिसे देख कर मैं धीरज धरूँगी––

**जो तुहुँ ए पिया जइव विदेसवा,**
**मोरी बहियाँ पर अपनी सूरति लिखाय जाव।**

प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारंभ में गाय के गोबर से गणेश और पार्वती की मूर्ति बनायी जाती है और उनकी पूजा होती है। मिट्टी के शिवलिंग बनाये जाते हैं। स्त्रियाँ भादों कृष्ण १४ को 'बहुला' व्रत करती हैं, उसमें मिट्टी की गाय और बछड़े की मूर्ति बनायी जाती है। जब गोधन की पूजा होती है तो स्त्रियाँ इसी गोबर से अपने भाई के लिए 'पिड़िया' लगाती हैं। जैसे––

**लाये के लवनी पिड़िदवा ए राम, छोड़ावे कीं बेरिया,**
**ससुर पापी भेजे ले नियरवा ए राम, छोड़ावे की बेरिया।**

इसी भांति विभिन्न अवसरों पर अहीर, धोबी, गोंड़ और चमार आदि नाचते गाते हैं, जिनसे सबका मनोरंजन होता है। अहीर के नाच को 'फरी' कहते हैं। धीरे-धीरे इन नृत्यों का लोप हो रहा है, क्योंकि ये जातियाँ इससे अपना अपमान समझती हैं। तो भी रामलीला, नौटंकी, रासलीला, कठपुतली का नाच और विदेसिया के नाच भोजपुर में प्रायः होते ही रहते हैं, जिनसे इनके सांस्कृतिक जीवन में एक नयी जिन्दगी आ जाती है।

भोजपुरी लोकगीतों में राजनीतिक जीवन का भी चित्रण हुआ है। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के अमर सेनानी वीर कुंवर भोजपुर के ही थे। अधिकतर गीतों में उनकी बहादुरी और पराक्रम दिखाया गया है। साथ ही सन् १९४२ के सत्याग्रह का विशद वर्णन इन लोकगीतों में हुआ है। जनता अंग्रेजों को ललकारती है।

**गाँधी के लड़इया नाहीं जितबे फिरंगिया,**
**चाहे करु कतनो उपाइ।**
**भलु भलु मजवा उड़वल एहि देसवा में**
**अब जइहें कोठिया बिकाइ।**

संम्पूर्ण भारतीय जीवन धर्ममय है। इसी भाँति भोजपुरी जीवन भी धर्म प्रधान है। पुत्र-जन्म, विवाह आदि अवसरों पर राम, कृष्ण, शिव और शीतला आदि से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं। एक गीत में कोई स्त्री अपने पुत्र की आरोग्य कामना के लिए शीतला माता से प्रार्थना कर रही है––



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**पटुका पसारि भीखि माँगेली बालाकवा के माई,**
**हमरा के बालाकवा भीखी दीं।**
**मोरी दुलारी हो मइया, हमरा के बालाकवा भीखी दीं।**

स्त्री, पुरुष अनेक व्रत करते हैं, गंगा-स्नान करते हैं और भजन करते हुए कहते हैं––"राम के भजन कर, सुतला में का बा'। इनके अतिरिक्त पशु-पक्षी, वृक्ष एवं एक दिन 'घूर बाबा' की भी पूजा होती है। कभी-कभी इनकी भक्ति अंधविश्वास की सीमा तक पहुँच जाती है। ये भोले ग्रामीण सम्पूर्ण जगत में भगवान को देखते हैं और उनकी पूजा करते हैं। हाँ, इस बहुदेवोपासना में एकेश्वरवाद की ही भावना रहती है। जब जिस देवता या देवी की पूजा होती है, उस समय वही प्रधान देवता है। सभी मनोवांछित फलों को देने वाला है।

हमारी संस्कृति का मूल है––त्याग, दूसरों के लिए जिओ। यदि प्रत्येक व्यक्ति इसे अपना लें तो संसार में कोई दुखी न रहे, न लड़ाई हो और न एटम बम ही बने। एक गीत में कहा गया है कि लड़की के पैदा होने का क्या फल है? उत्तर मिलता है—जब उसको पुत्र पैदा हो तभी उसका जीवन सफल है। पुत्र के पैदा होने का क्या फल है? इसका उत्तर मिलता है––जब उस पुत्र से दुनिया को आनन्द मिले, सुख मिले, तभी उसका जीवन सार्थक है––

**तिरिया के जनमे कवन फल, हे मोरे साहब?**
**पुतवा जनम जब होइ हैं, तबै फल होइ हैं।**
**पुतवा के जनमे कवन फल हे मोरे साहब?**
**दुनिया आनन्द जब होइ तबै फल होइ हैं।**

वास्तव में वही व्यक्ति धन्य है, उसी का जीवन सफल है जो संसार के लिये कुछ करे और मानव-कल्याण के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग कर दे। भारत की कल्याणमयी मानवतावादी संस्कृति का रूप हमें लोकगीतों में स्पष्ट दिखाई देता है, जिसका प्रमुख उद्देश्य है विश्वकल्याण।[1]

**––श्रीधर मिश्र, एम० ए०**

---

१. 'भोजपुर लोकगीतों के विविध रूप'––अप्रकाशित पुस्तक से।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# पुस्तक-परिचय

**उर्दू गुलिस्ताँ की बुलबुलें** : लेखक तथा संकलनकर्ता—श्री रामनाथ 'सुमन'; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, चार रुपया।

उन्नीसवीं शताब्दी से ही हिन्दी-उर्दू की समस्या भारतीय शिक्षित समुदाय और राजनीतिज्ञों का ध्यान आकृष्ट करती रही है। ब्रिटिश शासन-काल में उसने उग्र रूप धारण कर लिया था और हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिक समस्या ने उसका समाधान और भी जटिल बना दिया था। किन्तु देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद यद्यपि यह समस्या उतनी उग्र तो नहीं रह गई, तो भी उसमें अभी डंक मौजूद है। आए दिन उर्दू के समर्थकों के प्रतिनिधि राष्ट्रपति या राजकीय सरकारों से मिल कर उसे फिर एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा में संलग्न दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव में हिन्दी-उर्दू की समस्या इतनी जटिल कभी नहीं थी जितनी वह राजनीतिक कारणों से बनाई जाती रही है। उसे राजनीतिक समस्या का रूप देना भारतीय जीवन को पुनः विषाक्त बनाना है। जहाँ तक उर्दू से संबंध है वह निस्सन्देह भारत में जन्मी विकसित हुई और एक विशेष शिक्षित समुदाय में उसका प्रचार भी रहा। जन-समुदाय की भाषा तो वह कभी नहीं रही। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल ऊपर के ढाँचे में है। अन्यथा उर्दू हिन्दी की ही एक शैली मात्र है। दोनों में जो कुछ पार्थक्य है वह एक विदेशी लिपि के कारण है। यदि यह पार्थक्य दूर कर दिया जाय तो उर्दू भाषा और साहित्य के प्रचार में सहायता ही मिलेगी। स्वयं उर्दू के साहित्यिकों को इस पक्ष पर निष्पक्ष रूप में और ठण्डे दिमाग़ से सोचना चाहिए। हर्ष का विषय है कि इधर पिछले कुछ वर्षों में उर्दू कवियों तथा लेखकों की कृतियाँ नागराक्षरों में मुद्रित एवं प्रकाशित होने लगी हैं और हिन्दी जनता में उन पुस्तकों का प्रचार भी बढ़ रहा है। इससे उर्दू के साहित्यिक ही लाभान्वित होंगे। हिन्दी भाषियों की ओर से इस प्रकार के प्रयास करने वालों में श्री रामनाथ सुमन का स्थान अग्रगण्य है। मीर आदि पर उनकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी के पाठकों ने उनकी पुस्तकों का अच्छा स्वागत किया है। सुमन जी हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक और साहित्यकार हैं। अतएव उनके द्वारा संपादित प्रस्तुत संग्रह के संबंध में दो मत तो हो ही नहीं सकते। एक सुन्दर प्राक्कथन के साथ उन्होंने उर्दू की प्राचीन और अर्वाचीन कवयित्रियों की रचनाओं का संकलन प्रस्तुत पुस्तक में किया है। इन रचनाओं में बलन्दी और नाज़ुकख़याली के साथ-साथ उर्दू-काव्य-धारा के लगभग सभी तरह के रंग पाए जाते हैं। विभिन्न युगों की निरंतर परिवर्तनशील चेतना का प्रभाव इन कवयित्रियों पर भी पाया जाता है। मख़फ़ी, अख़्तर, शोख़, क़मर, बहू बेगम, सुलतान आदि प्राचीन और अख़्तर, रुस्वा, बिर्जीस,



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पिनहाँ, सुरैया, हूर मेरठी, ज़ेब उस्मानिया, शमीम, नाज़, नक़ाब आदि आधुनिक कवियत्रियों का और उनकी रचनाओं का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में हुआ है। सुमन जी की इस पुस्तक से न केवल हिन्दी साहित्य ही समृद्ध हुआ है, वरन् यह उर्दू साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी सुंदर देन है।

**बुद्ध गुणालंकार :** रचयिता––आचार्य अनुरुद्ध महास्थविर; अनुवादक––भदन्त आनन्द कौसल्यायन; प्रकाशक––बुद्ध विहार, लखनऊ; मूल्य, पांच रुपया।

यद्यपि पुस्तक-प्रकाशन अपने में कोई असाधारण बात नहीं है, आधुनिक युग में जहाँ भी शिक्षित समाज होगा पुस्तकें भी प्रकाशित होंगी, तो भी किसी युग में प्रकाशित होने वाली पुस्तकों से उस युग की प्रवृत्ति पर, विचार-धारा की दिशा पर भी प्रकाश पड़ता है, इस बात से कोई इंन्कार नहीं कर सकता। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी-प्रकाशन-संसार में दो बातें विशेषतः दृष्टिगोचर हो रही हैं। एक तो यह कि संसार की अनेक भाषाओं के ग्रन्थ-रत्नों का अनुवाद कर हिन्दी को समृद्ध करने की पावन चेष्टा हो रही है। और, दूसरी यह कि बौद्ध धर्म की ओर लोगों का ध्यान जा रहा है। धर्म-चक्र का राज्य-चिन्ह के रूप में स्वीकार किया जाना इस बात का प्रथम प्रमाण था। स्वतंत्रता-प्रप्ति के बाद असाम्प्रदायिक और स्वतंत्र-चिंतन की ओर रुचि हो जाने के कारण और कुछ एशियाई देशों को दृष्टि-पथ में रखते हुए राजनीतिक कारण से भी बौद्ध-धर्म की ओर ध्यान आकृष्ट होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आधुनिक बौद्ध भिक्षुओं की लगन का भी इसमें कम योग नहीं रहा। आनन्द जी की लेखनी से जहाँ अन्य अनेक बौद्ध साहित्य-संबंधी ग्रन्थों का प्रकाशन हिन्दी में हुआ है, वहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्न के अनुवाद का श्रेय भी उन्हीं को है। प्रस्तृत ग्रन्थ सिंहल वाङ्मय का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसका रचना-काल बुद्ध वर्ष २०१५ (ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी) माना जाता है। कथा वैशाली नगर के अनुपम वर्णन से प्रारंभ होती है। कवि ने लिच्छवि राजाओं के वर्णनोपरान्त वैशाली के दुर्दिनों का वर्णन कर मंत्रियों के विचार-विमर्श का उल्लेख किया है। यह विचार-विमर्श वैशाली का दुःख दूर करने के निमित्त था। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार बौद्ध-धर्म या ब्राह्मण धर्म का समर्थन मंत्रियों ने किया। अंत में एक मंत्री ने तथागत के लोकोत्तर गुणों का गान करना प्रारंभ कर दिया। ग्रन्थकार ने बुद्ध के धर्म और शरीर दोनों को ही लोकोत्तर बताया है और दानपारमिता आदि की पूर्ति का उल्लेख किया है। कवि ने तथागत के चमत्कारों का, देवताओं के गुणों की तुलना में बुद्ध के अनन्त गुणों का, उनके नगर और कुल का, शुद्धोदन, जननी महामाया, यशोधरा, अभिनिष्क्रमण, धर्मचक्र प्रवर्तन एवं धर्म-प्रचार, तथागत का वैशाली में आगमन, रतन-सुग द्वारा परित्राण धर्म-देशना आदि का कविजनोचित भाषा और भावुकता के साथ वर्णन कर स्थान-स्थान पर काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि की है। ग्रन्थ की भाषा सिंहली है। आनन्द जी ने 'प्रस्तावना' में सिंहली भाषा की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डाला है (संभवतः यह इस संबंध में सर्वप्रथम प्रयास है) जिससे ग्रन्थ का मूल्य और भी बढ़ गया है। ग्रन्थ न केवल बौद्ध धर्म और दर्शन की दृष्टि से, वरन् कवि की कल्पनाओं की दृष्टि से भी अभिनन्दनीय है। कवि की नूतन और सरस कल्पनाओं से पाठक रससिक्त हुए बिना नहीं रह सकता।

**हिन्दी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति-काव्य :** लेखक—डॉ० के० भास्करन नायर; प्रकाशक—



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-६; मूल्य, दस रुपये।

स्वतंत्र भारत में अन्तर्राजिकीय संबंध एवं साहचर्य दृढ़ से दृढ़तर बनाने की दृष्टि से राजनीति के क्षेत्र में ही विविध प्रकार के प्रयास नहीं हो रहे, वरन् साहित्य के क्षेत्र में भी इस आकांक्षा की पूर्ति के साधन निरन्तर उपलब्ध होते जा रहे हैं। साहित्य का साधन ही चिरस्थायी होगा, यह निश्चित है, क्योंकि वास्तविक जन-मन-ऐक्य साहित्य द्वारा ही स्थापित हो सकता है। इस दृष्टि से दक्षिण की भाषाओं और साहित्यों से संबंधित कई ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं। इस नवीन-स्थापित परंपरा को आगे बढ़ाने में डॉ० भास्करन नायर का प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चय ही सहायक होगा। हिन्दी और मलयालम के मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने जो काव्य रचे उनका तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से लखनऊ विश्वविद्यालय की थीसिस के रूप में इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ।

कृष्ण-भक्ति ने देश के सांस्कृतिक जीवन में जो महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है उससे सभी भारतवासी अवगत हैं। हिन्दी में ही नहीं भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी कृष्ण-भक्ति साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। मलयालम में एजुत्तच्छन, चेरुश्शेरी, नंपूतिरि, कुंचन नैय्यार आदि प्रतिभाशाली कवियों की रचनाएँ हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं की तुलना में भलीभाँति रखी जा सकती हैं। लेखक ने कवियों का साहित्यिक अध्ययन (रस, अलंकार आदि) प्रस्तुत करने के साथ-साथ कृष्ण-भक्ति के विकास, दोनों भाषाओं के कवियों के दार्शनिक विचार नवधा भक्ति, सामाजिक प्रभाव आदि पर भी विचार कर विषय को अधिकाधिक सांगोपांग बनाने की सफल चेष्टा की है। प्राविधिक दृष्टि से भी प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध पुष्ट है।

**पालि-साहित्य और समीक्षा** : लेखक—डॉ० सरनामसिंह शर्मा; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, १३६१ वैदवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली-६; मूल्य, तीन रुपया दो आना।

भारतवर्ष की विचार-परम्परा को समूचे रूप में समझने के लिए पालि भाषा और साहित्य का अध्ययन नितान्त आवश्यक है, यह मत सर्वमान्य है। हिन्दी में प्रचलित अनेक शब्दों और साहित्यिक परंपराओं के मूल रूप पालि तथा उसकी परवर्ती भाषाओं प्राकृत और अपभ्रंश में खोजे जा सकते हैं। इस दृष्टि से भी पालि भाषा और साहित्य का अध्ययन हिन्दी के पाठकों के लिए आवश्यक है। डॉ० सरनामसिंह शर्मा ने इस पुस्तक की रचना कर हिन्दी-पाठकों का बहुत बड़ा उपकार किया है, क्योंकि इस विषय पर सरल एवं सुस्पष्ट शैली में लिखी गई पुस्तक का हिन्दी में अभाव था। विद्वान् लेखक ने छः अध्यायों में पालि भाषा का इतिहास, पालि का अन्य भाषाओं से संबंध, पालि-साहित्य, आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्य पर पालि-साहित्य का प्रभाव, शिक्षा और सिद्धान्त और पालि व्याकरण का परिचय शीर्षक विषयों पर विचार किया है। विषय-प्रतिपादन-शैली सुबोध और सुष्ठ है। यद्यपि पुस्तक विद्यार्थियों को दृष्टि में रखते हुए लिखी गई है, तो भी हिन्दी का सामान्य पाठक भी इससे लाभान्वित हो सकता है।

**बिहारी का नया मूल्यांकन** : लेखक—डॉ० बच्चन सिंह; प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, मान मन्दिर, वाराणसी-१; मूल्य, ३ रु० ५० न० पै०।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास के बाद बिहारी ही सर्वाधिक लोकप्रिय कवि रहे हैं—भारतीय जन के एक हाथ में अध्यात्म और दूसरे हाथ में श्रृंगार। ईसा की अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में बिहारी कृत दोहों की टीकाएँ-काव्य-कला-पक्ष के अध्ययन सहित, बराबर निर्मित होती रहीं और उनसे ब्रजभाषा-गद्य-परंपरा भी पुष्टि हुई। देव और बिहारी को लेकर हिन्दी में किसी समय बड़ा वादविवाद छिड़ गया था। साहित्य-महारथियों ने अपने प्रौढ़ लेखों से हिन्दी संसार को हिला डाला था। वास्तव में बिहारी रीति-काल की प्रौढ़ और श्रेष्ठ परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए उनकी ओर साहित्य के विद्यार्थियों का ध्यान जाना स्वाभाविक है। डॉ० बच्चन सिंह ने बिहारी के सामंतीय परिवेश को दृष्टि में रखते हुए उनका अध्ययन किया है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—'बिहारी दरबार में रहते थे, पर उनको दरबारी नहीं कहा जा सकता। उनमें चाटुकारिता की प्रवृत्ति नहीं थी; वे भेष-भूषा, रहन-सहन, आन-बान आदि में किसी सामंत-सरदार से कम न थे, उनका दृष्टिकोण पूर्णतः सामंतीय था, जो सतसई के कथ्य तथा शैलीगत सतर्कता और सज्जा में अभिव्यक्त हो उठा है। उनके प्रेम, नारी-संबंधी भाव, गाँव-संबंधी विचार सभी पर सामंत-कवि की छाप है, दरबारी कवि की नहीं।' अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने सतसई के दोहों को ही साक्ष्य माना है। यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन रोचक है, तो भी उसमें मतभेद की काफ़ी गुंजाइश है।

**--(डॉ०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय**

**पत्र-व्यवहार :** (जमनालाल बजाज का रचनात्मक कार्यकर्ताओं से) सम्पादक—श्री रामकृष्ण बजाज; भूमिका—श्री जयप्रकाशनारायण; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन; राटघाट, काशी; मूल्य १ रुपया २५ नए पैसे।

सेठ जमनालाल **जी** बजाज बापू-परिवार के अनोखे सदस्य थे। वे स्वतंत्रता-संग्राम के अद्भुत सेनानी और निराले देश-सेवक थे। यह 'पत्र-व्यवहार' का तीसरा भाग है। पत्र-व्यवहार के भाग एक और दो पहले निकल चुके हैं। भाग १ में स्वर्गीय बजाज जी का देश से राजनीतिक नेताओं से हुआ पत्र-व्यवहार संग्रहीत है और भाग २ में देशी रियासतों के कार्यकर्ताओं के संबंधित पत्र हैं। इस तीसरे भाग में स्वर्गीय जमनालाल का रचनात्मक क्षेत्र में काम करने वाले महानुभावों के साथ के पत्र-व्यवहार हैं। बजाज जी का जीवन, सत्य, त्याग, संयम, साधना की अग्नि से परिष्कृत शुद्ध कांचन के सदृश देदीप्यमान था। उन्होंने अपनी विवेक-बुद्धि से बहुत से कार्यकर्ताओं में प्रेरणा, स्फूर्ति और सात्विकता प्रदान की थी। इस 'पत्र-व्यवहार' में ७२ रचनात्मक कार्यकर्ताओं के पत्र-व्यवहार हैं। इनके रचनात्मक क्षेत्र विविध और अनेक रूपात्मक हैं। इनमें से कुछ ऐसी विभूतियाँ हैं, जिनके कार्य सर्वविदित हैं; उदाहरणार्थ अच्युत स्वामी, अप्पा साहब पटवर्धन, अमरनाथ झा, काका कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला, चतुरसेन वैद्य, जगदीशचंद्र वसु, जाकिर हुसेन, प्रफुल्लचंद्र राय, बनारसीदास चतुर्वेदी, भगवानदास, मीरा बहन, रामनरेश त्रिपाठी, विनोबा भावे, वियोगी हरि, शिवप्रसाद गुप्त, सरला बहन, हनुमानप्रसाद पोद्दार, आदि। जिस समय के ये पत्र हैं, वह हमारे इतिहास की क्रान्ति और संघर्ष का युग था। इन पत्रों में तत्कालीन इतिहास



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की झांकी देखने को मिल जाती है और गांधी युग की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं का ज्ञान होता है। इसमें अनेक रचनात्मक बातें विविध दृष्टिकोणों से सुलझाई गई हैं और उनके अनेक समाधान भी प्राप्त हो जाते हैं। पुस्तक सर्वथा संग्रहणीय हैं और इसके सम्पादक एवं प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं।

**पाश्चात्य-समीक्षा-सिद्धान्त :** लेखक—डा० केसरीनारायण शुक्ल, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रोफेसर मास्को विश्वविद्यालय, प्राच्य भाषा इंस्टिच्यूट, मास्को; प्रकाशक—नन्दकिशोर एण्ड संस, चौक, वाराणसी; मूल्य ३ रुपये।

कुछ वर्षों से हिन्दी आलोचना-शास्त्र के अध्ययन और अध्यापन की तीव्र अभिरुचि हिन्दी-साहित्य में हुई है। इसके फलस्वरूप अनेक पुस्तकों का प्रणयन भी हुआ। वर्तमान हिन्दी आलोचक को पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्तों का अध्ययन आवश्यक है—दोनों ही दृष्टियों से—एक तो यह कि वह प्राच्य और पाश्चात्य के अंतर्गत विभेद कर सके और दूसरे यह कि वह उनके बीच समन्वय स्थापित कर सके। प्रस्तुत पुस्तक में पाश्चात्य-समीक्षा-सिद्धान्तों से संबंधित कतिपय प्राचीन आचार्यों के साहित्य-सिद्धान्तों का संक्षिप्त पर ठोस अध्ययन प्राप्त होता है। इसमें अरस्तू से लेकर मध्ययुग तक के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। प्लेटो, अरस्तू, होरेस, लॉनजाइनस, दान्ते आदि मनीषियों ने अपने विस्तृत अनुभव तथा सूक्ष्म और गंभीर चिन्तन के फलस्वरूप ऐसे सिद्धान्तों को हमारे सम्मुख रक्खा, जिनकी उपयोगिता सर्वकालीन और शाश्वत है। आधुनिक काव्य और आलोचना का मूल इन्हीं विचारकों के आदर्शों पर स्थित है। डॉ० शुक्ल ने प्रमुख विचारकों के विशिष्ट सिद्धान्तों की सुन्दर, सुस्पष्ट, रोचक समीक्षा की है। इसमें सन्देह नहीं कि पुस्तक के अध्ययन के पश्चात् पाश्चात्य विचारकों के विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शों की सुस्पष्ट झांकी हमारे मस्तिष्क में अंकित हो जाती है। आलोचना-शास्त्र के अध्येताओं के लिए पुस्तक बड़ी ही उपादेय और संग्रहणीय है। ऐसी ठोस सामग्री प्रस्तुत करने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

**समवेत :** लेखक—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी; प्रकाशक—नन्दकिशोर एण्ड संस, चौक, वाराणसी; मूल्य १ रुपया ७५ नये पसे।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी जी क्रियात्मक अथवा रचनात्मक साहित्यकार हैं। अपने सम्बन्ध में उन्होंने इस प्रकार कहा है, "संस्कृति ही मेरी सरस्वती है। साहित्य मेरे लिए उसी का स्तन्य है, जीवन और वाङ्मय उसी से अमृत की तरह स्वयं निःसृत होता है। सरस्वती के स्तन्य से मुझे जो रसदान मिलता है, उसी का स्वास्थ्य मैं सहृदय पाठकों को सुलभ करता हूँ।"—इस कथन के अनुसार द्विवेदी जी के "समवेत" में पंद्रह लघु निबन्धों का संग्रह है, जिनके शीर्षक इस प्रकार हैं—सौन्दर्य और कला; छायावाद का सगुण; रागात्मकता की समस्या; 'हार' : पन्त का रचना-सूत्र; शिवपूजन जी की साहित्य-साधना; हुतात्मा 'नवीन'; नवीन जी की कविताएँ; प्रगति और संस्कृति; नयी कविता के पांच रूप; नये उपन्यास : नये उपन्यासकार; 'झूठा सच' : एक युग-निरीक्षण; परिव्राजक का जीवन और चिन्तन; विज्ञान और ग्रामोद्योग; प्रकृति और सह-अस्तित्व तथा साधन और माध्यम।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



द्विवेदी जी के सभी निबंध चिन्तन, अनुभूति, अध्ययन, मौलिकता, व्यक्तित्व और कला से समन्वित हैं। उनके निबन्धों में जहाँ एक ओर संस्मरण की झाँकी मिलती है, वहां दूसरी ओर साहित्य, संस्कृति और कला के प्रति पूरी आस्था भी दिखाई पड़ती है। कहीं कहीं उनके निबंधों में भावुकता छलक पड़ी है। 'रागात्मकता की समस्या' नामक निबंध में द्विवेदी जी की यह इच्छा कितनी भावपूर्ण है—"छायावाद-युग के बाद पन्त की कविता ने (स्वयं पन्त ने) एक ही जन्म में कितने ही नये जन्म लिए. किन्तु मैं उनके पूर्वजन्म ('पल्लव'-काल) की ही सुषमा और मधुरता के लिए लालायित हूँ।" वास्तविकता यह कि द्विवेदी जी के निबंध अनेक रूपात्मक हैं। उनकी भाषा और शैली सशक्त, रोचक, आकर्षक और प्रवाहपूर्ण है। उनकी व्यक्तिगत-भावना निबन्धों को कहानी का रूप दे देती है। उनके विचार और आदर्श प्रायः सभी निबन्धों में पाये जाते हैं। यह पुस्तक साहित्य के अध्येताओं के लिए ही नहीं, बल्कि सर्वोदय के कार्यकर्ताओं के लिए भी पठनीय है।

**प्रसाद के प्रगीत :** लेखक—श्री गणेश खरे, एम० ए०; प्रकाशक—नंदकिशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी; मूल्य छः रुपये मात्र।

प्रगीत काव्य के सम्बन्ध में अभी तक थोड़ा ही अध्ययन हुआ है। कुछ आलोचक प्राच्य और पाश्चात्य प्रगीतों को एक ही सांचे में ढालने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु भारतीय प्रगीत पश्चिमी प्रगीतों से अनेक दृष्टि से भिन्न हैं, क्योंकि उनके इतिहास, संस्कृति एवं साहित्यिक मान्यताएँ पृथक् हैं। श्री गणेश खरे ने प्रसाद के प्रगीतों का स्वतंत्र अध्ययन किया है। प्रस्तुत ग्रंथ सागर विश्व-विद्यालय के एम० ए० उत्तरार्द्ध के नवम प्रश्नपत्र के वैकल्पिक रूप में उपस्थित किया हुआ प्रबन्ध है। यह प्रबन्ध भूमिका के अतिरिक्त सात प्रकरणों में विभाजित है। भूमिका में प्रगीत काव्य के मूलतत्व, स्वरूप, प्रक्रिया, वर्गीकरण तथा उसकी प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य-परम्परा का आलेखन है। संगीतात्मकता, आत्माभिव्यक्ति, अन्विति, भावावेग, संक्षिप्तता, शिल्प-पक्ष और रचना-विधान प्रगीत-काव्य के मूल तत्व हैं। लेखक ने इनकी विशद व्याख्या की है; साथ ही इतर काव्य-रूपों से इसका सम्बन्ध दिखाया है। हिन्दी प्रगीतों का वर्गीकरण पाश्चात्य साहित्य के आधार पर करके, उनका आरंभ, विकास और मौलिकता दिखलायी गयी है। उनके अभावों की ओर भी लेखक की दृष्टि रही है। श्री गणेश खरे के प्रसाद के प्रगीतों का अध्ययन अपनी कोटि का मौलिक और स्तुत्य प्रयास है। उनके विभाजन, तर्क, युक्ति, उदाहरणों और उद्धरणों से समन्वित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने ईमानदारी और निष्ठा से अपने विषय का प्रतिपादन किया है।

**कथक नृत्य :** लेखक—श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग; भूमिका लेखक—नृत्य-सम्राट्, पद्मश्री शम्भू महाराज; प्रकाशक—संगीत कार्यालय, हाथरस; मूल्य आठ रुपये।

कला के प्रमुख भेदों में संगीत कला का महत्वपूर्ण स्थान है। गीत, नृत्य और वाद्य यह तीनों कलाएं संगीत के अन्तर्गत मानी जाती हैं। वर्त्तमान काल की नृत्य-कला में एक बड़ा दोष आने लगा है। वह यह है कि नृत्य कला में तत्कालीन वेशभूषा की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उदाहरणार्थं दक्षिण में किसी भी नृत्य को प्रस्तुत करते समय 'भारत नाट्यम्' की पोशाक पहन ली जाती है। मणिपुर में प्रत्येक नृत्य के समय मणिपुरी पोशाक धारण कर ली जाती है और उत्तर भारत में कथक की पोशाक पहन कर कोई भी नृत्य प्रस्तुत कर दिया जाता है। किन्तु यह प्रकृति भ्रामक, त्रुटिपूर्ण और दोषयुक्त है। इससे नृत्य-कला का उपकार के बदले अपकार होता है।

कथक नृत्य की सूक्ष्मताओं को जानने के लिए अब तक कोई प्रामाणिक ग्रंथ नहीं था। 'संगीत' के सम्पादक, श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग ने 'कथक नृत्य' लिख कर इसके अभाव की बड़ी भारी पूर्त्ति की है। यह ग्रंथ परिश्रम, लगन, निष्ठा और अन्वेषण से लिखा गया है। ग्रंथ में तीस अध्याय हैं, जिन्में कथक नृत्य के इतिहास, उसके प्राचीन कलाकार, नृत्य सम्बन्धी विस्तृत पारिभाषिक शब्दावली, रसों और भावों के निरूपण, नृत्य के कुछ प्राचीन अंग, गत एवं भाव, नायक-नायिका भेद, कथक नृत्य के कवित्त और ठुमरी, राधाकृष्ण नृत्य (रास) के कवित्त, प्राचीन, मुग़लकालीन, राजपूत कालीन तथा आधुनिक वेशभूषाएँ, चेहरा, होंठ, आँख, कपोल, केश, नख आदि के सौन्दर्य-प्रसाधन, घुँघरू तथा पदसंचालन, अंगहार, पाद-विक्षेप, भृकुटि और नेत्र-संचालन गर्दन तथा छाती का संचालन; अंग, मुद्रा और गति; शारीरिक अंग और उपाङ्ग, मुख बोलों के अभ्यास, विविध नृत्य-अभ्यास, जयपुर, कुदऊ सिंह, लखनऊ और बनारस घराने की बन्दिशें, नटवरी नृत्य, नृत्य के लिए कुछ लहरें, नृत्य के कुछ रहस्य; नर्तक, नर्तकी और नृत्यचार्य के गुण, प्राचीन काल के नृत्य, रास नृत्य, कथक नृत्य के प्रसिद्ध कलाकारों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक बताया गया है। अनेक स्थल पर उदाहरणों और उद्धरणों द्वारा कथन की पुष्टि की गई है। पुस्तक में लगभग १५० चित्र भी दिए गए हैं। ये चित्र विविध ऐतिहासिक संगीत-दरबारों, प्राचीन चित्रों, विविध मुद्राओं, नवों रसों से संबंधित मुख-चेष्टाओं, विविध नायिकाओं तथा अनेक प्रसिद्ध कलाकारों से संबंधित हैं। चित्रों के माध्यम से मुद्राओं आदि को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

'कथक नृत्य' अपने में सर्वथा पूर्ण ग्रन्थ है। कथक नृत्य के संबंध में एक साथ इतनी अधिक बातें, इस ग्रंथ को छोड़ कर अन्यत्र नहीं प्राप्त होतीं। यह पुस्तक साहित्य एवं संगीत दोनों के प्रेमियों के लिए पठनीय और संग्रहणीय हैं। इसके प्रणयन और प्रकाशन के लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

—(डॉ०) जयराम मिश्र

**क्रांतिकारी :** (नाटक) लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एंड संस दिल्ली; मूल्य, २ रुपये।

देश को स्वाधीनता की ओर ले जाने में क्रांतिकारी दल का विशेष योग रहा है। इस नाटक में श्री उदयशंकर भट्ट ने क्रांतिकारी दिवाकर के जीवन की घटनाओं को इस रूप में चित्रित किया है जिससे उस दल के ऐतिहासिक महत्त्व का चित्र आँखों के सामने घूम जाता है। दिवाकर को एक आदर्श क्रांतिकारी कहा जा सकता है। नाटक में न केवल वह, वरन् उसकी माँ, पत्नी और बच्चा तक उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावना से सम्पन्न हैं। यह पूरा परिवार अपने बलिदान की अमिट छाप पाठकों के मन पर छोड़ जाता है। नाटक का नायक ऐसी परिस्थितियों



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के बीच से घूमता है जिनसे न केवल उसका, वरन् उसके परिवार, उसके दल, ब्रिटिश शासन, पुलिस और देशद्रोहियों का चित्र भी स्पष्ट हो जाता है। केवल कथानक की दृष्टि से देखा जाय, तब भी यह नाटक बहुत सशक्त है।

भट्ट जी के रचना-कौशल की कई बातें इस नाटक से स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि यथार्थ पर दृष्टि रखते हुए भी नीच से नीच मनुष्य के मन में अंतर्द्वन्द्व द्वारा सत् की झलक कई स्थानों पर इन्होंने दिखलायी है। दूसरे, क्रांतिकारियों के कर्म के प्रति पूरा आदर-भाव रखते हुए भी इन्होंने उनकी मान्यताओं की कमियों की ओर संकेत किया है। एक ओर जहाँ इन्होंने अपने हृदय की पूरी आत्मीयता उन्हें प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर उस तटस्थता का परिचय भी दिया है जो एक विवेक-शील विचारक का लक्षण है। नाटक में इतने प्रकार की भावनाओं और वृत्तियों को अपनी गहराई और तीव्रता में स्थान मिला है कि पाठक अंत तक कथानक से बँधा रहता है। 'क्रांतिकारी' मानवीय भावनाओं का उन्नयन करने वाला एक सफल और अभिनेय नाटक है। इसके प्रणेता श्री उदयशंकर भट्ट ने मंच के लिए एक ऐतिहासिक राष्ट्रीय विषय का चयन कर अपने देशानुराग का परिचय दिया है।

**कालिदास :** (नाटक) लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एंड संस, दिल्ली; मूल्य २ रुपये।

इस ग्रंथ में श्री उदयशंकर भट्ट के तीन रूपक संगृहीत हैं—मेघदूत, विक्रमोर्वशी एवं कालिदास। मेघदूत और विक्रमोर्वशी कालिदास के इन्हीं नामों के दो ग्रंथों पर आधारित हैं, कालिदास उनकी समस्त कृतियों पर। इनमें कालिदास एक फ़ीचर है, शेष दो काव्य-रूपक।

संस्कृत के विद्वान् होने और रेडियो के सम्पर्क में रहने के कारण भट्ट जी के लिए यह संभव हुआ है कि वे कालिदास की कृतियों के सौंदर्य को हिंदी के पाठकों के लिए प्रत्यक्ष कर सकें। जो लोग रेडियो के माध्यम से परिचित हैं, वे तो इन रूपकों का आनन्द उठा ही सकेंगे; लेकिन इनकी रचना इस रूप में हुई है कि सामान्य पाठक भी इनकी रोचकता को स्वीकार करेगा। रचनाकार की पहली विशेषता कालिदास की कृतियों का संपादन और उनसे उपयोगी अंशों का चयन है। कथानक की सुसंबद्धता के लिए इन्होंने 'वाचकों' से काम लिया है। स्थान-स्थान पर ध्वनि-संकेतों का प्रयोग है, अपनी ओर से गीतों का संयोजन है, और कथोपकथन को कई पात्रों में बाँटा है। कहीं-कहीं द्वैत-गान का भी प्रयोग है। विद्वत्ता और अनुभव के साथ जिस तीसरी बात ने इन रूपकों को हृदयग्राही बनाया है, वह है स्वयं भट्ट जी का एक अच्छा कवि होना। अनुवादों में यह तथ्य पूरी तरह झलक जाता है। चौथी बात जो इन रूपकों को सुपाठ्य बनाती है और मंच के अनुकूल भी है, वह है भाषा की सरलता। स्पष्ट है कि ये ध्वनि-रूपक रेडियो और मंच दोनों पर समान रूप से सफल होंगे।

**मानसी :** (काव्य) लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एंड संस, दिल्ली; मूल्य, ३रुपये।

'मानसी' श्री उदयशंकर भट्ट का एक चिंतन-प्रधान काव्य-ग्रंथ है। इसमें जीवन के चिरं-



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


तन प्रश्नों पर केवल प्रकाश ही नहीं डाला गया, उनका समाधान भी खोजा गया है। ये प्रश्न ऐसे हैं जो प्रायः प्रत्येक बौद्धिक व्यक्ति के मन में उठते हैं। सुख-दुःख, परिवर्तन, नियति और सृष्टि के संबंध में जो विचार इस कृति में व्यक्त किए गए हैं वे व्यापक दृष्टिकोण के परिचायक हैं। उनमें किसी प्रकार की कट्टरता, हठवादिता, साम्प्रदायिकता या संकीर्णता नहीं पायी जाती। जीवन में निराशा के लिए स्थान स्वीकार करते हुए भी सामान्य टोन आशा की ही है। काव्य की परि-समाप्ति एक उद्बोधन-गीत में हुई है।

भट्ट जी का काव्य सरल और सुबोध ढंग का होता है। मानसी की तो बहुत-सी पंक्तियों का उपयोग सूक्तियों की भाँति किया जा सकता है। विरोधाभास के सहारे कहीं-कहीं चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न भी इन्होंने किया है। पूरा काव्य एक ही छंद में लिखा गया है और विवेचन कहीं ऊब उत्पन्न न करे, इसलिए उसे शीर्षकों में बाँट दिया गया है। 'मानसी' का जीवन-दर्शन सहज रूप से ग्राह्य होना चाहिए, क्योंकि उसका आधार एकां-गिता या अतिशयोक्ति नहीं। वह जीवन के प्रति एक ऐसे संवेदनशील व्यक्ति की प्रतिक्रिया है जो अपने जैसे असंख्य व्यक्तियों के लिए चिंतन करने बैठा है।

**त्रिभंगिमा :** (काव्य) लेखक--श्री हरिवंशराय 'बच्चन'; प्रकाशक--राजपाल एंड संस, दिल्ली-६; मूल्य, ४ रुपये।

'त्रिभंगिमा' श्री हरिवंशराय 'बच्चन' की कविताओं का नया संग्रह है। संग्रह का नाम-करण रचनाओं की शैली के आधार पर हुआ है। छंद की दृष्टि से यह काव्य तीन धाराओं --छंद-बद्ध, छंदमुक्त और लोकधुनों--में बहा है। इसी से इसका नाम 'त्रिभंगिमा' रखा गया है।

'बच्चन' की कृतियों में अब तक 'सतरंगिनी' और 'निशा-निमंत्रण' ही सुख-दुःख की तीव्रता और गहराई को चित्रित करने वाली उनकी श्रेष्ठतम रचनाएं हैं। इनकी प्रतिभा मूलतः गीता-त्मक है और यहां भी छंदबद्ध रचनाओं में वह सहज भाव से प्रस्फुटित हुई है। मुक्त-छंद की रचनाओं में प्रवाह की रक्षा सभी स्थानों पर नहीं हो पायी। वहाँ अनेक पंक्तियां गद्यवत् हैं। लोकधुनों में खड़ीबोली ठीक से नहीं ढल पायी। बात यह है कि 'बच्चन' जी ने लोकधुनें तो चुन लीं, लेकिन मन को क्या करें? वह तो एक नागरिक का मन है। लगता ऐसा है कि लोक-कवि ही लोकधुनों में अपने प्राण ढाल सकते हैं। 'बच्चन' जी ने भूमिका में अपने पाठकों को समझाया है कि लोक-धुन वाली रचनाओं की सफलता का परिचय ग्रामोफोन कंपनियों के रेकर्ड, रेडियो या कवि-सम्मे-लनों में पाठ से ही मिल सकता है। लेकिन श्रेष्ठ काव्य की यह कोई सच्ची कसौटी है, ऐसा हम नहीं मानते। इस संग्रह की रचनाओं में बहुत से शब्दों को प्रायः खींचकर पढ़ना पड़ता है। विकृति शब्दों का प्रयोग भी कम नहीं है जैसे-नद्दी, अवनी साजीं, जेवन, पूतलो, फेंका दी, पछताव; साथ ही सैयां-दैया, आदि भी बने हुए हैं। इस दोनों बातों से भाषा स्वच्छ नहीं रह गई है।

प्रशंसनीय बात यह है कि इन रचनाओं में मिट्टी की महत्ता के उद्घोष के साथ प्रेम की शक्ति में कवि का विश्वास अभी तक बना हुआ है। अपने युग को लेकर चिंतन है और जीवन



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के प्रति दृष्टि स्वस्थ एवं नॉर्मल है। कवि ने नए विषय उठाए हैं और पुराने विषयों को नयी दृष्टि से देखा है। इससे कविताओं में वैविध्य और ताज़गी का समावेश हुआ है।

लेकिन इसके साथ ही बाल-दिवस पर प्रसन्नता, सैनिकों के लिए प्रयाण-गीत एवं पंचशील के विरुद-गान के स्वर भी इन रचनाओं में मिले हुए हैं। इस प्रकार उनके संवेदनों में कुछ अंश महत्त्वपूर्ण है, कुछ साधारण। अच्छा तो यह लगता है कि समय के विकास के साथ साधारण का साथ छूटता जाय; लेकिन 'बच्चन' में यह बात प्रायः बढ़ती जाती है। श्रेष्ठ के साथ साधारण का हय मेल प्रत्येक कवि के लिए अंततः हानिकारक ही सिद्ध होता है। हमारा प्रस्ताव है कि 'बच्चन' जी को अपनी प्रकृति-दत्त शक्ति के चरणों से साधारण की इस धूल को अब झाड़ देना चाहिए।

**चाँदनी चूनर** : (कविता) लेखिका––शकुंत माथुर; प्रकाशक––साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद; मूल्य, ३·००।

'चाँदनी चूनर' शकुंत माथुर का पहला कविता-संग्रह है। इसमें श्रीमती माथुर की पचास से ऊपर रचनाएं संग्रहीत हैं। इन रचनाओं को पढ़कर पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि शकुंत माथुर ने कविता को नित्य प्रति के जीवन के बहुत निकट ला बिठाया है। मध्य वर्ग की शिक्षित और शालीन गृहिणी की भावनाओं और उसके स्वप्नों का चित्रण इन्होंने पूरी तन्मयता से किया है। घर-गृहस्थी के ये चित्र रम्य भी हैं और सहज सुबोध भी। जहाँ तक चिंतन का संबंध है, वह अपने चारों ओर के जीवन और युग की समस्याओं के प्रति सहज प्रतिक्रिया के रूप में है। निम्न और मध्य वर्ग के जीवन-संघर्ष पर इनकी दृष्टि पड़ी है। मशीन के सम्पर्क में आकर व्यक्ति मशीन बनता जा रहा है, ऐसी चिंता इन्होंने कहीं-कहीं प्रकट की है। उपमान इन्होंने ग्रामीण और नागरिक जीवन, दोनों से जुटाए हैं। बहुत-से शब्दों के प्रयोग की सार्थकता इन्होंने अपनी भूमिका में सिद्ध की है; पर हमारा विचार है कि यदि मैं, आँगिया, वो, क्यूं, चावे जैसे शब्दों का प्रयोग खड़ीबोली में बचाना चाहिए। छंदबद्ध काव्य की दूसरी बात है; पर मुक्त-छंद की रचना में विकृत प्रयोगों की विवशता किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं की जा सकती। खड़ीबोली विकास की जिस सीमा पर पहुँच गयी है, वहाँ उसे तोड़ना-मरोड़ना ठीक नहीं प्रतीत होता। इस संग्रह की अपेक्षाकृत छोटी रचनाएं अधिक सफल हैं—विशेष रूप से वहां जहाँ संकेत महत्त्वपूर्ण है, प्रतीक उपयुक्त है और अभिव्यक्ति कटी-छटी है। इनके परिचय में किसी ने उत्साह में इन्हें 'नयी कविता की प्रथम कवयित्री' लिखा है। इसका आधार क्या है, हम नहीं जानते। फिर भी रमासिंह, शांता सिनहा और कीर्ति चौधरी के साथ इनका नाम भी अब प्रयोगवादी कवयित्रियों की सूची में सम्मिलित कर लेना चाहिए।

**कल्पना** : (उपन्यास) लेखक—डा० रांगेय राघव; प्रकाशक––राजपाल एंड संस, दिल्ली; मूल्य, २ रुपये।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


'कल्पना' डा० रांगेय राघव का एक लघु उपन्यास है। जहां तक मूल कहानी का संबंध है, वह बहुत मार्मिक है और पूरे कौशल के साथ कही गई है। लेकिन वह बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती है। शेष भाग में उपन्यासकार ने बर्बर युग से लेकर आधुनिक काल तक समाज में नारी की स्थिति और मध्यवर्गीय नैतिकता पर प्रकाश डाला है। उसने नारी को कहीं देवी कहा है, कहीं बंदिनी, कहीं खेत। इसके लिये संस्कृत साहित्य का सहारा लेकर उसने कई प्रसिद्ध नारी पात्रों को हमारी आँखों के सामने खड़ा किया है। प्रश्न यह है कि यह उपन्यास किसके लिए लिखा गया है? सामान्य पाठक के लिए? वह तो कहानी चाहता है। विद्वानों के लिए? उन्हें सीता और राम, संपाति और जटायु, यक्षिणी और विरही यक्ष, मालविका और अग्निमित्र की कहानियां चिर परिचित हैं। तब? सच यह है कि उपन्यासकार सृजनात्मक साहित्य के मूल उद्देश्य से बहुत दूर चला गया है और उसका दंड उसके पाठकों को भोगना पड़ा है।

इस कृति में कथा और चिंतन का कुछ ऐसा सम्मिश्रण है कि वह 'आधा तीतर, आधा बटेर' की कहावत चरितार्थ करती है। अपने युग की एक मार्मिक घटना से प्रभावित होने के उपरांत लेखक चिंतन में डूब गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लेखक की नारी के प्रति पूरी सहानुभूति है। यह भी माना जा सकता है कि नारी की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर ही यह उपन्यास लिखा गया है। उसने स्पष्ट कहा है--नारी संन्यासिनी, वेश्या या पुरुष की भोग्या न बनकर सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करे। लेकिन इसके लिए उपन्यास को निबन्ध के निकट लाने की आवश्यकता नहीं थी। हमारी धारणा है कि इसमें चिंतन का अंश आवश्यकता से अधिक है और उसका कारण यह प्रतीत होता है कि 'चरम सीमा' पहले ही परिच्छेद में आ गई है; अतः उपन्यासकार लाख प्रयत्न करने पर भी कथानक को आगे नहीं बढ़ा पाया। फिर भी शैली की नवीनता के लिए लेखक प्रशंसा का पात्र है।

**रंगारंग** : (उर्दू काव्य संग्रह) संपादक--श्री रघुपतिसहाय 'फ़िराक़'; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, फ़ैज बाज़ार, दिल्ली; मूल्य, १.००।

'राजकमल प्रकाशन' ने अपनी पॉकेटबुक सीरीज़ के अंतर्गत 'रंगारंग' नाम से उर्दू ग़ज़लों के चुने हुए अशआर का एक संकलन प्रकाशित किया है। इस पुस्तक के संपादक हैं उर्दू के प्रसिद्ध कवि श्री रघुपतिसहाय 'फिराक'। पुस्तक के प्रारंभ में एक छोटी-सी उपयोगी भूमिका है जिसमें ग़ज़ल की व्याख्या के साथ उर्दू भाषा की कुछ सामान्य विशेषताओं की चर्चा है। सादी सामग्री को कुछ शीर्षकों के अंतर्गत विभाजित कर दिया गया है जैसे 'रूप और प्रेम', 'संकेत और रूपक' आदि। इसके उपरांत एक ही विषय पर विभिन्न शायरों के शेर दिए गए हैं। इससे पता चलता है कि स्वभाव और दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण एक ही बात को कितने रूपों और पहलुओं में देखा जा सकता है। यह तो संभव नहीं था कि उर्दू के सभी शायर इसमें सम्मिलित किये जा सकते; फिर भी प्राचीनतम कवियों से लेकर आधुनिकतम कवियों में से अनेक को इसमें स्थान मिला है। भाषा की अनेकरूपता की दृष्टि से उर्दू काव्य का पूरा विकास ही इस संग्रह के माध्यम से देखा जा सकता है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ग़ज़ल का प्रत्येक शेर अपने में पूर्ण होता है और किसी रंगीन भावना को अपने में छिपाए रहता है। यही कारण है कि उर्दू कविता अपना प्रभाव तुरंत डालती है। इसके बहुत-से अशआर ऐसे हैं जिन्हें गुनगुनाने को पाठक का मन करेगा। इस दृष्टि से इस प्रयास को सफल कहा जा सकता है।

संपादन से संबंधित कई बातों की ओर ध्यान स्वतः आकृष्ट होता है। इस संकलन में साधारण कोटि के बहुत से अशआर हैं जिन्हें बचाया जा सकता था। यों यह संपादक की अपनी रुचि का प्रश्न भी हो सकता है। कोई दूसरा संपादक संभवतः भिन्न प्रकार के शेर रखता। दूसरे, जहाँ नैतिक और आध्यात्मिक काव्य को स्थान मिला है, वहां थोड़ा स्थान प्रकृति-संबंधी काव्य को भी मिलना चाहिए था। यह भी हो सकता है कि उर्दू में प्रकृति-वर्णन का अभाव हो। लेकिन हिंदी का प्रबुद्ध पाठक सामान्यतः प्रकृति-प्रेमी होता है और वह यह भी जानना चाहेगा कि उर्दू में प्रकृति को किस रूप में लिया गया है। राजनीति, राष्ट्र-प्रेम और प्रगतिशील विचारों को संभवतः झंझट का विषय समझकर छोड़ दिया गया है। शिष्ट हास्य की कमी भी थोड़ी खटकती है।

संकलन में पंक्तियां जिस रूप में पायी जाती हैं, उससे संपादन में थोड़ी लापरवाही प्रकट होती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित अशआर लीजिए—

(१) **ये खयाले तसव्वुफ़, ये तेरा बयान 'ग़ालिब',**
**तुझे हम वली समझते, जो न बादाख़्वार होता,**

**—गालिब**

(२) **की हमसे वफ़ा तो ग़ैर उसको जफ़ा कहते हैं,**
**होती आई है कि औच्छों को बुरा कहते हैं।**

**—गालिब**

(३) **दिल से ख़याले यार को टाले हुए तो हैं,**
**हम जान देकर दिल को सँभाले हुए तो हैं।**

**—अफ़ानी**

(४) **असर है साफ़ नूरे-सुबह रंगारंग किरनों का**
**जब आयें शोखियाँ तो सादगी आ ही जाती है।**

**—फ़िराक़**

पहले दोनों शेर मिरज़ाग़ालिब के हैं और बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रथम में 'ख़याले तसव्वुफ़' के स्थान पर 'मसाइले तसव्वुफ़' है और दूसरे का क्रम इस प्रकार है—'की वफ़ा हमसे' ....। यह उलटफेर क्यों हुआ है, हमारी समझ में नहीं आया। संभव है पांडुलिपि 'फ़िराक़' साहब ने स्वयं, अपने हाथ से तैयार न की हो और ये शेर बोलकर लिखवाये हों और कुछ का कुछ बोल गए हों। 'फ़ानी' के शेर में 'देकर' के स्थान पर संभवतः 'देके' है, नहीं तो इल्का-सा 'सकतः' या यतिभंग दोष पड़ता है। चौथा शेर स्वयं 'फ़िराक' साहब का ही है। इसका अंतिम चरण



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लड़खड़ाता हुआ है। सादगी के उपरान्त शायद 'फिर' छूट गया है। इस तरह के कई अशआर और भी हैं। ऐसी भूलों को द्वितीय संस्करण में सुधार देना चाहिए।

'रंगारंग' में 'वह' और 'यह' को 'वो' और 'ये' लिखा गया है। उर्दू में वह और यह ही लिखा जाता है। हिंदी में भी इनका यही रूप करना चाहिए। इससे एकवचन और बहुवचन का भेद बना रहेगा। दूसरे, जहां शायर ने 'इक' प्रयोग किया है, वहाँ 'एक' नहीं करना चाहिए, 'इक' ही रहने देना चाहिए। 'रंगारंग' का स्वागत पाठक करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

**--विश्वम्भर 'मानव' एम० ए०**

**महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण वृत्ति :** लेखक—डा० त्रिभुवन सिंह; प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, मानमन्दिर, वाराणसी—१; मूल्य दस रुपये।

प्रस्तुत समीक्षा ग्रन्थ में मध्यकालीन अलंकृत हिन्दी कविता को दृष्टि में रखते हुए महाकवि मतिराम के जीवन और काव्य का विशद एवं शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विद्वान् समीक्षक ने सम्पूर्ण मध्यकालीन अलंकृत हिन्दी कविता को दृष्टि में रखकर हिन्दी के रससिद्ध कवि मतिराम का इस ग्रंथ में विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है और एतदर्थ मध्यकालीन हिन्दी के अलंकृत काव्य-परम्परा के अन्तर्गत प्रवन्ध काव्यों, गीतों और मुक्तकों में अलंकरण की प्रवृत्ति को स्पष्ट करने तथा तत्कालीन दरबारी सभ्यता के पड़नेवाले प्रभावों को दिखलाने के लिए आवश्यक समझकर मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों, मुक्तकों, नाटकों तथा आख्यायिकाओं आदि के माध्यम से प्रकट होनेवाली अलंकरण की प्रवृत्ति का भी सम्यक् विवेचन इस सुन्दर ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

आरम्भ के दो अध्यायों—अलंकृत काव्य के मूलतत्त्व और परिवेश तथा मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरणवृत्ति—में ही स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार संस्कृत की अलंकृत कविताओं तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी कविता पर पड़ा है। ग्रन्थ के अन्य अध्यायों में महाकवि मतिराम के जीवन तथा उनकी कविताओं के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

उत्तर मध्यकालीन कवियों में महाकवि मतिराम का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और उनकी जैसी सरस एवं स्वाभाविक अलंकृत कविता लिखने वालों में दो तीन महाकवियों का ही नाम लिया जा सकता है। मतिराम के स्वाभाविक काव्य प्रतिभा के साथ साथ आचार्य के दुर्लभ गुण भी थे, किन्तु खेद का विषय यह रहा है कि देव और बिहारी आदि की भांति उनके सम्बन्ध में उचित न्याय नहीं किया गया, अथवा कहना यह चाहिए कि देव और बिहारी के विश्रुत विवाद में मतिराम की उपेक्षा कर दी गई। उस अभाव की पूर्ति डा० त्रिभुवन सिंह ने अपनी इस अनवद्य एवं वैज्ञानिक अध्ययन से पूर्ण कृति से की है।

इस ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में मतिराम सतसई एवं नामानुक्रमणिका के साथ सहायक ग्रंथों की सूची भी दे दी गयी है, जो बड़े काम की है। इस प्रकार यह ग्रन्थ हिन्दी के विद्यार्थियों तथा शोधकार्यों के लिए अतीव उपयोगी है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**राष्ट्रपति भवन की डायरी :** लेखक—श्री बाल्मीकि चौधरी; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य ७ रुपये ९४ नये पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री वाल्मीकि चौधरी हमारे देश के वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के अति निकट संपर्क में रहे हैं और उन्होंने बड़े मनोयोग, निष्ठा तथा सतर्कता से अपनी इस पुस्तक की रचना की है। इस पुस्तक में राजेन्द्र बाबू के, राष्ट्रपति पद का भार सम्हालने के दिन से लेकर अप्रैल १९५२ तक के दैनिक कार्य-कलापों का रोचक विवरण, उपलब्ध प्रमाणों, साक्ष्यों तथा तथ्यों के साथ दिया गया है और यत्र तत्र लेखक ने प्रकृत सन्दर्भों पर अपनी टिप्पणियां भी दी हैं।

पुस्तक की शैली इतनी रोचक तथा प्रवाहपूर्ण है कि इसे आरम्भ करके समाप्त ही करना पड़ता है। फिर भी इस प्रामाणिक पुस्तक में कुछ ऐसे तथ्य संकलित किए गए हैं, यदि वे न दिए गए होते तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि 'सत्यं ब्रूयात्' के साथ 'प्रियं ब्रूयात्' को भी स्मरण रखने का उपदेश मनीषियों ने किया है। फिर भी पुस्तक अतीव उपयोगी एवं रोचक है और इसके अध्ययन से न केवल हमारे राष्ट्र की विभूति राजेन्द्र बाबू के बहुमुखी व्यक्तित्व एवं कृतित्व को ही समझने-बूझने का अवसर मिलता है, वरन् हमारी राजधानी एवं राष्ट्रपति भवन में कैसे कैसे महदायोजन हुआ करते हैं और राष्ट्रपति भवन के भीतर जो कुछ होता रहता है—इसकी भी मनोहर झांकी पाठकों को अनायास मिल जाती है। हमें आशा है, श्री चौधरी इस कालावधि के बाद की भी डायरी शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।

**करुण रस :** (मध्ययुगीन हिन्दी राम-काव्य के परिवेश में) लेखक—डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली–६; मूल्य १२ रु० ८ आना।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में करुण रस का विशेष महत्त्व है। यद्यपि श्रृंगार रसराज है किन्तु 'एकोरसः करुण एव' के गायकों की संख्या कम नहीं है और इसीलिए सभी रसों में करुण रस के पाठकों की संख्या अधिक होती है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में करुण की रसवत्ता का बड़े मनोवैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त तथ्यों से समर्थन किया गया है और शरीर-क्रिया-विज्ञान सम्बन्धी साक्ष्यों को भी उपस्थित किया गया है। करुण रस की मनोविज्ञानाश्रित शास्त्रीय समीक्षा शीर्षक अध्याय में विद्वान लेखक ने अपने गहन अध्ययन का सुन्दर परिचय दिया है और प्राच्य तथा पाश्चात्य रस सिद्धान्त विशारदों के मतों का यथावसर उल्लेख करते हुए करुण-रस सम्बन्धी सभी सैद्धान्तिक तथ्यों का आकलन किया है। किन्तु जैसा कि पुस्तक के नाम से स्पष्ट है लेखक का मुख्य दृष्टिकोण मध्ययुगीन हिन्दी रामकाव्य में करुण रस का विवेचन प्रस्तुत करता है। अतः पुस्तक के अधिकांश में उक्त प्रयत्न का सफलतापूर्वक विवेचन किया गया है और इस सन्दर्भ में रामकाव्य का सुन्दर पर्यवेक्षण भी पठनीय है। लेखक में अपने विषय के प्रतिपादन की सराहनीय शक्ति है और उन्होंने अपने इस गंभीर अध्ययन को अपनी रोचक एवं प्रवाहपूर्ण लेखनशैली में प्रस्तुत कर काव्य-रसिकों के लिए पठनीय सामग्री प्रस्तुत की है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**साहित्य लहरी** : सम्पादक—श्री प्रभुदयाल मीतल; प्रकाशक—साहित्य संस्थान, मथुरा; मूल्य, छः रुपये।

महाकवि सूरदास की साहित्य लहरी का यह संस्करण श्री मीतल जी ने बड़े परिश्रम और सावधानी से प्रस्तुत किया है। उन्होंने सूर के प्रत्येक पद के साथ उसके पाठान्तर, शब्दार्थ, टिप्पणी, प्रसंग, भावार्थ तथा काव्य सम्बन्धी विशेषताओं पर सुन्दर प्रकाश डाला है। यदि ये सामग्रियां न होतीं तो सूरदास जी के इस क्लिष्ट ग्रन्थ का रसास्वादन सर्वसाधारण के लिए सुगम नहीं था, क्योंकि इसके अधिकांश पदों में कूट शैली का सहारा लिया गया है और उक्ति वैचित्र्य के कारण भी इसकी अपनी दुर्गमता है। शब्दचमत्कार की इस विचित्र कलात्मकता का प्रभाव यद्यपि सूरदास जी के अन्य ग्रन्थों में भी है तथापि साहित्यलहरी तो अपनी इसी विशेषता के कारण प्रख्यात रही है। मीतल जी ब्रजभाषा काव्य के सुप्रसिद्ध पारखी हैं। उनमें साहित्य सृजन की मौलिक प्रतिभा के साथ साथ प्राचीन काव्यों की विशेषताओं के प्रति भी प्रगाढ़ अनुराग है। उन्होंने जितने परिश्रम एवं लगन से इस ग्रन्थरत्न को सर्वसाधारण के लिए सुलभ किया है, वह शतशः प्रशंसनीय है। हमें विश्वास है कि उनके द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ-रत्न का सर्वत्र समादर होगा।

**तीर्थंकर महावीर भाग (१)** : लेखक—जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि; प्रकाशक—काशीनाथ सराफ, यशोधर्म मन्दिर, १६६ मर्जबान रोड, अंधेरी, बम्बई; मूल्य दस रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में भगवान महावीर के जीवन को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ का प्रथम भाग है और इसमें प्रभास की दीक्षा पर्यन्त तक का जीवनवृत्त दिया गया है। संभवतः राष्ट्रभाषा हिन्दी में भगवान महावीर के जीवनवृत्त का यही प्रामाणिक ग्रन्थ है जो विद्वान् लेखक के अनेक वर्षों की साधना का सुफल है। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से जीवन के सभी सन्दर्भों पर गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया है और शंका वाले स्थलों के समस्त प्रसंग एक ही स्थान पर एकत्र किए हैं। भगवान महावीर के जन्म स्थान वैशाली के सम्बन्ध में ही बड़ी भ्रांतियां थीं, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका निर्धारण बहुत सुन्दर ढंग से लेखक ने किया है। इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों पर भी उन्होंने उपलब्ध साक्ष्यों का गहन मन्थन कर जो निर्णय किया है, उसे सार्वमान्य होने में सन्देह की गुंजाइश नहीं है। आशा है, इसके अगले भागों के प्रकाश में आ जाने पर हिन्दीप्रेमियों के लिए श्री भगवान महावीर का प्रामाणिक जीवनचरित उपलब्ध हो जायगा। इस स्तुत्य प्रयास के लिए विद्वान् लेखक तथा प्रकाशक का हिन्दी जगत चिर आभारी रहेगा।

**गुजराती साहित्य का संक्षिप्त इतिहास** : लेखक—डा० वरसाने लाल चतुर्वेदी; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली—६; मूल्य २ रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में गुजराती साहित्य का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी की उन्नति एवं समृद्धि के लिए उसमें भारत की ही नहीं संसार की समस्त प्रमुख भाषाओं से संबंधित साहित्य की अतीव आवश्यकता है। गुजराती हमारे देश की प्रमुख भाषाओं में ही



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नहीं है, अपने स्वनामधन्य लेखकों की अमर कृतियों के कारण वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उसका साहित्यिक भंडार अक्षय है और हिन्दी भाषियों के लिए वह सुगमसाध्य भी है। न केवल अपनी सरल सुबोध लिपि के कारण ही वरन अपनी सुबोधता के कारण भी वह हिन्दी के अति समीप है। अतः डा० चतुर्वेदी की इस कृति का सामयिक महत्त्व है। इस लघुकाय पुस्तक में गुजराती साहित्य के सभी अंगों पर यथावसर प्रकाश डाला गया है, शैली तथा भाषा में रोचकता के साथ यथेष्ट प्रवाह है। विश्वास है, गुजराती साहित्य के प्रेमी हिन्दी पाठकों को इससे बड़ा लाभ मिलेगा।

**भारतीय धार्मिक पुनर्जागरण :** लेखक––श्री रामवृक्ष सिंह तथा श्री उमाशंकर सिंह; प्रकाशक—नन्दकिशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी; मूल्य ढाई रुपया।

इस पुस्तक में भारतीय धार्मिक आन्दोलनों का, विशेषकर पिछले एक सौ वर्ष की अवधि का—सजीव चित्रण किया गया है। लेखकों की मान्यता है कि इस पुस्तक में अपने देश के इतिहास में धार्मिक आन्दोलनों के स्वरूप को सरल एवं सुंदर भाषा में प्रस्तुत किया गया है। राजा राममोहन राय के 'ब्रह्म समाज', महादेव गोविन्द रानडे के 'प्रार्थना समाज' स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'आर्य समाज' एनी बेसेन्ट की 'थियासोफिकल सोसाइटी' रामकृष्ण परमहंस की सेवा का उच्चादर्श तथा स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक प्रचार के अतिरिक्त मुसलिम धार्मिक आन्दोलनों की भी इस छोटी सी पुस्तक में रोचक चर्चा की गई है और अन्त में धार्मिक आन्दोलनों का हमारे देश की जनता पर क्या प्रभाव पड़ा है—इसका गंभीर किन्तु संक्षिप्त विवेचन किया गया है। पुस्तक की भाषा सरस एवं अलंकृत है। शैली में रोचकता के साथ साथ गंभीरता भी है, जो पाठकों पर यथेष्ठ प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। पुस्तक उपयोगी है और इसे पढ़कर धार्मिक आन्दोलनों की विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

**बिल्ली की कहानी :** (भाग १, २, ३) लेखक––महात्मा भगवानदीन; प्रकाशक––अखिल भारत सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी; मूल्य, क्रमशः पचहत्तर, पचहत्तर तथा ५० नए पैसे।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक बालकोपयोगी शैली में लिखी गई एक गंभीर एवं अनुभवी विद्वान की कृति है। बच्चे देश के भविष्य निर्माता हैं। उनकी जैसी शिक्षा-दीक्षा एवं संगति होती है, उसी के अनुरूप देश का भविष्य बनता है। विद्वान् लेखक ने बड़ी गंभीरता किन्तु रोचकता के साथ उक्त दृष्टिकोण को सामने रखकर अपनी इस पुस्तक में बिल्ली की कहानी लिखी है, जो बालकोपयोगी मनोरंजन के साथ-साथ अनेक उच्च संस्कारों एवं विचारों से भी पूर्ण है। बिल्ली की प्रकृति के साथ बच्चों की बालसुलभ जिज्ञासा एवं कुतूहल-वृत्ति को भी सन्तुष्ट किया गया है। भाषा में इतनी सरसता एवं रोचकता है कि पुस्तक को समाप्त किए बिना वयस्क भी नहीं उठ सकते। यथा प्रसंग दिए गए चित्रों के कारण पुस्तक और भी उपयोगी बन गई है।

**भारत भारती : (गुजराती तथा मराठी)** लेखक––अज्ञात; प्रकाशक––राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा; मूल्य, प्रत्येक का सवा रुपया।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी की सर्वांगीण उन्नति एवं विकास के प्रयत्नों में देश की इतर भाषाओं के सहयोग की नितान्त आवश्यकता है और इस दृष्टि से हिन्दी के जाननेवालों को अन्य भाषाओं से घनिष्ठ सम्पर्क रखना स्वाभाविक है। इन दोनों पुस्तकों में नागरी लिपि द्वारा गुजराती एवं मराठी सीखने की सुगम विधियां बताई गई हैं और प्रयत्न यह किया गया है कि इस एक ही पुस्तक के सम्यक् अध्ययन से बोलचाल के योग्य शब्दावली अधिगत हो जाय। पुस्तक के अन्त में नागरी तथा मराठी की वर्णमाला भी दे दी गई है, जिससे लिपि सीखनेवालों को भी लाभ पहुँच सके।

—रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

**भग्न मन्दिर :** लेखक—श्री अनन्त गोपाल शेवड़े; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, पांच रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री अनन्तगोपाल शेवड़े का नवीनतम उपन्यास है। स्वतंत्रता के उपरान्त भारत की बदलती हुई पृष्ठभूमि को लेकर लेखक ने इस उपन्यास की रचना की है। यह उपन्यास 'हमारे आदर्शों और मूल्यों के संघर्ष का हमारी प्रगति और पथभ्रष्टता का, उत्थान और स्वप्नभंगों का, सत्ता की विकृतियों का तथा सत्य की दुर्दशा का अत्यन्त सजीव और रोचक चित्रण प्रस्तुत करता है जो यथार्थ है और प्रभावोत्पादक भी।'

धनंजय तथा उसकी पत्नी गीता मुख्य पात्र हैं। ये अपनी परिस्थितियों से संतुष्ट हैं। इनकी ईमानदारी ही इनके जीवन का सर्वस्व है। यह पढ़ने से ही मालूम होता है कि इन्हें सत्य से हटाने के लिए कितने प्रलोभन दिए गए। धनंजय के सत्य, त्याग एवं व्यवहार से कोई भी प्रभावित हो सकता है। 'दुनिया के छल-छद्म मानों उसे स्पर्श ही नहीं कर गए. . . .मित्रों का सच्चा मित्र था पर शत्रुओं का सच्चा शत्रु नहीं था क्योंकि वह शत्रु व्यक्तियों का नहीं सिद्धान्तों का हो जाता था।' वह एक सुयोग्य संपादक था। आज की परिस्थितियों एवं विचारों को लेकर एक व्यंग्यात्मक उपन्यास प्रस्तुत किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने पात्रों के चरित्र को कहीं बढ़ा चढ़ा कर लिखा है और अतिशयोक्ति सा प्रतीत होने लगता है। भाषा सरल, स्पष्ट एवं सुगठित है। उपन्यास की शैली इतनी रोचक है कि पाठक प्रारम्भ करने के पश्चात जब तक समाप्त नहीं कर लेता तब तक विश्राम नहीं लेता है !

**रामेश्वर शुक्ल 'अंचल':** लेखक—डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, दो रुपए।

श्री कमलेश ने आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि 'अंचल' की श्रेष्ठ कविताओं का संग्रह करके प्रारम्भ में २१ पृष्ठ की भूमिका लिखी है। अंचल जी कवि के अतिरिक्त एक कुशल उपन्यासकार भी हैं। अंचल जी एक प्रगतिशील कवि हैं। इनकी आज की कविताओं में दार्शनिकता की पुट है। यहाँ तक पहुँचने के लिए इन्हें संघर्ष करना पड़ा है। कल्पना से वे अनुभूति की ओर मुड़े हैं। हिन्दी कविता को छायावाद के वायवी वातावरण से उबारकर उसमें यथार्थ की प्रतिष्ठा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करने में उन्होंने सक्रिय योग दिया है। इसीलिए श्री नन्ददुलारे बाजपेयी कहते हैं—"अंचल मुख्यतः विनष्ट सौन्दर्य की विषण्ण स्मृतियों का गायक है। उनका समस्तकाव्य विरह की आरती सजाने में समाप्त हो गया है। इनकी रचनाओं में आज भी इनका प्रारम्भिक अल्हड़पन झांकता है। लेखक कवि के जीवन की भावभंगिमाओं से परिचित है, अतएव इनके काव्य की आत्मा का सूक्ष्म निरीक्षण किया है!" संक्षेप में अंचल जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय इस पुस्तक से मिल जाता है। अच्छा यह होता कि प्रत्येक कविता के नीचे उस पुस्तक का नाम तथा रचना-काल लिखा होता तो पाठकों को उनके क्रमानुगत साहित्यिक विकास के जानने में सरलता होती। पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

**धरती और आसमान :** लेखक—आचार्य चतुरसेन शास्त्री; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, चार रुपये!

आचार्य चतुरसेन शास्त्री हिन्दी कहानी लेखकों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इन्होंने लगभग साढ़े चार सौ कहानियां लिखी हैं। यह मुं० प्रेमचन्द के समकालीन थे। प्रस्तुत पुस्तक इनकी बीस कहानियों का संग्रह है। पुस्तक का नाम एक कहानी का शीर्षक है। इनका सम्पूर्ण कहानी साहित्य एक पुस्तकमाला के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इस माला का यह तीसरा खंड है। इन्होंने विभिन्न विषयों पर कहानियां लिखी हैं। विषय की दृष्टि से प्रस्तुत खंड की कहानियों को निम्नलिखित ढंग से विभाजित किया जा सकता है—मुगलकालीन—पानवाली, वुलवुलहजार दास्ताँ, फूलवालों की सैल; बौद्धकालीन—अम्बपालिका, क्रीता, प्रतिदान सामाजिक—द्वन्द्व, पत्थर में अंकुर, विश्वास पर विश्वास; राजनीतिक—सफेद कौआ, लम्बग्रीव, मुखबिर; राजपूती—मुहब्बत, अकस्मात, ठकुरानी; प्रेमप्रधान—फिर, प्रणयवध, टार्चलाइट; भाव प्रधान—धरती और आसमान, नहीं।

कहानियां बड़ी रोचक, मार्मिक एवं तथ्यपूर्ण हैं। धरती और आसमान में यह दिखाया गया है कि कलाकार एक असफल गृहस्थ होता है। 'नहीं' शीर्षक कहानी में न तो कथानक है और न तो चरित्रचित्रण, केवल भाव हैं। कहानी लिखने का शास्त्री जी का यह नया प्रयोग है। पानवाली लेखक की प्रसिद्ध कहानी है। इसी प्रकार इनकी सभी कहानियां किसी न किसी तथ्य का विश्लेषण करती हैं। संग्रह पढ़ने योग्य है। निस्सन्देह यह कहानीसंग्रह पाठकों तथा आलोचकों दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा!

**आवरण :** लेखक—वनफूल; अनुवादिका—माया गुप्त; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, तीन रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक बंगला के प्रसिद्ध साहित्यकार 'वनफूल' के 'निर्मोक' उपन्यास का हिन्दी अनुवाद है। इसमें एक देहाती नवयुवक का वर्णन है। वह एक शिफारिस के कारण एम० बी० बी० एस० का छात्र बन जाता है और डाक्टर बनकर जीवन यापन करता है। वह बड़े परिश्रम से समाज की सेवा करता है। किन किन कठिनाइयों को पार करके वह समाज का आदर-



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



णीय पात्र बन जाता है, यह पढ़ने से ही मालूम पड़ता है। अनुवाद भी सफलतापूर्वक किया गया है। आशा है पाठकों का मनोरंजन इस पुस्तक से अवश्य होगा।

**—कृष्णनारायण लाल एम० ए०**

**प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियाँ :** संपादक—सर्वश्री श्रीकृष्ण, मनमोहन, सरल अरुण; प्रकाशक—आत्माराम एंड संस; कशमीरी गेट, दिल्ली—६; मूल्य, आठ रुपये।

प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियां २९ ऐतिहासिक कहानियों का संग्रह है जो शिल्प की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि का है। ऐतिहासिक होते हुए भी इन कहानियों में मानवीय भावनाओं का सफलतापूर्वक चित्रण किया गया है, जिसका पाठक पर अमिट प्रभाव पड़ता है। इसमें हिन्दी क्षेत्र के श्रेष्ठ कथाकारों की कथाओं का संग्रह है तथा भारतीय इतिहास के विभिन्न पृष्ठों के संस्मरण हैं जिनको लेखकों के कला-सौष्ठव तथा उनकी कल्पना ने अपने पाठकों के लिए भाँति भाँति से सजा संवार कर प्रस्तुत किया है। ये कहानियाँ मनोरंजक तथा प्रेरणात्मक होने के साथ साथ ज्ञानवर्धक भी हैं। आदशों का समाजीकरण किया गया है जो सहज-ग्राह्य है। इनमें चिर परिचित घटनायें भी एक नवीनरूप से प्रस्तुत की गई हैं। चरित्र-चित्रण बहुत सफल है। हर काल का चित्रण बहुत मनोवैज्ञानिक हुआ है। कथोपकथन तथा भाषा आदि सभी को कथातत्वों में समुचित स्थान मिला है। श्री चंद्रकिरण सौनरिक्सा की 'कल्याणि' यादवेन्द्र की 'मंगल मुखी' महापंडित राहुल सांकृत्यायन की 'प्रभा' की रांगेय राघव की 'देवदासी', श्री वृन्दावनलाल वर्मा का 'मां के आंसू', श्री शंकर प्रणतांबेकर की 'सुजाता' श्री शैलेश मटियानी की 'तथ्य और सत्य' आदि कहानियां बड़ी सुन्दर और हृदय पर प्रभाव डालने वाली हैं। लगभग सभी कहानियों की भाषा का स्तर एक समान है। अन्य ऐतिहासिक कहानियों की भाँति केवल तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर ही प्रस्तुत नहीं किया गया अपितु उनके साहित्यिक, सांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक सभी पक्षों को उभारा है, जिससे पाठक को सभी कुछ मिल जाता है। 'दूसरा एकलव्य' कहानी में महाभारतकालीन एक आख्यान को अनन्त जी ने सामाजिक तथा मानवीय रूप दिया है साथ ही मानवीय दुर्वलताओं को मनोवैज्ञानिक मोड़ देकर इसको जीवन की घटना बना दी है, जिसके नीचे उसकी अलौकिकता दब गई है। कहानियों का साधारणीकरण ही इन कहानियों का सबसे महत्वपूर्ण रूप है।

**तेलुगु की उत्कृष्ट कहानियाँ :** अनुवादक—श्री बालशौरी रेड्डी, प्रकाशक—राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दीनगर, वर्धा; मूल्य, २-५० नए पैसे।

यह संग्रह १७ तेलुगु कहानियों का हिन्दी रूपान्तर है। संग्रह में तेलुगु के सभी लब्ध-प्रतिष्ठित लेखकों की कहानियां हैं। इनमें भारतीय संस्कृति का आदर्श दिखलाया गया है। श्री टी० गोपीचन्द की 'ममता' कहानी बहुत मार्मिक है जिसमें धरती का मोह ही ममता की चरमसीमा है—उसी के साथ नायक प्राण छोड़ता है। अधिकांश कहानियों में नारी का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण है। सुंदर त्याग और संघर्ष पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। 'प्रणय-कलह' श्री मुनिकानिक्यम् नरसिंहराव की अपनी मौलिक और अनूठी रचना है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



श्री केसभा की 'मृगजल' कहानी में लेखक ने अस्वाभाविक, अप्राकृतिक जीवन व्यतीत करने की प्रतिक्रियायें दिखायी हैं जिनके कारण मन में ग्रंथि भी पड़ जाती है। 'देवता की मृत्यु' श्री गिडुतूरि सूर्यम् की कहानी में भाई की ममता व त्याग का बहुत सुन्दर आदर्श चित्रण है। श्री गुरजाड अप्पाराव की 'सुधार' कहानी में नाम के अनुरूप ही केवल सुधारवादी दृष्टिकोण है जो बहुत ही पुराने ढंग से लिखी गई है। पुस्तक में अनुवाद का सफल प्रयास है। भाषा सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। सरल समस्याओं का अधिकांश सामाजिक रूप है जो पाठक को चिर-परिचित सा प्रतीत होता है और यही इसको लोकप्रिय बनाने में सहायक हो सकता है।

**--सत्या गुप्ता एम० ए०**

**शाइरी के नये दौर:** (तीसरा दौर) संपादक--श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय; प्रकाशक--भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी; मूल्य, तीन रुपये।

उर्दू शाइरी के प्रामाणिक इतिहास, तुलनात्मक अध्ययन, साहित्यिक विवेचन और आरंभ से अब तक के शाइरों का सर्वश्रेष्ठ कलाम और विस्तृत परिचय देवनागरी में लिपिबद्ध करने का यह पुनीत कार्य उर्दू-प्रेमी और विद्वान् लेखक श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय भारतीय ज्ञानपीठ के माध्यम से पूरा कर रहे हैं। शाइरी के नये दौर ४ खंडों में प्रकाशित हुआ है। उनमें सन् २० से सन् ५९ तक की नवीन शाइरी की विस्तृत विवेचना है। यह तीसरा दौर सामने है। साग़र निज़ामी की ज़िन्दगी, उनकी चुनी हुई कविताओं, उनके शील स्वभाव और राष्ट्रीय विचारधारा-इन सब तस्वीरों का यह एक शानदार एलबम है। इसे तैय्यार करने में गोयलीय जी को जो परिश्रम, अध्ययन और मनन करना पड़ा है वह हर दृष्टि से सफल और सराहनीय है।

प्रस्तुत संकलन से साग़र के हर रूप की, उनकी प्रतिभा के हर पहलू की संक्षिप्त किन्तु सही जानकारी हासिल की जा सकती है। साग़र की शानदार शाइरी और उनकी ४६ साल की ज़िन्दगी की जो झाँकियाँ गोयलीय जी ने इस ग्रंथ में ख़ूबसूरती के साथ संकलित की हैं वे अपने आप में अनूठी हैं। उन्हें पढ़ते हुए पाठक कभी गोयलीय जी को सराहता है, कभी साग़र को। गोयलीय जी की अपनी भाषा है—निरी बोलचाल की, अपनी सुदृढ़ शैली है जो सहज ही मन को लुभा लेती है। साग़र के बारे में जो सामग्री उन्होंने एकत्र की है, उस राष्ट्रीय शाइर को जितने नज़दीक से उन्होंने स्वयं देखा, परखा और समझा है, और उन सब बातों को जितनी सादगी से अंकित कर दिया है, यह उन्हीं का काम था। पुस्तक पठनीय तथा संग्रहनीय है।

**एक लड़की और हज़ार दीवाने** (उपन्यास): लेखक--श्री किशन चन्दर; प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स प्रा० लिमिटेड, राउण्ड बिल्डिंग, बम्बई-२; मूल्य, तीन रुपया।

श्री किशन चन्दर (कृष्णचन्द्र नहीं) उर्दू कथा-साहित्य के उन अग्रणी लेखकों में से एक हैं जिनकी चीजें उर्दू के बाहर भी बड़े चाव के साथ पढ़ी और सराही जाती हैं। 'एक लड़की और हज़ार दीवाने' उनका एक ऐसा ही उपन्यास है जिसकी नायिका 'लायी' एक खनाबदोश लड़की है। वह अल्हड़ और जवान है। क़दम क़दम पर उसे अपने घृणित समाज की कुरीतियों और



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लाचारियों से जूझना पड़ता है। वह बहादुर और साहसी है तथा ऐसी धातु की बनी मालूम पड़ती है जो टूट भले जाय, मगर विपत्तियों और लाचारियों के आगे घुटना नहीं टेकती। कुछ समय बाद उपन्यास का नायक सामने आता है गुल। यह पठान का बेटा है। बड़ा स्वाभिमानी। दोनों में सहज ही प्रेम हो जाता है। उस प्रेम की पवित्रता की रक्षा के लिए दोनों बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार रहते हैं। लायी आवेश में एक क़त्ल कर देती है। उसे जेल हो जाता है। चीफ़ जेलर खूबचन्द एक कुशल चित्रकार है। वह समय निकाल कर उसका चित्र बनाता है और इस तरह कथा आगे बढ़ती है। अंत में, चेचक के प्रकोप से लायी कुरूप हो जाती है और तब एक एक करके उसके सभी प्रेमी, प्रशंसक अपने आप उससे दूर हो जाते हैं। यहां तक कि गुल भी—जो उसे जी-जान से चाहता था—वह भी भाग खड़ा होता है और उस अभागिन लायी का शेष जीवन भीख मांगते बीत जाता है। खानाबदोश ज़िन्दगी की बड़ी मार्मिक झलक हमें इस पुस्तक में मिलती है।

किशनचन्दर की यह चीज़ काफ़ी तेज़ और ज़ोरदार है। मामूली से मामूली चरित्र भी अपने पूरेपन के साथ उभरते प्रतीत होते हैं। उपन्यास का कथानक बीच में जाकर थोड़ा कमज़ोर पड़ता है लेकिन आरम्भ और अंत बुरा नहीं है। किशनचन्दर की चीज़ों को पढ़ने पर जी को प्रायः जो तसल्ली होती है, कुछ करो और कर गुज़रने की जो क्षमता पैदा होती है, उसका अभाव हमें इस छोटे से उपन्यास में नहीं मिलता। छपाई कागज़ वग़ैरह साधारण तथा पुस्तक का मूल्य आवश्यकता से अधिक है।

—नर्मदेश्वर उपाध्याय

**अमर प्रेम:** मूल लेखक—इर्विंग स्टोन; अनुवादक—श्री आशुतोष; प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; मूल्य, ४ रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक एक अमेरिकन उपन्यास है, और इसकी प्रतिपाद्य कथावस्तु, अब्राहम लिंकन के जीवन से ली गई है। लिंकन का जीवन बचपन से ही कठिनाइयों के बीच बीता था, एक नितान्त साधारण परिवार में जन्म लेकर, अपने अध्यवसाय से वह अमेरिका का राष्ट्रपति बना था, लेकिन अपनी छोटी से छोटी आवश्यकताओं के लिए निरन्तर जूझते रहनेवाले उस महामानव की रूखी सूखी देह में भी एक ऐसा मर्मस्थान था जहां से प्यार की अनिर्वचनीय रसधारा प्रवाहित होती रहती थी। प्रस्तुत पुस्तक में उसी मर्म को प्रधानता देकर यह दिखाने का सफल प्रयास किया गया है कि नारी का त्याग, उसका धैर्य और उसका सहज प्यार पति को कितना ऊंचा उठा सकता है। तत्कालीन अमरीकी राजनीति तथा सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाला यह एक अनुपम कथानक है। अनुवाद की भाषा में प्रवाह और सजीवता है, इससे हिन्दी की अभिवृद्धि में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

**राजतिलक:** लेखक—श्री शिवसागर मिश्र; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; मूल्य, साढे पांच रुपए।

यह एक राजनैतिक उपन्यास है, कथानक आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व के भारत



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की राजनीति को सामने रखकर प्रस्तुत किया गया है, प्रमुख रूप से इसका वर्ण्य विषय तत्कालीन मगध का इतिहास है, औपन्यासिक रूप देने के लिए इसमें अपनी कल्पनाओं का समावेश किया गया है, जो आवश्यक भी हैं। नीरस घटनाओं की सृष्टि करता हुआ इतिहास जीवन के कितने ही आन्तरिक पहलुओं को अछूता छोड़ देता है, उनका उद्घाटन वह भलीभांति नहीं कर पाता है, वहीं उपन्यास अपनी कल्पनाओं का आश्रय ले उन्हें सजीव, सरस, एवं प्रभावोत्पादक बना देता है। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, एवं धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण जितनी रोचक शैली में इस उपन्यास में किया गया है, वैसा एक ही स्थान पर अन्यत्र नहीं मिल सकता है।

राजतिलक का कथानक घटनाओं का आश्रय लेकर द्रुत गति से आगे बढ़ता हुआ दिखाया गया है। इसका प्रत्येक अध्याय एक नई घटना की सृष्टि करता है और उसका प्रारम्भ कुछ इस रीति से किया गया है कि पाठक को किसी षड्यंत्र की आशंका तुरत हो जाएगी। अधिकांश घटनाएं रात्रि के तीसरे पहर या दूसरे पहर से प्रारम्भ की गई हैं और जासूसी या तिलस्मी उपन्यासों की भांति आगे बढ़ती गई हैं, इस शैली का स्वाभाविक दुष्परिणाम होता है, गम्भीरता का अभाव, लेकिन प्रस्तुत उपन्यास में ऐसा नहीं है, प्रारम्भ से ही पाठक के मन में कौतूहल के साथ साथ जिज्ञासा की अतृप्त लालसा उत्पन्न हो जाती है, जो उसे पूरी पुस्तक पढ़ने के लिए विवश कर देती है। बिखरी हुई घटनाओं का एकीकरण जिस खूबी के साथ किया गया है वह मनोहर है, इतिहास के इस धूमिल पृष्ठ को प्रकाश में लाने के लिए लेखक का प्रयास प्रशंसनीय है।

**अछूत प्यारा :** लेखक—मामा वरेरकर; अनुवादक—श्री रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे; प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; मूल्य, चार रुपए।

प्रस्तुत उपन्यास, मराठी के प्रमुख उपन्यासकार मामा वरेरकर की उद्वुद्ध लेखनी से लिखा गया, जातिगत मान्यताओं के ऊपर एक करारा व्यंग्य है। कथावस्तु दो विभिन्न जाति के प्रेमियों की मूल प्रणय कहानी है, और चरित्र-चित्रण इतना मार्मिक और सजीव है कि कल्पना भी यथार्थ हो जाती है। आत्मकथा की शैली में लिखा गया यह उपन्यास अपनी प्रवाहपूर्ण भाषा के कारण और भी मोहक एवं पठनीय हो गया है। सवर्ण बालिका लक्ष्मी की मर्मस्पर्शी करुण कहानी, उसका सात्विक अछूता प्यार और कुनबी की सन्तान नीरू की एकनिष्ठ निष्ठा, कट्टर से कट्टर सवर्ण को कुछ सोचने के लिए विवश कर देगी, यह इस उपन्यास की सबसे बड़ी महत्ता है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रह के योग्य है।

**ध्वस्तनीड :** लेखक—श्रीपाद जोशी; प्रकाशक—विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर; मूल्य, तीन रुपए।

सामाजिक विषमता हमारे देश का एक प्रमुख अभिशाप है, इसे मिटाने के लिए प्रायः सभी प्रमुख मनीषियों ने अपने-अपने ढंग से प्रयास किया है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने इसी समस्या को सामने रखकर अपना सुझाव प्रस्तुत किया है, जो पठनीय एवं मनन के योग्य है। आपसी सौहार्द्र एवं सवर्ण तथा अछूतों में भाई चारे का सम्बन्ध स्थापित कराने की दिशा में यह एक स्तुत्य प्रयत्न है। मूल मराठी पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद इतनी सरल भाषा एवं ऐसी सहज शैली में



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किया गया है कि, एक बार हाथ में लेकर बिना समाप्त किए कोई भी पाठक इसे छोड़ नहीं सकता।

**ठग :** लेखक—श्री रमण लाल वसन्त लाल देसाई; अनुवादक—चन्दूलाल पारीख; प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स प्रा० लि० बम्बई-२; मूल्य दो रुपये।

गुजराती के प्रमुख उपन्यासकार श्री रमण लाल वसन्त लाल देसाई की गणना ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों में शीर्षस्थान पर की जाती है। उनका प्रत्येक उपन्यास उनकी निजी शोध के ऊपर आधारित रहता है तथा इतिहास के कितने ही लुप्तप्राय पृष्ठों को प्रकाश में लाने का श्रेय उन्हें दिया जाता है। प्रस्तुत उपन्यास भी एक ऐसा ही ऐतिहासिक उपन्यास है। अंग्रेजी राज के प्रारम्भिक दिनों में, उनके लिए यहां के ठग एक सिर दर्द हो गए थे। ठगों के मिटाने के लिए उन्हें एड़ी चोटी का पसीना एक करना पड़ा था। सामान्य इतिहास की पुस्तकों में हम ठगों को एक नृशंस, हत्याकारी, क्रूर मानव मानते आए हैं, लेकिन श्री देसाई जी ने अपनी खोज के आधार पर यह सिद्ध किया है कि "ठगों का वह उपद्रव भारतीय जनता के स्वाधीनता आन्दोलनों के, तात्कालिक परिस्थितियों की विशेषता को लिए हुए, एक अभिनन्दनीय प्रयत्न था। विदेशी शासकों के अत्याचरों को मिटाने का व्रत लेकर ही ठग, ठग संगठन का सदस्य बनता था और उनकी चारित्रिक मर्यादा भी उच्चकोटि की थी।" प्रस्तुत उपन्यास जो खास कर किशोर पाठकों के लिए लिखा गया है, अपनी उक्ति मान्यता से आचूड़ निमज्जित है। कथानक की रोमांचक शैली, कौतूहल एवं आगे क्या होगा? की जिज्ञासा से और भी आकर्षक हो गई है, ठगों के समाज में एक ओर जहां आजाद, अथवा खान साहब, जैसी हस्तियां थीं वहीं समर सिंह तथा आयशा जैसी स्वर्गिक मूर्तियां भी थीं जिनकी जीवनगाथा से किसी भी तरुण के अन्दर चारित्रिक निष्ठा, साहस तथा देशभक्ति के भावों का प्रस्फुरण होगा; ऐसी पुस्तकों की आज आवश्यकता है।

**जवानी और छः एकांकी :** लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली—६; मूल्य, २ रु० ५० नए पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री भट्टजी, हिन्दी संसार से अपरिचित नहीं हैं। अब तक उनके कई दर्जन एकांकी नाटक निकल चुके हैं, उक्त एकांकी संग्रह के अतिरिक्त लगभग आधे दर्जन दूसरे भी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वस्तुतः भट्टजी की गणना आज के प्रमुख नाटककारों में है। जवानी के साथ साथ इस एकांकी संग्रह से, धूमशिखा, मनका रहस्य, दुर्गा, वरनिर्वाचन, प्रथम विवाह तथा कुमार संभव, प्रभृति छः और एकांकी संग्रहीत हैं। अभिनय की दृष्टि से प्रायः सभी अभिनेय हैं, और एकांकी के सभी तत्वों का समावेश बड़ी सफलता के साथ उनमें किया गया है। मर्मस्पर्शी कथोपकथन, मानव मन की गूढ़ ग्रन्थियों का उद्घाटन तथा मानसिक आरोहावरोह के सूक्ष्म निदर्शन से ओतप्रोत सभी एकांकी उच्चकोटि के हैं। इस संग्रह के आधे से अधिक एकांकी ऐसे हैं, जन्हें एक ही स्टेज तथा गिने गिनाए पात्रों के द्वारा अभिनीत किया जा सकता है, भट्ट जी का कवि हृदय तथा उनकी प्रसाद-पूर्ण अलंकृत भाषा इन एकांकियों में भी सर्वत्र मिलती है। फलतः उनका उपयोग सामान्य पाठकों के लिए नहीं हो सकता है, अभिनय में



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भी ऐसी भाषा कुछ क्लिष्ट प्रतीत होगी, फिर भी ऐसी प्रांजल, रागसमन्वित भाषा छोटे छोटे वाक्यों के माध्यम से पढ़ने या सुनने में प्रत्येक श्रेणी के पाठक के लिए कर्णप्रिय होगी।

**नवप्रभात :** लेखक---श्री विजयशंकर राय; प्रकाशक---अखिल भारत सर्व सेवा संघ, वाराणसी; मूल्य, एक रुपया।

सर्वोदय, क्या है? उसका अन्तिम लक्ष्य क्या है? और उस लक्ष्य की प्राप्ति के बाद हमारे समाज की क्या स्थिति होगी, किस प्रकार हम वास्तविक ग्राम राज्य की सुखद भूमिका सम्पादित कर सकते हैं! विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डालने वाली उक्त पुस्तक तीन अंकों की एक नाटिका है। इसमें कम से कम तीन दर्जन पुरुष पात्र तथा एक दर्जन से ऊपर स्त्री पात्रों ने अभिनय किया है, तथा भाषा काव्यमयी, नाटकीय तत्वों से रहित साहित्यिक है। नाटक की उपयोगिता, उसके अभिनय में है, अन्यथा वह श्रव्य काव्य या कथोपकथन की शैली में कहा जाने वाला एक सम्वाद ग्रन्थ हो जाता है। प्रस्तुत नाटक की भाषा सर्वत्र एक तरह की है, जैसी भाषा संत करोड़ी मल की है वैसी ही भाषा स्वामी महामूर्खानन्द, ग्रामीण या डाकुओं की भी है, पात्रों की पूरी फौज है, अतः प्रस्तुत रूप में इसे अभिनीत करना दुस्साध्य है, किन्तु उद्देश्य की दृष्टि से उक्त पुस्तक की उपयोगिता में सन्देह नहीं किया जा सकता है।

**क्षितिज :** लेखक---श्री रमणलाल वसन्त लाल देसाई; अनुवादक---श्री श्यामलाल मेढ़; प्रकाशक---वोरा एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड बम्बई-२; मूल्य पांच रुपया।

स्वर्गीय देसाई जी का यह उपन्यास, आर्य एवं नाग संस्कृति के संघर्ष तथा समन्वय की एक पुरातन कहानी है। विभिन्न पुरातत्व सामग्रियों के प्रकाश में यह सिद्ध हो चुका है कि आर्य सभ्यता से पूर्व की भारतीय सभ्यता अति उच्च थी, स्थापत्य एवं ललितकलाओं की धाक सुदूर कास्पियन सागर, मध्य एशिया, ईरान तथा मलया, जावा, सुमात्रा, वाली और बोर्नियो तक फैली हुई थी, यूनान और भारत का सम्बन्ध तो बहुत पुराना नहीं है, प्रत्युत रोमन साम्राज्य लालायित था कि किसी प्रकार वह भारत को अपने अधीन करले, क्षितिज में भारत के उसी युग की झांकी बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है और स्वराष्ट्र की रक्षा के लिए, कितने त्याग, नियंत्रण एवं शौर्य की आवश्यकता है, उसकी उज्वल आभा विकीर्ण की गई है।

रोमन साम्राज्य का सेनापति क्षमा, आर्य तरुण सुबाहु और सुकेतु तथा नागों की अधिष्ठात्री उलूपी एवं उसके सेनापति उत्तुंग के माध्यम से लेखक ने इन विभिन्न संस्कृतियों का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है, और यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय संस्कृति उच्छृङ्खल भोग में नहीं प्रत्युत नियंत्रित विलास में है। विषकन्या एवं रसायनिक बौद्धतांत्रिक की अवतारणा से प्रस्तुत पुस्तक का रोमांचक रहस्य अन्त तक जिज्ञासा को अतृप्त बनाए रखता है, इससे कथा की रोचकता कितनी बढ़ गई है, यह तो पढ़ने के बाद भी बताना कठिन है। प्रकाशक ने गुजराती के ऐसे कितने ही उपन्यासों को हिन्दी में देकर हिन्दी के पाठकों का कल्याण किया है, वह प्रशंसनीय हैं।

**बिना बुलाए पंच :** लेखक---श्री देवराज दिनेश; प्रकाशक---आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६; मूल्य, तीन रुपये।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


प्रस्तुत पुस्तक हास्य-व्यंग्य के तेरह एकांकियों का संग्रह है, सभी एकांकी अभिनय के योग्य सुरुचि सम्पन्न एवं तीखे व्यंग्य समन्वित हैं, इनके पात्र इसी दुनियां से, अपने आसपास टहलने वाले भले मानुषों में से लिए गए हैं। इस संग्रह के प्रायः सभी एकांकी-सामाजिक हैं और सभी सामयिक हैं, आजका युग कितनी तेजी से बदलता जा रहा है, किस प्रकार बुद्धि की होड़ में व्यक्ति अपने को दूसरों से आगे समझने लगा है, और आडम्बर की भूमिका को ही वह वास्तविक बनाने का प्रयत्न कर रहा है, इन सभी समस्याओं पर लेखक ने अपनी नुकीली कलम से तीखा व्यंग्य किया है। इन एकांकियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पात्र, भाषा, साज-सज्जा एवं रंगमंच, सभी दृष्टियों से इनका अभिनय सुगमता से किया जा सकता है, एकांकी नाटक के सभी तत्वों का निर्वाह प्रशंसनीय है।

**—रामकीर्ति द्विवेदी**

**आदिम मानव समाज :** लेखक—श्री भूपेन्द्रनाथ सान्याल; प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; मूल्य चार रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक 'अमृत पत्रिका' के काफी समय तक सहायक सम्पादक रह चुके हैं। इनकी लिखी हुई 'मार्क्सवादी दर्शन' पुस्तक साहित्य सम्मेलन द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है। यह पुस्तक भी जिस उद्देश्य को लेकर लिखी गई है उसकी पुष्टि करती है। प्रागैतिहासिक मानव संस्कृति का उत्तरोत्तर लाखों वर्षों तक कैसे विकास हुआ इस पुस्तक का विषय है। आधुनिक सभ्यता में भी प्राचीन रीति-रिवाजों की छाप वर्तमान है। सामाजिक, कलात्मक एवं सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में आदिम मानव समाज का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। आदिम जाति के लोग हमारे समाज के अंग हैं। इनके विषय में जानकारी करना हमारा मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिए क्योंकि उत्पादन प्रथा और समाज संगठन का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव हम कह सकते हैं कि यह पुस्तक आदिम मानव समाज और संस्कृति का एक संक्षिप्त परन्तु सुसंबद्ध इतिहास है। आज के आदिम समाज के अध्ययन से, विशेषकर उनमें प्रचलित लोक-कथाओं के द्वारा उनके आदिम पुरखों के संबंध में हमें बहुत कुछ जानकारी मिल जाती है। आदिम समाज के लोग किस प्रकार जीवन निर्वाह करते हैं, उनकी विवाह-प्रथा, उनमें प्रचलित रीति-रिवाज आदि पर विस्तारपूर्वक इसमें प्रकाश डाला गया है। आवरण पृष्ठ पर ऊपर का चित्र 'बाइसन' (भैंस जाति) का है। यह चित्र आदिम कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। पुस्तक की छपाई आदि अत्यन्त आकर्षक है। यदि इस पुस्तक में आदिम जातियों के चित्र होते तो यह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती, यद्यपि पाठक इससे लाभान्वित होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

**तीर्थ-यात्रा :** लेखक—सुदर्शन; प्रकाशक—बोरा एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, ३ राउन्ड बिल्डिंग, कालबा देवी रोड, बम्बई २; मूल्य

इस पुस्तक में सुदर्शन जी की पन्द्रह मौलिक कहानियां संग्रहीत हैं जिनमें प्रसाद, गांभीर्य एवं मन के भाव कूट-कूट कर भरे हुए हैं। यह कहानी संग्रह सिद्धहस्त कथाकार सुदर्शन जी की कला का अप्रतिम प्रतीक है। इनकी कहानियाँ ऊंची कक्षाओं के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित की गई हैं



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अतएव इस संग्रह की प्रायः सभी कहानियां पढ़ी हुई हैं। कहानियाँ सामाजिक एवं रोचक हैं। यह मुंशी प्रेमचन्द के साथी लेखकों में से हैं और इनकी ख्याति भी उन्हीं के समान है।

सरलता, शुद्धता एवं स्पष्टता इनकी भाषा की देन है। प्रवाहपूर्ण शैली में छोटे भावों को भी व्यक्त करने की इनकी विशेषता है। एक बार पढ़ने पर भी इनकी कहानियों को बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है। पुस्तक का पांचवां संस्करण होना ही इस बात का द्योतक है कि प्रस्तुत पुस्तक का काफी प्रचार हुआ है।

**मुक्तिदूत :** लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली—६; मूल्य, दो रुपये।

भट्ट जी हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककारों में से हैं। यह पुस्तक पहिले मुक्ति पथ के नाम से प्रकाशित हुई थी लेकिन लेखक ने अब इसका नया नाम 'मुक्तिदूत' रखना उचित समझा। नाटक गौतम बुद्ध के विषय में लिखा गया है और उन्हें मुक्तिदूत कहना युक्तिसंगत ही है। तीन अंकों का यह नाटक रंगमंच के योग्य है ! यद्यपि पात्रों की संख्या अधिक अवश्य है, फिर भी कुछ पात्र परिचित से हैं। नाटक का कथोपकथन मार्मिक, सरल एवं छोटे हैं। नाटकीय टेकनीक का पूर्ण निर्वाह किया गया है। भाषा भी साधारण बोलचाल की है। प्रसाद के नाटकों की भाषा की भांति क्लिष्ट नहीं है ! इस प्रकार के नाटकों के अभिनय से अहिंसा, दया एवं क्षमता का प्रचार हो सकता है !

**तीन तिलंगे :** मूल लेखक—अलेक्जेंडर ड्यूमा; रूपान्तरकार—श्रीकान्त व्यास; प्रकाशक—शिक्षा भारती, दिल्ली; मूल्य, एक रुपया पचास नए पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक बालकों के लिए लिखी गई है। फ़्रांसीसी साहित्य का ड्यूमा एक प्रसिद्ध उपन्यासकार एवं कहानीकार है। इसकी इस पुस्तक का संसार की लगभग सभी भाषाओं में अनुवाद हुआ है। यह उपन्यास अत्यन्त रोचक है क्योंकि लेखक का एकमात्र उद्देश्य मनोरंजन करना था। 'तीन तिलंगे' ड्यूमा का प्रथम ऐतिहासिक एवं प्रेमपूर्ण उपन्यास है। इनके लिखने की शैली प्रभावपूर्ण एवं आकर्षक है। लेखक ने तथ्यों का विश्लेषण इस ढंग से किया है कि पाठक का जी नहीं ऊबता और वह जब तक पुस्तक समाप्त नहीं कर देता, तब तक विश्राम नहीं लेता। बच्चों की पुस्तक के लिए लेखक में इस विशेष गुण का होना आवश्यक है। निसन्देह 'तीन तिलंगे' बच्चों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। अनुवादकर्ता ने सरल एवं सुबोध भाषा का प्रयोग किया है।

**फूलदान :** लेखक—श्री कृष्णचन्द्र; प्रकाशक—बोरा एण्ड कम्पनी, ३ राउन्ड बिल्डिंग, कालबा देवी रोड, बम्बई—२; मूल्य, तीन रुपये।

फूलदान कृष्णचन्द्र की बारह नवीनतम कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों में लेखक ने व्यंगपूर्ण शैली में सामाजिक बुराइयों को सामने लाने का सफल प्रयास किया है। 'इनमें जहां आज के समाज में व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार का घोरतम रूप दिग्दर्शित हुआ है वहां पूंजीप्रधान युग में दबी और कराहती हुई मानवता की वास्तविक स्थिति को भी स्थापित किया गया है।' यद्यपि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कहानियों में एक ही सत्य एवं तथ्य का समावेश किया गया है, फिर भी इनकी शैली-शिल्प भिन्न हैं। इन कहानियों में मिलेगा 'मानवी सद्गुणों का गौरवान्वय, मनुष्य की महिमा को क्षतिग्रस्त करने वाली प्रवृतियों पर प्रहार, युद्धोन्माद की भर्त्सना एवं विश्वशान्ति के लिए मानव सुलभ ललक एवं तड़प'।

'बापू ! तेरे नाम पर' कहानी में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि लोग अपने स्वार्थ के लिए अच्छी वस्तु का भी दुरुपयोग कर सकते हैं। समाज के नैतिक पतन का क्या इससे भी वीभत्स रूप हो सकता है ? प्रकाशक का कहना ठीक ही है कि "कहानी के कला-पक्ष को जरा-सी भी क्षति पहुँचाए बिना आज के व्यापक भ्रष्टाचार और दुराचार का जिस प्रकार लेखक ने भंडाफोड़ किया है वह आज की कहानी में अन्यत्र दुर्लभ ही है। कहानियाँ पाठकों के रस-बोध का परिष्कार करने के साथ ही साथ अच्छे और सुखी समाज के निर्माण के प्रयत्नों में एक आयुध का काम भी देंगी।"

'रोगी बाप', 'फूलदान', 'जहां हवा न थी' आदि कहानियां हमारे जीवन के गन्दे तथ्यों को उभाड़ने में सहायता देती हैं। इस प्रकार की व्यंग्यात्मक कहानियों से समाज का रूप निखरेगा ही, इसमें सन्देह नहीं। सभी कहानियाँ पढ़ने योग्य हैं।

**--सत्यार्थी एम० ए०**

**कबूतरखाना** : लेखक—श्री शैलेश मटियानी; प्रकाशक—आतमाराम एण्ड सन्स दिल्ली; मूल्य २, रुपया ५० नये पैसे।

कबूतरखाना—विशाल बम्बई नगरी में एक क्षेत्र के उस वर्ग की कथा है जो वैभव-विलास की छाँह में रहते हुए दवा रहता है, उभर नहीं पाता है, उसाँसें भरता है फिर भी ज़िन्दा रहता है, कार्यरत रहता है। शैलेश मटियानी हिन्दी के कथाक्षेत्र में नया स्वर, नया साज और नया शिल्प लेकर उतरे हैं। उनके लिखने और सोचने का ढंग निराला है, वह कल्पना के पंख फड़फड़ाने के बजाय यथार्थ की भूमि पर घटनाओं और अनुभूतियों को आत्मसात करते हुए सजग रूप से चलते हैं। कबूतरखाना के पात्रों का रहन-सहन, स्वभाव यद्यपि कबूतरों जैसा ही है किन्तु कथाकार के शिल्प और उसकी संवेदना ने उन्हें वह जीवनी-शक्ति प्रदान की है, जो किसी भी समय बिल्ली और बाज़ को अपने पंजों में दबोच सकने की शक्ति रखते हैं। प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास जिस वर्ग का चित्र हमारे सामने रखता है वह सजीव एवं यथार्थ होने के साथ ही हमें सोचने, समझने की प्रेरणा देता है। भाषा स्वाभाविक और सुघर है, कथानक संस्मरणात्मक होते हुए भी औपन्यासिक ओज और तत्त्व से भरपूर है।

**कल्याणी :** (उपन्यास) लेखक—श्री जैनेन्द्र कुमार; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य, १०० नये पैसे।

कल्याणी भारतीय नारी की एक ऐसी जीवन्त प्रतिमा है, जिसमें नारीत्व का अहं और समर्पण दोनों समान भाव से प्रेम, त्याग और विद्रोह के मर्मस्पर्शी विन्दुओं का संस्पर्श करते हुए नारीत्व की मर्यादा और उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा में निरत हैं। जैनेन्द्र जी अपने कथा-शिल्प और अनुभूति को कहानी या उपन्यास के धरातल में जब उतारते हैं तो उनके पात्र परंपरागत आदर्शों



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और मान्यताओं की विश्वास भूमि पर इस प्रकार गतिशील होते हैं कि कथा जाह्नवी का अविरल प्रवाह बन कर पाठकों और आलोचकों को स्नात परिपूत बना देती है। कल्याणी ऐसी ही उदात्त रचना है जिसमें नारी जीवन के आक्रोश और विद्रोह में उसका निखरा हुआ सांस्कृतिक सौन्दर्य, आदर्श और परंपरा की न टूटने वाली श्रृंखला और मानवता का सन्देश देने वाली समर्पण भावना है।

**यशपाल की श्रेष्ठ कहानियाँ** : लेखक––श्री यशपाल; प्रकाशक––राजकमल प्रकाशन दिल्ली; मूल्य १०० नये पैसे।

एक सार्थक उद्देश्य और यथार्थ की पृष्ठभूमि पर लिखित यशपाल जी की ये कहानियां इसलिए उनकी अन्य कहानियों से श्रेष्ठ हैं कि इनमें जिन्दगी को हर पहलू से देखा गया है। शिव, और अशिव पक्ष का नीर क्षीर-विवेक किया गया है। हर कहानी में एक ऐसी कसमसाहट मिलती है जो पाठक या आलोचक को झकझोर देने में समर्थ है। कहानी पढ़ते समय कल्पना लोक से उतर कर पाठक को यथार्थ की अनुभूति होती है। वह हर कहानी से 'जियो और जीने दो' का सन्देश पाता है।

**बुक्का राय : (ऐतिहासिक उपन्यास)** लेखक––श्री गुणवंतराय आचार्य; अनुवादक––श्री श्यामू संन्यासी; प्रकाशक––वोरा एण्ड कम्पनी, बम्बई; मूल्य ५ रुपये ५० नये पैसे।

वोरा एण्ड कम्पनी धूमकेतु एवं गुणवंतराय आचार्य जैसे यशःप्राप्त लेखकों के गुजराती भाषा के ऐतिहासिक उपन्यासों को हिन्दी में अनूदित करा कर हिन्दी साहित्य और हिन्दी के पाठकों का महान् उपकार कर रही है। धूमकेतु की मौर्यकालीन, गुप्तकालीन, अन्धकार युगीन उपन्यासमाला के साथ ही गुणवंतराय के मध्यकालीन विजयनगर-राज्य उपन्यासमाला का प्रकाशन लोकोत्तर रुचिवर्द्धक सिद्ध हो रहा है। विजयनगर-राज्य उपन्यासमाला के अन्तर्गत इससे पूर्व राय हरिहर, कृष्णाजी नायक, रायरेखा तीन ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जो बहुत ही लोकप्रियता सिद्ध हुए हैं। यह चौथा उपन्यास बुक्काराय उसी सिरीज़-क्रम से संबंधित है। दक्षिण में राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की प्रेरणा का बीजारोपण जिस 'रायरेखा' की स्थापना से किया गया था उसी रायरेखा का प्रथम रायराया बुक्काराय था। बुक्काराय का चरित इस उपन्यास में मध्यकालीन स्वाधीनता की एक अँगड़ाई के रूप में चित्रित किया है जिसमें उत्साह, शक्ति, त्याग भावना, राष्ट्रीयता और देश-सेवा के प्रति अम्लान निष्ठा झलकती है। साथ ही सुलतान मुहम्मद तुगलक के वहशीपन, सनकीपन की घटनाओं का इतिहास सम्मत चित्रांकन है। स्वाधीनता के लिए उतावली मेहर सुलताना, मंदांगी जैसे स्त्री पात्र एवं बलदेव सोलंकी, योगिराज सिंगी जैसे पुरुष पात्र इस उपन्यास के नायक बुक्काराय के लिए चतुर्वर्ग बन कर पाठकों से भी आत्मीय संबंध जोड़ते हैं।

**प्यार और पैसा (उपन्यास)** : लेखक––श्री राजाराम शास्त्री; प्रकाशक––आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य तीन रुपये।

प्यार और पैसा में जहां पैसों के बल पर प्यार खरीदने की असफल चेष्टा है वहीं पर पैसे के लिए धनवान सेठ और उसकी पत्नी अपने स्वर्गीय छोटे भाई की गर्भवती विधवा पत्नी पर झूठे



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


प्यार का आवरण डाल कर उसकी सारी संपत्ति आत्मसात् करने का षड्यंत्र रच रहे हैं। आखिर वह दिन भी आया जब छोटे भाई की विधवा ने अस्पताल में बच्चे को जन्म दिया और बड़ा भाई साज़िश द्वारा अपनी नौकरानी से उस बच्चे को चुरवा लेता है। भारी रकम पुरस्कार में पाकर नौकरानी उस नवजात शिशु को यमुना में फेंकने लगती है तो लड़के का मासूम चेहरा, उसकी मासूम चितवन देख कर उसका इरादा बदल जाता है और वह लौटकर अपनी एक निःसंतान सहेली नौकरानी को बच्चा दे देती है और सेठ से बच्चे को यमुना में फेंक आने का समाचार बतला देती है।

सेठ का लड़का राजेन्द्र भी उसी उम्र का था, उसके भाई का अपहृत बालक केशव भी अपनी मां की गोद में चढ़ कर अपनी उस असली मां के घर जाता जो अपने भतीजे राजेन्द्र के पालन-पोषण के लिए केशव की नौकरानी मां को नौकर रखे हुए थी। राजेन्द्र और केशव पढ़ते हैं, एक लक्ष्मी का लाड़ला बन कर और एक सर्वहारा बन कर। केशव नौकरानी का लड़का कहलाते हुए भी स्नातक परीक्षा में सर्वश्रेष्ठ रहा। राजेन्द्र घिसट-घिसटा कर पास हुआ। केशव को रीता नाम की एक विधवा सेठानी की लड़की प्यार करती थी, किन्तु उसकी सगाई राजेन्द्र से कर दी गई थी जिससे रीता घृणा करती थी। यहाँ से प्यार और पैसे का संघर्ष छिड़ जाता है। पैसे के बल पर रीता को अपनी बनाने की अनेक कुचेष्टाएँ की जाती हैं अन्त में प्यार की जीत होती है। रीता केशव को ब्याह दी जाती है और इसी समय उस रहस्य का भंडाफोड़ भी हो जाता है जो पैदा होने के कुछ ही दिन बाद केशव के ताऊ, ताई के षड़यंत्र से उनकी नौकरानी रामप्यारी उसे चुरा ले गई थी। पुलीस उन तीनों पर मुकद्दमा चलाकर जेल भेजती है और केशव रीता, प्यार की जीत लेकर अपना नया संसार बसाते हैं।

इस उपन्यास की कथा के आधार पर तस्वीरिस्तान 'सफ़ेद खून' नाम से फिल्म निर्माण कर रहा है। भाषा-शैली में प्रवाह है, कथानक में आकर्षण और कुतूहल है। घटनाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। यह उपन्यास सामाजिक जीवन का एक ऐसा चित्रण है जो संभावनाओं से परे नहीं कहा जा सकता है।

**--देवदत्त शास्त्री**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# संपादकीय

## उत्तर-प्रदेश शासन और उर्दू

अभी कुछ ही दिन हुए हैं, उत्तर प्रदेश शासन ने आचार्य कृपलानी की अध्यक्षता में एक भाषा समिति की स्थापना की है, जिसका उद्देश्य उर्दू भाषियों की शिकायतों को दूर कर उन्हें सुविधा पहुंचाने की योजना प्रस्तुत करना है। यद्यपि इस समिति का ऐसा नामकरण किया गया है, जिससे सर्वसाधारण को यही जानकारी हो कि इसका उद्देश्य कुछ व्यापक है। तथापि यह समिति उन उर्दू के हिमायतियों के सन्तोषार्थ बनाई गई है, जो आज भी उर्दू को एक अलग भाषा के रूप में मानते हैं और उसको उत्तर प्रदेश की क्षेत्रीय भाषा अथवा इलाक़ाई जबान मनवाने के प्रयत्नों में पिछले एक-डेढ़ दशक से ऐंड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं। यह वही लोग हैं, जिन्होंने कई वर्ष पूर्व इसी दूषित उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रपति के सम्मुख लाखों व्यक्तियों के तथाकथित हस्ताक्षर भेजने का आन्दोलन चलाया था अथवा अंजुमन तरक्किए उर्दू, दीनी तालीमी कानफ्रेंस और मुसलिम कन्वेंशन आदि के मंचों से अपनी इस मांग को बराबर प्रस्तुत करते आ रहे हैं। और अब चूंकि तृतीय सार्वजनिक निर्वाचन अत्यन्त समीप आ गया है अतः हमारी भविष्य-चेता सरकार ने भी उनकी सन्तुष्टि एवं कृपा प्राप्त करने के लिए इस समिति का निर्माण कर दिया है।

इस समिति में कौन कौन लोग हैं, इसके बारे में हमें कुछ भी कहना नहीं है। उनमें से अधिकांश हमारे देश की उज्ज्वल प्रतिभा हैं, किन्तु इसमें बहुमत ऐसे ही लोगों का है जिनकी भाषा सम्बन्धी नीति उक्त दुराग्रह से अछूती नहीं बची है अथवा जो यह चाहते हैं कि वह मूल प्रवृत्ति, जिसने हमारी राष्ट्रभूमि को दो खण्डों में विभाजित करा दिया है, अनवरत रूप से क्रियाशील रहे और अलग भाषा के साथ अलग संस्कृति और अलग शिक्षा की मांग हमारे देश में भी होती रहे।

अल्पसंख्यकों की भाषा समस्या पर विचार करने वाली इस तथाकथित समिति की बड़ी तीव्र एवं सामयिक आलोचना करते हुए उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द जी ने जो कुछ कहा है, उन तथ्यों पर विचार करना प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी का पावन कर्त्तव्य है। उन्होंने तीव्र स्वर में इस समिति की अनावश्यकता की चर्चा करते हुए यह आशंका भी प्रकट की है कि इसके द्वारा आगे चल कर आसाम राज्य की भांति भाषा के प्रश्न पर गृह-कलह होने की संभावना है। उन्होंने यह भी कहा है कि उत्तर प्रदेश राज्य में उर्दू भाषा-भाषियों को 'अल्पसंख्यक' की संज्ञा देना एकदम गलत होगा और यदि यह प्रवृत्ति जारी रही तो इस प्रदेश में भी द्विभाषी अथवा त्रिभाषी राज्य बनने की समस्या उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी। डा० सम्पूर्णानन्द जी के इस कथन का उत्तर राज्य सरकार की ओर से अभी कुछ दिन हुए दिया गया है। वह उत्तर भी हमारे सामने है जिसे देखने से



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



स्पष्ट हो जाता है कि राज्य सरकार ने इस समिति की स्थापना में जो सामयिकता अथवा राजनीतिज्ञता प्रदर्शित की है, वह सर्वसाधारण जनता से भले ही छिपी रह जाये, किन्तु डा० सम्पूर्णानन्द अथवा उनके जैसे सहज राष्ट्रप्रेमी जनों को या देशव्यापी हिन्दी हितैषियों को भ्रम में नहीं डाला जा सकता। डा० सम्पूर्णानन्द की आशंका निराधार नहीं है। अतएव राज्य की जनता को इस खतरे की ओर से सतर्क रहना उचित होगा। पिछले दिनों इस समिति की ओर से जो प्रश्नावली वितरित की गई है, वह एकदम विचित्र तथा अनावश्यक है। इस प्रश्नावली में ऐसा एक भी प्रश्न नहीं है, जिसका कोई उत्तर दिया जा सके। उदाहरण के लिए उन तथाकथित अल्पसंख्यकों की शिक्षा के सम्बन्ध में एक प्रश्न इस प्रकार से है—

"१—ऐसे बच्चों को, जिनकी मातृभाषा उर्दू घोषित की गई है, प्राथमिक शिक्षा-स्तर पर उर्दू में शिक्षा देने का प्रबन्ध।

(१) क्या ये प्रबन्ध सन्तोषजनक हैं?

(२) क्या आप कोई सुझाव देना चाहते हैं?"

संभवतः इस प्रश्न के दोनों खण्डों का उत्तर कोई भी बुद्धिमान एवं राष्ट्रप्रेमी व्यक्ति क्रमशः 'हां' या 'नहीं' में ही देना चाहेगा। क्योंकि जहाँ तक अपनी मातृभाषा को उर्दू घोषित कराने वाले अभिभावकों के बच्चों का प्रश्न है, वे तो तब तक किसी भी प्रबन्ध को सन्तोषजनक नहीं मानेंगे जब तक उत्तर प्रदेश राज्य भर की राज्य भाषा उर्दू न घोषित कर दी जाये, अथवा राज्य भर के बच्चों के लिए मुख्य रूप से उर्दू की शिक्षा-दीक्षा का सन्तोषजनक प्रबन्ध न कर दिया जाये, क्योंकि अतीत के ऐसे अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं, जब अपनी मांगों को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाने में ही ऐसी प्रवृत्ति के लोगों को सफलता तथा राष्ट्र को हानि उठानी पड़ी है। आज हमारे राज्य की शिक्षा की स्थिति यह है कि प्रायः प्रत्येक प्रारम्भिक विद्यालयों में हिन्दी की जो शिक्षण-व्यवस्था है, उसका लाभ जनता के प्रत्येक वर्ग के बच्चे समान रूप से उठाते हैं और हम यह कहने की स्थिति में हैं कि उर्दू को मातृभाषा घोषित कराने वाले अभिभावकों के बच्चों का हिन्दी ज्ञान 'हिन्दी' को मातृभाषा घोषित कराने वाले अभिभावकों के बच्चों के हिन्दी ज्ञान से किसी भी प्रकार निम्न स्तर का नहीं है। और जब समूचे भारत गणराज्य की राजभाषा हिन्दी घोषित हो गई है तो इस प्रकार हिन्दी के स्थान पर उर्दू को पढ़ कर वे बच्चे भविष्य में आगे चल कर लाभ के स्थान पर हानि ही उठाएंगे। यह तो उन्हीं के लाभ की वस्तु है कि आरम्भ से ही हिन्दी में पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लें। कदाचित् इस सन्दर्भ में यह बता देना अनावश्यक है और इस अडिग तथ्य को हमारे देश के सभी कोटि के विद्वान् एवं विवेचक भी स्वीकार करते हैं कि अकेली लिपि को छोड़ कर हिन्दी और उर्दू भाषा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। उर्दू भी हिन्दी की एक शैली उसी प्रकार से है जिस प्रकार से ब्रजभाषा, भोजपुरी या अवधी। देश भर की आपस में नितान्त भिन्न भाषाओं को भी जब एकमात्र देवनागरी लिपि में रखने का सुझाव सभी अंचलों से दिया जा रहा है तो उर्दू को तो नागरी लिपि में रख देने से किसी को अनुमान भी नहीं होगा कि वह उर्दू है और हिन्दी नहीं है। किन्तु मूल प्रश्न यहां यह नहीं है। उर्दू के उक्त तथाकथित



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अनुयायी लोग उसे युगों तक उसी रूप में स्थिर और दृढ़ बनाए रखना चाहते हैं, जैसी वह ब्रिटिश शासन-काल में थी। वे दुराराध्य अरबी तथा फारसी की जटिल शब्दावलियों का अत्यधिक प्रयोग कर के ही शान्त नहीं होना चाहते प्रत्युत वे यह भी चाहते हैं कि उनकी वह विपरीतगामिनी तथा दुराराध्य लिपि भी पूर्ववत् चलती रहे।

उर्दू के इन्हीं पूर्वग्रहग्रस्त अनुयायियों की सन्तुष्टि के लिए हमारी राज्य सरकार ने यह समिति बनाई है और वह चाहती है कि हिन्दी को राज्यभाषा घोषित कर के जिस राज्य ने समूचे राष्ट्र में हिन्दी की प्रतिष्ठा को सर्वप्रथम स्वीकार किया था, उसमें हिन्दी के हितों को व्यापक क्षति पहुंचाने वाली यह सन्तुष्टीकरण की योजना भी आरम्भ की जाये। क्योंकि यह प्रश्न अकेले उत्तर प्रदेश का नहीं है। कालान्तर में बिहार, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान में भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है और उत्तर प्रदेश का उदाहरण प्रस्तुत करके वहां भी वही सुविधाएं प्राप्त करने की जोरदार माँग की जा सकती है जिनसे शनैः शनैः हिन्दी का बल और प्रभुत्व सीम्पित और संकुचित होता रहेगा।

उर्दू के ये अनुयायी दूसरे लोगों का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी मांग को सर्वथा असांप्रदायिक बताते हैं, किन्तु यह तथ्य सर्वसाधारण को विदित है कि उर्दू को एक सम्प्रदाय विशेष की भाषा और उसकी पृथक् संस्कृति के प्रतीक रूप में ही स्वीकार कराने का प्रयत्न पिछले अनेक दशकों से होता आ रहा है और यही कारण है कि उर्दू को हिन्दी से भिन्न एक पृथक् भाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है। अन्यथा हिन्दी और उर्दू के उद्गम, क्रिया पद, विशेषण, विभक्तियां, तद्धित एवं कृदन्त आदि व्याकरण सम्बन्धी समस्त विशेषताएं एक होने पर भी, दुर्बोध तथा सर्वथा अवैज्ञानिक फारसी लिपि का दुराग्रह क्यों किया जाता ?

आज पाकिस्तान एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। हमारे राज्य तथा देश के ऐसे ही साम्प्रदायिक व्यक्तियों द्वारा उसका निर्माण हुआ है, जो किसी समय उर्दू तथा उसमें निहित पृथक् संस्कृति या तमद्दुन के कट्टर समर्थक एवं मंत्रद्रष्टा रहे हैं। किन्तु वहां की राज्यभाषा के रूप में आज की उर्दू को मान्यता नहीं मिल सकी है। तब फिर भारत अथवा उत्तर प्रदेश में ही उसे पृथक् अस्तित्व देकर राजनयिक संरक्षण प्राप्त करने का यह कुचक्र क्यों चलाया जा रहा है, जिसमें जान-बूझ कर या अनजान बन कर हमारी राज्य सरकार अपने तात्कालिक किन्तु तुच्छ लाभ के लिए फँसने जा रही है ? उसे समय रहते यह तो समझ ही लेना चाहिएँ कि यह उर्दू प्रेमी लोग केवल शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्रों में ही संरक्षण नहीं प्राप्त करना चाहते, जिसे देने के लिए सरकार ने यह समिति बनाई है, वरन् प्रशासनिक एवं राजनीतिक स्तर पर भी उनकी मांग कालान्तर में प्रस्तुत की जायगी—यह ध्रुव सत्य है। और फिर वह मांग ऐसी होगी, जिसे स्वीकार करना राष्ट्र के प्रति अन्याय होगा तथा हमारी सरकार के लिए भी यह सौदा महंगा पड़ेगा।

अतः राज्य सरकार से हमारा अनुरोध है कि वह उर्दू भाषा के प्रेमियों के हितार्थ संघटित इस समिति को यह भी निर्देश करे कि वह नागरी लिपि द्वारा ही उर्दू के विकास एवं प्रसार की संभावनाओं पर विचार करे। क्योंकि यदि नागरी लिपि के द्वारा उर्दू के प्रचार एवं प्रशिक्षण की बात स्वीकार कर ली जाती है तो हिन्दी की इससे कोई हितहानि नहीं होगी, वरन् उर्दू के द्वारा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


उसकी व्यापकता एवं लोकप्रियता में वृद्धि ही होगी तथा इससे उर्दू के अनुयायियों को भी एक विशाल क्षेत्र मिलेगा। विदेशों में जहां कहीं भी रोमन लिपि का प्रचलन है उसमें ही वहां की भाषा का प्रयोग किया जाता है और फिर भी उस भाषा का अपना अस्तित्व बना रहता है। जब चीनी, जापानी या अन्य कोई भी भाषा विदेशी रोमन लिपि के प्रयोग के कारण अन्य भाषा नहीं समझी जाती तो अपनी स्वदेशी नागरी लिपि में प्रयुक्त होकर भी उर्दू भाषा उर्दू ही बनी रह सकती है।

मान लीजिए कि यदि यह तथ्य नहीं स्वीकार किया जाता और उर्दू को उसकी अपनी दुर्गम लिपि के साथ ही अविभाज्य रूप में यथावत् स्थिर बनाए रखने का आग्रह किया जाता है तो हमें यह कहना पड़ेगा कि इस प्रदेश में उर्दूभाषियों की भांति बंगला, मराठी आदि भाषाओं को मातृ-भाषा बताने वाले अल्पसंख्यकों की कमी नहीं है और उर्दू की भांति बंगला एवं मराठी भाषा का भी संविधान की चौदह भाषाओं में स्थान है। अतः यदि कालान्तर में उनकी ओर से भी यह मांग प्रस्तुत की जायगी तो हमारी राज्य सरकार कथमपि इनकार नहीं कर सकेगी क्योंकि हमारे राज्य में ऐसा एक भी जिला या जनपद नहीं है, जहां के समस्त निवासियों की केवल उर्दू ही भाषा हो। देहात की बात तो जाने दीजिए जहाँ के मुसलमान किसान हिन्दू किसानों की भांति ही भोजपुरी, अवधी, तथा बुंदेलखण्डी एवं ब्रजभाषा आदि आंचलिक बोलियों का ही नियमित प्रयोग करते हैं, प्रत्युत शहर के रहने वाले मुसलमान एवं हिन्दुओं की बोली में भी कोई विशेष अन्तर नहीं रहता। तब ऐसी स्थिति में उर्दू को क्षेत्रीय भाषा के रूप में प्रश्रय देकर बंगला एवं मराठी आदि को प्रश्रय न देना अन्याय होगा क्योंकि उर्दू-भाषियों की भांति वे भी भाषाई अल्पसंख्यक की संज्ञा से बाहर नहीं किए जा सकते।

अतः सभी दृष्टियों से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तर प्रदेश की राज्य सरकार ने इस समिति का निर्माण करके जिस मनोवृत्ति को प्रश्रय या प्रोत्साहन देने का प्रयास किया है, उसकी ओर किसी की भी साधु दृष्टि नहीं है। इसलिये हमारी समझ में प्रथम तो इस कार्य को स्थगित कर दिया जाना चाहिए अथवा इस भूल का परिमार्जन तो इसी कार्य द्वारा हो सकता है कि इस समिति को उर्दू के लिए नागरी लिपि के प्रयोग की संभावनाओं पर भी विचार करने का अधिकार दिया जाये और उर्दू के उन तथाकथित प्रेमियों से यह स्पष्ट कर दिया जाये कि ब्रिटिश शासन के समान उस समय की विदेशी शासकों द्वारा प्रवर्तित विभेद नीति का अब यहाँ अन्त हो गया है और इस स्वतंत्र राष्ट्र में अपने छोटे-मोटे हितों तथा स्वार्थों को राष्ट्र के व्यापक हित की वेदी पर बलिदान करके ही कोई समाज उन्नति-लाभ कर सकता है। उर्दू वालों को भी ऐसा ही करना समीचीन होगा।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


## महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा पुणें का

## हिन्दी मासिक मुखपत्र

# राष्ट्रवाणी

यह मासिक पिछले चौदह वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित हो रहा है। महाराष्ट्र के साहित्य और लोक-जीवन की झाँकियाँ दिखाने का इसके माध्यम से यथासम्भव प्रयास किया जाता है। हिन्दी साहित्य तथा प्रचार संस्था और विश्वविद्यालयों की उच्च परीक्षाओं के हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम सम्बन्धी मार्गदर्शनपरक उपयुक्त लेख समय-समय पर इसमें दिये जाते हैं। कहानी, एकांकी, ललित लेख, साहित्य-समीक्षा, समाचार-संकलन आदि उपयुक्त सामग्री के कारण हर एक अंक संग्राह्य होता है।

वार्षिक चन्दा चार रु० मनीआर्डर द्वारा भेजकर ग्राहक सूची में अपना नाम दर्ज करा लें।

**महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा,**
पो० बॉ० ५६०, राष्ट्रभाषा भवन,
**नारायण पेठ, पुणें–२**

---

**आधुनिक हिन्दी कविता में नई दिशा**
**नई दृष्टि का बोधक प्रतिनिधि काव्य-संग्रह**

## आधुनिक कवि–भाग ६

**"माखनलाल चतुर्वेदी"**

**प्रस्तुत है**

- रचयिता द्वारा अपने कृतित्व की स्वयं व्याख्या है।
- संकलित कविताओं में काव्य-शिल्प और युगधर्म का सक्रिय निर्वाह एवं काव्य-धारा के अनेक पीयूष-वर्षी स्रोत प्रस्रवित हैं।
- सुकुमार भाषा के आवरण से ढकी हुई तड़पन कविताओं में वेंणुरव और आह्वान भरती है।
- राष्ट्र-देवता की अर्चना के लिए अर्पित चतुर्वेदी जी की यह काव्य कुसुमांजलि वर्तमान अर्धशती के जन-गण-मन का आस्वर प्रतिविंब है।

मूल्य, तीन रुपए

**हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


# राष्ट्रभारती

सम्पादक

**मोहनलाल भट्ट—हृषीकेश शर्मा**

**वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से ६ रु०; नमूने की प्रति ६२ नए पैसे**

इसमें आपको लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् साहित्यकारों के ज्ञानपोषक और मनोरंजक अच्छे-अच्छे लेख, कविताएं, कहानियाँ, एकांकी, रेखाचित्र, शब्दचित्र आदि रचनाएं पढ़ने को मिलेंगी।

इसमें संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं की तथा अंग्रेजी, रशियन आदि विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं के सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी रहते हैं।

आज ही मनीआर्डर द्वारा ६) भेजकर ग्राहक बन जाइये।

**रियायत**—समिति के प्रमाणित प्रचारकों, केन्द्र-व्यवस्थापकों, स्कूल-कालेजों, सार्वजनिक पुस्तकालयों तथा वाचनालयों को केवल ५) वार्षिक चन्दे में मिलेगी।

पत्र-व्यवहार का पता—

**व्यवस्थापक "राष्ट्रभारती"**

**हिन्दी नगर, वर्धा**

(राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति)

---

**श्री मध्यभारत हिन्दी-साहित्य-समिति इन्दौर**

**की**

# मासिक मुख-पत्रिका

# वीणा

**वार्षिक मूल्य ५)** **एक संख्या ।=)॥ आने**

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मध्यप्रदेश, संयुक्त राजस्थान, बिहार और उत्तर प्रदेश की शिक्षा-संस्थाओं के लिए स्वीकृत।

जो पिछले ३२ वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित होकर हिन्दी-साहित्य की अपूर्व सेवा कर रही है। भारत के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इसका उच्च स्थान है।

साहित्य के विभिन्न अंगों पर तथ्यपूर्ण एवम् गंभीर प्रकाश डालनेवाले लेख तथा परीक्षोपयोगी विषयों पर आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित करना इसकी प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा एवम् उत्तमा (रत्न) तथा बी० ए० और एम० ए० के छात्रों के लिए इसके निबन्ध अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

**"वीणा" का भारत में सर्वत्र प्रचार है!**

**ज्ञान-वृद्धि के लिए वीणा अनुपम साधन है!**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113062
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक पत्रिका

# "राष्ट्रवीणा"

सम्पादक---जेठालाल जोशी

पत्रिका में विद्वानों के चिंतनपूर्ण लेख, गुजराती के साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, कला विषयक लेख, कहानियाँ, नाटक, कविताएँ, गुजराती भाषा सीखनेवालों के लिए उपयोगी सामग्री, आदि कई स्तम्भ नियमित रूप से प्रकाशित होते हैं। पुराने अंकों की फाइलें भी उपलब्ध हैं।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति १)

**गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,**

राष्ट्रभाषा हिन्दी भवन, ऐलिसब्रिज,

अहमदाबाद-६

---

साहित्य, संस्कृति और कला-प्रधान मासिक-पत्रिका

# 'र स वं ती'

प्रधान संपादक

**डा० प्रेमनारायण टंडन, पी-एच० डी०**

**'रसवंती' के प्रथम छः अंकों में**

**१०८ रचनाएँ छपी हैं**

प्रत्येक साहित्य-प्रेमी ने 'रसवंती' की प्रशंसा की है। आप भी इसे पढ़कर संतुष्ट होंगे। 'रसवंती' का द्विवार्षिक शुल्क बारह रुपए, वार्षिक सात रुपए, छमाही चार रुपए हैं। नमूने का अंक साठ नये पैसे मिलने पर भेजा जाता है। वी० पी० से 'रसवंती' मँगाने पर शुल्क के अतिरिक्त ७५ नए पैसे अधिक लगते हैं।

**पता —विद्यामंदिर, रानीकटरा, लखनऊ**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महान् कलाकारों की प्रारंभिक रचनाएँ उन पद-चिह्नों के समान हैं, जिन पर चल कर सामान्य लोग जीवन और उसके उद्‌देश्यों का संधान कर सकते हैं

**हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित**

# हार

युग-कवि पं० सुमित्रानन्दन पंत की किशोरावस्था में लिखी गयी सर्व-प्रथम रचना है

**यह उपन्यास सब के लिए सर्वोत्तम मार्गदर्शक है**

सीमित संस्करण तथा प्रत्येक प्रति पर कवि का तात्कालिक चित्र और हस्ताक्षर

**मूल्य, दस रुपए**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजिस्ट्रार न्यूज पेपर्स ऐक्ट के अन्तर्गत

## विज्ञप्ति

| | |
|---|---|
| (१) प्रकाशन का स्थान | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| (२) प्रकाशन की तिथि | त्रैमासिक |
| (३) मुद्रक का नाम | सम्मेलन-मुद्रणालय |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| (४) प्रकाशक का नाम | श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| (५) सम्पादक का नाम | श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल<br>श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| (६) स्वत्वाधिकारी | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |

मैं श्री रामप्रताप त्रिपाठी, घोषित करता हूँ कि
उपरिलिखित विज्ञप्ति मेरी जानकारी के अनुसार
बिल्कुल ठीक है।

हस्ताक्षर—रामप्रताप त्रिपाठी

मुद्रक तथा प्रकाशक : रामप्रताप त्रिपाठी : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113067

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# सम्मेलन पत्रिका

पौष : फाल्गुन शक १८८२ • भाग – ४७ : अंक – १

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113067
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
30/61

# सम्मेलन-पत्रिका

[ त्रैमासिक ]

113067

[भाग--४७, संख्या--१]
पौष-फाल्गुन शक १८८२

सम्पादक
ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल
रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

RI-0517

वार्षिक आठ रुपये } · हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग { एक प्रति दो रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विषय-सूची


पृष्ठ

१. मौलाना दाऊद कृत 'चंदायन' [डाक्टर परमेश्वरीलाल गुप्त, एम० ए०, पी० एच-डी०] ३

२. संस्कृत काव्य-शास्त्र में साहित्यतत्त्व [आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०, शास्त्री] १४

३. सूर-सारावली में कवि के आत्मकथन [डाक्टर प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०, पी० एच-डी०] २७

४. बारहमासा की परंपरा और पद्मावत [डाक्टर श्याममनोहर पांडेय, एम० ए०, डी० फिल्] ३७

५. अभिव्यंजना के मूलतत्त्व [डाक्टर आशा गुप्ता, एम० ए०, पी० एच-डी०] ४४

६. हिन्दी भाषा में संदेहार्थ [डाक्टर व० प० लिपोरोवस्की ( मास्को )] ६३

७. कवि बनारसीदास [डाक्टर प्रेमसागर जैन, एम० ए०, पी० एच-डी०] ६८

८. खड़ीबोली के काव्य में मुहावरे [डाक्टर मोहन अवस्थी, एम० ए०, पी०एच-डी०] ८१

९. मीराबाई के काव्य में लोक-जीवन [डाक्टर देवीदत्त शर्मा, एम० ए०, पी० एच-डी०] ८७

१०. शकों का जातीय जीवन और भौगोलिक स्थिति [श्री प्रशान्तकुमार जायसवाल, एम० ए०] १०७

११. विविधा—(१) साधारणीकरण क्या और कैसे [डाक्टर रामदत्त भारद्वाज एम० ए०, डी० लिट्]

(२) रीति कालीन कविपरिपटियों के प्रतीक [डाक्टर वीरेन्द्रसिंह एम० ए०, डी० फिल्] ११७

(३) हिन्दी साहित्य और गोर्की [डाक्टर महेन्द्र भटनागर एम० ए०, पी० एच-डी०]

(४) प्राचीन राजस्थानी कवि 'भंडारी उदयचंद—श्री मदनराज दौलतराम मेहता

(५) भोजपुरी लोकगीतों में सांस्कृतिक तत्व—श्री श्रीधर मिश्र एम० ए०

१२. पुस्तक-परिचय—डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० लिट्; डाक्टर जयराम मिश्र एम० ए०, पी० एच-डी०; श्री विश्वम्भर 'मानव' एम० ए०; श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री; श्री कृष्णनारायण लाल एम० ए०, 'साहित्यरत्न'; श्री सत्या गुप्ता एम० ए०; श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय; श्री रामकीर्ति द्विवेदी; श्री सत्यार्थी एम० ए०, श्री देवदत्त शास्त्री। १४१

१३. सम्पादकीय १७०


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर परमेश्वरीलाल गुप्त

# मौलाना दाऊद कृत 'चन्दायन'

हिन्दी प्रेमाख्यानक परम्परा का आरम्भ कब हुआ, इस बात का निर्णय करने वाली कोई सामग्री अभी उपलब्ध नहीं है। किन्तु इस विषय की चर्चा जहाँ कहीं भी हुई है, वहाँ इसकी परम्परा का आरम्भ मौलाना दाऊद कृत 'चन्दायन' से माना गया है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने का कार्य फ्रेन्च विद्वान गार्सा द तासी और अंग्रेज विद्वान ग्रियर्सन ने आरम्भ किया था, किन्तु उसका स्वरूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' द्वारा स्थिर किया। किन्तु इन तीनों ही विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में मौलाना दाऊद अथवा उनकी कृति 'चन्दायन' का कोई उल्लेख नहीं किया है। स्पष्ट है कि शुक्ल जी के समय तक 'चन्दायन' के अस्तित्व सम्बन्धी सूत्र उपलब्ध नहीं थे।

सर्वप्रथम उसकी जानकारी मिश्रबंधु ने १९२८ ई० (वि० सं० १९७०) में अपनी पुस्तक "मिश्रबंधु-विनोद" द्वारा दी। उन्होंने अपने ग्रन्थ के "आदि प्रकरण" में लिखा है: "मुल्ला दाऊद अमीर खुसरो का समकालीन था। उसका कविता-काल संवत् १३८५ के लगभग था। इसने नूरक और चन्दा की प्रेम-कथा हिन्दी में रची। यह ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया।"[१] मिश्रबन्धु की इस सूचना का आधार क्या है, इसका संकेत उन्होंने नहीं किया है।

सात वर्ष पश्चात् "हरिऔध" का "हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास" प्रकाशित हुआ। उसमें इस सम्बन्ध में यह पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं--"अमीर खुसरो का समकालीन एक और मुल्ला दाऊद नामक ब्रजभाषा का कवि हुआ। कहा जाता है कि उसने नूरक एवं चन्दा की प्रेम-कथा नामक दो हिन्दी पद्य-ग्रन्थों की रचना की। किन्तु ये दोनों ग्रन्थ अप्राप्य से हैं। इस लिये इसकी रचना की भाषा के विषय में कुछ लिखना असम्भव है।"[२] मिश्रबन्धु की तरह हरिऔध ने भी अपनी सूचना का आधार नहीं दिया है। उस समय के हिन्दी के साहित्यिकों में इसकी परिपाटी प्रचलित न थी। उनके शब्दों से झलकता है कि मिश्रबन्धु के अतिरिक्त उनकी जानकारी का कोई अन्य साधन नहीं है। उन्होंने दो नयी बातें अवश्य कही हैं। (१) मुल्ला दाऊद ने नूरक और चन्दा नामक दो ग्रन्थों की रचना की। (२) वे ब्रजभषा के कवि थे। किन्तु दोनों

-----------

१. मिश्र-बन्धु-विनोद, प्रथम भाग, सं० १९७०, पृ० २४१

२. हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास, पटना, द्वितीय संस्करण, सं० १९९७, पृ० १४७



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ही बातें कवि-कल्पना मात्र है, यह तनिक ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है। दाऊद के ब्रजभाषा के कवि होने की बात का खण्डन उनकी अपनी ही पंक्तियों से हो जाता है। पहले वे उसे ब्रजभाषा का कवि कहते हैं, फिर उसके हिन्दी पद्य-रचना की बात कहते हैं और अन्त में यह भी कहते हैं कि उसकी भाषा के सम्बन्ध में कुछ लिखना असम्भव है। सारांश यह कि उन्हें दाऊद की भाषा के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी। दो ग्रन्थ की कल्पना का सूत्र तो स्पष्ट ही है, उसके सम्बन्ध में कुछ कहना अपेक्षित नहीं।

इन दोनों ग्रन्थों के पश्चात १९३६ ई० में हिन्दी का पहला शोध-निबन्ध डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल कृत "द निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोयट्री" प्रकाशित हुआ। उसमें दाऊद की चर्चा इन शब्दों में की गयी है: "सबसे पुराना ज्ञात प्रेमाख्यानक कवि मुल्ला दाऊद मालूम होता है, जो अलाउद्दीन के राजत्वकाल वि० सं० १४९७ (१४३९ ई०) के आसपास विद्यमान था। परन्तु मुल्ला दाऊद भी आदि प्रेमाख्यानक कवि था या नहीं कह नहीं सकते। उसकी नूरक चन्दा की कहानी का हमें नाम ही मालूम है।"[१] आधुनिक परिपाटी पर शोध-निबन्ध लिखते हुए डा० बड़थ्वाल ने पुरानी परिपाटी का ही अनुकरण किया है और कोई सन्दर्भ प्रस्तुत नहीं किया जिससे उनके कथन का सूत्र जाना जा सकता। उनके कथन में मिश्रबन्धु से इतनी ही भिन्नता है कि उन्होंने मुल्ला दाऊद का अस्तित्व अलाउद्दीन खिलजी के समय में बताया है और उसका समय वि० सं० १४९७ दिया है। देखने में यह बात नयी और महत्वपूर्ण जान पड़ती है। दाऊद का समय मिश्रबन्धु के बताये समय से सौ बरस से अधिक पीछे ठहरता है। पर बारीकी से देखने पर ज्ञात होता है कि बड़थ्वाल जी के कथन में ऐतिहासिक विरोध है। विक्रम संवत् १४९७ (१४३९ ई०) में अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली के तख्त पर न विराज कर स्वर्ग के दरबार में हाजिरी दे रहा था और दिल्ली में सैयदवंशीय सुल्तान मुबारकशाह द्वितीय का शासन था। यदि दाऊद की यह तिथि ठीक है तो वह आदि प्रेमाख्यानक कवि नहीं था। कुतवन की 'मिरगावती' उससे पहले की रचना है, जिसकी जानकारी शुक्लजी पहले ही दे चुके थे। यह बात बड़थ्वाल जी को ज्ञात न रही हो, यह बुद्धिग्राह्य नहीं है। अतः संभावना इस बात की ही अधिक है कि बड़थ्वाल जी ने दाऊद के लिये अलाउद्दीन की समसामयिक ही कोई तिथि दी होगी (अलाउद्दीन का राजत्वकाल वि० सं० १३५४ से १३७४ तक (१२९६–१३१६ ई०) था। हो सकता है किसी के प्रमाद से १२९७ ई० ने वि० सं० १४९७ का रूप ले लिया हो। तिथि का किसी प्रकार समाधान कर लेने पर भी प्रश्न रह जाता है कि बड़थ्वाल जी को दाऊद की अलाउद्दीन के साथ समसामयिकता का ज्ञान कहाँ से हुआ? इसका उत्तर कठिन नहीं है। अलाउद्दीन और अमीर खुसरो की समसामयिकता प्रसिद्ध है। अतः बड़थ्वाल जी ने मिश्रबन्धु से तथ्य ग्रहण कर अपनी शोध-बुद्धि का उपयोग किया और उनकी बात को नये ढंग से प्रस्तुत कर दिया।

बड़थ्वाल जी के उक्त शोध-निबन्ध के पश्चात् १९३८ ई० में डा० रामकुमार वर्मा का शोध-

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, सं० २००७, लखनऊ, पृ० २०-२१



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



निवन्ध "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" प्रकाश में आया। आपने अपने मूल निवन्ध में दाऊद के सम्बन्ध में क्या लिखा था, यह तो हमारे सामने नहीं है, किन्तु उसके प्रकाशित रूप के दूसरे संस्करण में, जो उपलब्ध है, कहा गया है कि "खुसरो का नाम जब समस्त उत्तरी भारत में एक महान कवि के रूप में फैल रहा था, उसी समय मुल्ला दाऊद का नाम भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में आता है। मुल्ला दाऊद की एक प्रेम कहानी प्रसिद्ध है, उसका नाम है "चन्दावन या चन्दावत।" यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है और इसके सम्बन्ध में कुछ भी प्रामाणिक रूप से ज्ञात नहीं है।"[1] वर्मा जी ने दाऊद को अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन मानते हुए उसका कविता-काल संवत् १३७५ (१३१७ ई०) ठहराया है। वर्मा जी ने भी अपने पूर्ववर्त्तियों के समान ही अपनी सूचना का सूत्र बताने की आवश्यकता नहीं समझी पर देखने से ही प्रकट हो जाता है कि उन्होंने मिश्रबन्धु और बड़थ्वाल जी के कथन को जोड़ कर अपने शब्दों में रख दिया है। उन्होंने एक मौलिक सूचना अवश्य दी है कि दाऊद के ग्रन्थ का नाम चन्दावन या चन्दावत था, नूरक-चन्दा नहीं। किन्तु इससे प्रमाणाभाव में यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उनके पास मिश्र-बन्धु और बड़थ्वाल के कथन के अतिरिक्त उनका कोई अपना निजी सूत्र भी था। हो सकता है यह बात पीछे ज्ञात तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत संस्करण में जोड़ दी गयी हो।

मूल सूत्रों के अभाव में इन विद्वानों के कथन से किसी प्रामाणिक निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता था। १९४० ई० (वि० सं० १९९८) में श्री व्रजरत्नदास की पुस्तक "खड़ीबोली-हिन्दी साहित्य का इतिहास" प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने पहली बार दाऊद के सम्बन्ध में प्रमाण-युक्त तथ्य उपस्थित किये। मुगलकालीन सुप्रसिद्ध इतिहासकार अब्दुर्कादिर बदायूनी कृत "मुनतखब-उत्-तवारीख" के आधार पर यह सूचना दी गई कि मुल्ला दाऊद के "चन्दावन" की रचना फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल (१३५१-१३८८ ई०) में हुई।[2]

बदायूनी का कथन इस प्रकार है: "सन् ७७२ (हिजरी) (१३७० ई०) में खानजहाँ वजीर की मृत्यु हुई और जौनाशाह नामक उसका पुत्र उसी पदवी से प्रसिद्ध हुआ और चन्दायन (चन्दावन) को, जो हिन्दवी भाषा का एक मसनवी है, जिसमें लौरक (नूरक) और चन्दा नामक प्रेमी-प्रेमिका का वर्णन है और वास्तविक अनुभव से परिपूर्ण है, मौलाना दाऊद ने उसी के नाम से पद्यबद्ध किया। इस देश में अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण उसकी (चन्दायन) प्रशंसा अपेक्षित नहीं है। दिल्ली में मखदूम शेख तकीउद्दीन वायज रब्बानी इसके कुछ समर्थक पद मेंबर (व्यास-पीठ) से पढ़ा करते थे और उनके सुनने का लोगों पर विशेष प्रभाव पड़ता था। उस समय के कुछ विद्वानों ने शेख से पूछा कि इस हिन्दवी मसनवी के अपनाने का कारण क्या है तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह ज़ौक (रुचि) के समस्त तत्वों तथा अर्थों से युक्त है तथा प्रेम और भक्ति के जिज्ञासु

----------

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९५४ ई०, पृ० १३१

२. खड़ीबोली-हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, सं० १९९८, पृ० ९४-९५



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लोगों के उपवयुत है, क़ुरान के कतिपय आयतों की (उसमें) व्याख्या है और वह हिन्द के श्रेष्ठ-जनों के अनुसार है। इस कारण इसको पढ़कर लोग हृदय रूपी अहेर को आकृष्ट करते हैं।" (मूल फारसी से अनुदित)[1]

"मुनतखब" के इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि दाऊद "मुल्ला" नहीं मौलाना कहे जाते थे और उनकी रचना का नाम चन्दायन था, जो नुक्तों के हेर-फेर से "चन्दावन" अथवा "चन्दावत" पढ़ा गया है। उसमें लौरक (जो किन्हीं प्रतियों में नूरक पढ़ा गया है) और चन्दा की प्रेम कथा है। "नूरक व चन्दा" पुस्तक का नाम नहीं है, जैसा कि कुछ विद्वानों ने समझ रखा था। सबसे महत्व की बात जो इस उद्धरण से ज्ञात होती है वह यह है कि "चन्दायन" की रचना फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल (१३५१ और १३८८ ई०) के बीच जौनशाह के मन्त्रित्वकाल में ७७२ हिजरी (१३७० ई०) के पश्चात् किसी समय हुई।

यह बात सामने आते ही मिश्रबन्धु के कथन की गुत्थी अनायास ही सुलझ जाती है। उन्होंने चन्दायन का रचना-काल लगभग १३८५ ठीक ही दिया है। उनका सूत्र प्रामाणिक था। उनसे भूल इतनी ही हुई है कि उन्होंने अपने सूत्र से ज्ञात ईस्वी सन् को विक्रम संवत् मान लिया और विक्रम संवत् के रूप में खुसरो की समकालीनता की कल्पना उनके लिए सहज ही थी।

मौलाना दाऊद का समय फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल में था, यह तथ्य "मुनतखब" के माध्यम से श्री ब्रजरत्नदास द्वारा प्रकाश में लाये जाने के बहुत पूर्व ही उत्तर-प्रदेश के प्रादेशिक गजेटियरों के प्रणेताओं को भली प्रकार ज्ञात था, किन्तु हमारे अनुसंधान करने वालों का ध्यान उनकी ओर कभी जा ही नहीं सकता था। रायबरेली जिले के गजेटियर में डलमऊ नगर के इतिहास के प्रसंग में कहा गया है कि "अल्तमश के शासनकाल में इस नगर (डलमऊ) ने समृद्धि प्राप्त की। उसके समय में यहाँ मखदूम बदरुद्दीन रहते थे। तत्पश्चात् यह फीरोजशाह तुगलक के समय तक उन्नति पर था। उसने जनता में मुस्लिम सिद्धान्तों के प्रसार के निमित्त यहाँ एक विद्यालय स्थापित किया। इस विद्यालय की उपयोगिता का अनुमान डलमऊ निवासी मुल्ला दाऊद द्वारा सम्पादित "चन्द्रैनी" नामक भाषा-पुस्तक को देख कर किया जा सकता है।"[2] अवध के प्रादेशिक गजेटियर में इस बात का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है—"फीरोजशाह तुगलक ने यहाँ (डलमऊ) मुस्लिम धर्म और विद्या के अध्ययन के लिये एक विद्यालय की स्थापना की। इसकी उपयोगिता इस बात से प्रकट है कि डलमऊ के मुल्ला दाऊद नामक कवि ने ७७९ हिजरी में भाषा में "चन्द्रैनी" नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया।"

---

१. मुनतखब-उत्-तवारीख (मौलवी अहमद अली सम्पादित) बिबलिओथिका सीरीज, १८६८ ई०, भाग १, पृ० २५०

२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आव द युनाइटेड प्रॉविन्सेज; भाग ३९, रायबरेली, पृ० १६२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



श्री ब्रजरत्नदास की पुस्तक "खड़ीबोली-हिन्दी साहित्य का इतिहास" के प्रकाशन के पश्चात् १९५३ ई० तक दाऊद अथवा "चन्दायन" के सम्बन्ध में कहीं कुछ लिखा गया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। १९५३ ई० में श्री कमल कुलश्रेष्ठ का शोध-निबन्ध "हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य" प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में उन्होंने पूर्व ज्ञात उपर्युक्त अधिकांश सूचनाओं को केन्द्रित करके बदायूनी के कथन पर बल देते हुए यह मत प्रकट किया कि "चन्दावन का रचना-काल वि०सं० १४२७ के निकट था।" इस ग्रन्थ में जो सबसे महत्व की सूचना है, वह यह है कि "चन्दावन की कोई प्रमाणिक प्रति अभी तक नहीं मिल सकी। एक अप्रामाणिक सी प्रति डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अवश्य देखी है परन्तु उसे वे कुछ कारणों से विशेष ध्यान पूर्वक नहीं देख सके और वह इस काव्य के सम्बन्ध में कुछ निश्चय पूर्वक बतलाने में असमर्थ हैं।"[1] साथ ही एक पाद टिप्पणी में एक अतिरिक्त सूचना इस प्रकार दी गयी है: "बीकानेर के श्री पुरुषोत्तम शर्मा के पास इस ग्रन्थ की एक प्रति है। शर्मा जी ने यह पोथी एक सज्जन द्वारा प्रयाग भेजी थी परन्तु उन्होंने पोथी की परीक्षा अच्छी तरह डा० धीरेन्द्र वर्मा को नहीं करने दी।"[2] कुलश्रेष्ठ की इस पाद टिप्पणी के अतिरिक्त अन्य सूत्र से ज्ञात हुआ कि 'चन्दायन' की प्रति १९४३ ई० में डा० धीरेन्द्र वर्मा और डा० रामकुमार वर्मा को दिखायी गयी थी और धीरेन्द्र जी ने उसकी प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया था। वर्मा जी ने इस प्रति को चाहे जिस दृष्टि से भी देखा हो, किन्तु किसी प्रकार की प्रति के अस्तित्व का ज्ञान मात्र अपने आप में महत्त्व रखता है।

१९५५ ई० में प्रेमाख्यानक काव्य और सूफ़ी साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले चार ग्रन्थ प्रायः एक साथ ही प्रकाशित हुये। इनमें से एक तो सूफी प्रेमकाव्य के अवतरणों का संकलन है जिसे श्री परशुराम चतुर्वेदी ने "सूफ़ी काव्य संग्रह" के नाम से प्रस्तुत किया है। उसमें दाऊद के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियां हैं जो अपने आप में मनोरंजक हैं। चतुर्वेदी जी लिखते हैं: "इस रचना का सर्व-प्रथम उल्लेख हि० सन् ७७२ (सं० १४२७) में अर्थात् फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल (सं० १४०८-१४४५) में हुआ है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने दाऊद को अलाउद्दीन खिलजी (राज्य-काल सं० १३५२-१३७३) का समकालीन समझा है और उनकी कविता का समय सं० १३७५ ठहराया है, जो अनुचित नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है कि मुल्ला दाऊद इस प्रकार अमीर खुसरो का भी समकालीन था। मुल्ला दाऊद के सम्बन्ध में यह पता नहीं चलता कि उसकी हिन्दवी का रूप क्या था और उसमें किन छन्दों का प्रयोग हुआ था।"[3] आशा की जाती थी कि 'मुनतखब' के उद्धरण से दाऊद के समय के सम्बन्ध में जो भ्रम है उसका निवारण हो जायगा किन्तु हम देखते हैं कि चतुर्वेदी जी ने उसका एक विचित्र अर्थ लगाया है। कदाचित इस

---

१. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, प्रयाग, १९४३; पृ० ८
२. वही, पृ० ८, पा० टि० २
३. सूफी काव्य संग्रह, प्रयाग, सं० २०१३, पृ० ६२-६३



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लिये कि मिश्रबन्धु और श्री रामकुमार वर्मा दोनों के कथन के साथ उसका समन्वय हो जाय। इस प्रकार उन्होंने एक नया भ्रम उत्पन्न कर दिया।

अन्य तीन ग्रन्थ शोध-निबन्ध हैं जो विभिन्न विश्वविद्यालयों के समक्ष पी-एच० डी० की उपाधि के निमित्त प्रस्तुत किये गये थे। ये हैं: हरिकान्त श्रीवास्तव कृत "भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य", विमल कुमार जैन कृत "सूफी मत और हिन्दी साहित्य" और सरली शुक्ला कृत "जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि"। विषय की दृष्टि से श्रीवास्तव के ग्रन्थ का विस्तार सबसे अधिक है और उसमें दाऊद के ग्रन्थ की विशेष रूप से और विस्तृत जानकारी उपस्थित की जानी चाहिये थी। पर यह देख कर आश्चर्य होता है कि उन्हें इस बात का पता ही नहीं है कि आचार्य शुक्ल ने जो कुछ लिखा है अथवा मिश्रबन्धु ने जो सूचना दी है, उससे कहीं अधिक जानकारी प्रकाश में आ चुकी है। उनकी जानकारी केवल इस बात तक सीमित है कि "सर्वप्रथम मुल्ला दाऊद की नूरक चन्दा कहानी के बाद कुतबन की मृगावती मिली।"[१]

सरला शुक्ला के शोध-निबन्ध की परिधि में मुल्ला दाऊद नहीं आते। यदि उन्होंने उनके सम्बन्ध में एक शब्द भी न कहा होता तो हमें तनिक भी आश्चर्य न होता। पर आश्चर्य यह देखकर होता है कि उन्होंने उन पर पूरा एक पैराग्राफ लिख डाला है।[२] उनकी दृष्टि में श्री रामकुमार वर्मा का कथन बदायूनी के कथन से अधिक महत्व रखता है। उन्होंने उनके कथन को प्रामाणिक माना है। विमल कुमार जैन ने अपने निबन्ध में सरला शुक्ला की तरह विस्तार में न जाकर दो तीन पंक्तियाँ ही लिखना दाऊद के लिए पर्याप्त समझा और उसमें डा० रामकुमार वर्मा के कथन को दुहरा भर दिया गया है।[३]

ये शोध-निबन्ध इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि हमारे हिन्दी साहित्य के अनुसन्धानियों में अपने शोध-कार्य के प्रति उत्तरदायित्व का कुछ अभाव है। ऐसा लगता है कि अपनी बुद्धि का उपयोग कर तथ्य का उहापोह करना उन्होंने सीखा ही नहीं है। जिस विषय पर हम शोध कर रहे हैं, उनमें आयी हुई बातों पर किसने क्या मत व्यक्त किया है, क्या नया तथ्य उपस्थित किया है, उसे जानने समझने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई। यदि इन अनुसन्धान करने वालों में से किसी ने भी बदायूनी के कथन से परिचित होने का कष्ट किया होता तो उन्हें यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता कि दाऊद ने फीरोजशाह तुगलक के शासन काल में जौनाशाह के मंत्री होने के पश्चात् अर्थात् ७७२ हिजरी के बाद 'चन्दायन' की रचना की थी। साथ ही यदि हमारे इन शोधकों ने इस बात पर भी ध्यान दिया होता कि समस्त शोध पुस्तकों तक ही सीमित नहीं रहता, शोध सामग्री पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में भी उपलब्ध हो सकती है तो उन्हें बदायूनी के कथन के समर्थन में प्रमाण भी उपलब्ध हो जाते।

---

१. भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, काशी; १९५५ ई०, पृ० २९

२. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य; लखनऊ; सं० २०१३; पृ० १३८

३. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, दिल्ली, १९५५ ई०, पृ० ११२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इन शोध निबन्धों के प्रकाशन से अनेक वर्ष पूर्व वि० सं० २००६ में श्री अगरचन्द नाहटा ने "नागरी प्रचारिणी पत्रिका में "मिश्रबन्धु-विनोद की भूलें" शीर्षक एक लेख प्रकाशित किया था। इस लेख में दाऊद सम्बन्धी कथन की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए यह सूचना दी गई थी कि श्री रावतमल सारस्वत को इसकी (नूरक-चन्दा की प्रेम कहानी) की एक प्रति मिली है। उस प्रति के अनुसार 'चन्दायन' का रचना काल ७८१ हिजरी है। आपने उक्त ग्रन्थ से तत्सम्बन्धी निम्नलिखित पंक्ति भी उद्धृत की थी :—

**बरस सात से होइ एक्यासी। तेहि याह कवि सरसेउ भासी॥**
**साहि पीरोज ढिली सुलताना। जौना साहि जीत बखाना॥**
**दल्यो नयरु बसे नवरंगा। उपरि कोट तले बहे गंगा॥**[1]

इस प्रकार बदायूनी का प्रामाणिक कथन एवं 'चन्दायन' की एक प्रति के अस्तित्व की बात १९५५ ई० से बहुत पूर्व प्रकाश में आ चुकी थी, इनका शोधों में उपयोग किया जाना चाहिये था। पर खेद है कि हमारे शोधकों का ध्यान उनकी ओर न जा सका। १९५६ ई० में जब श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी दूसरी पुस्तक "भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा" प्रकाशित की तो उन्होंने नाहटा जी की सूचना का उपयोग अवश्य किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि "राजस्थान में उपलब्ध एक अधूरी प्रति के अनुसार इसका रचना काल सं० १४३६ होना चाहिए।"[2]

"चन्दायन" सम्बन्धी वास्तविक अनुसन्धान का कार्य वस्तुतः १९५६ ई० के बहुत पहले आरम्भ हो चुका था। पर वह कार्य हिन्दी साहित्य पर अपना अधिकार प्रगट करने वाले लोगों की ओर से नहीं हुआ। वह कार्य हो रहा था पुरातत्व और इतिहास में काम करनेवाले ऐसे लोगों की ओर से, जो हिन्दी से प्रेम रखते हैं। चन्दायन की ओर सर्व प्रथम ध्यान डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का गया। १९५२ या १९५३ ई० में, जब वे मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत की संजीवनी व्याख्या प्रस्तुत करने में लगे हुए थे, उन्हें रामपुर पुस्तकालय से पद्मावत की फारसी लिपि में अंकित जो प्रति उपलब्ध हुई, उसके प्रथम पृष्ट पर चन्दायन के नामोल्लेख के साथ उन्हें चार पंक्तियां अंकित मिलीं। उन्होंने उन्हें अपनी पद्मावत् की भूमिका में उद्धृत किया है। वे इस प्रकार हैं—

**कोयल जेस फिरों सब रूखा। पिउ पिउ करत जीभ मोर सूखा॥**
**बँनखंड बिरिख रहा न कोई। कवन डार जेहि लाग न रोई॥**[3]
**एक बाट गई हरदीं, दूसर गयी महोब।**
**उभ बाँह के चांदा विनबे, कौन बाट हम होब॥**

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४ (सं० २००६), पृ० ४२
२. भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, प्रयाग, १९५६ ई०, पृ० ८८
३. पद्मावत, संजीवनी व्याख्या, चिरगांव (झांसी), १९५६ ई०, पृ० १२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उन दिनों मैं काशी विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में सहायक संग्रहाध्यक्ष था और अग्रवाल जी के निकट सम्पर्क में था। अतः 'चन्दायन' की उपर्युक्त पंक्तियों से तत्काल मेरा ध्यान भारत कला भवन में संग्रहीत अपभ्रंश शैली के उन छः चित्रों की ओर गया जिनकी पीठ पर फारसी लिपि में आलेख है। ये चित्र बीसों वर्ष पूर्व राय कृष्णदास को काशी के गुदड़ी बाजार में दिखाई पड़े थे। उनकी कला पारखी दृष्टि से उसका महत्व छिपा न रह सका और वे उन्हें कदाचित दो-दो आने में खरीद लाये थे। कला के इतिहास की दृष्टि से इन चित्रों का अत्यधिक महत्व है तथा उनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति है और वे भारतीय कला से सम्बन्ध रखने वाले अनेक ग्रन्थों में प्रकाशित हो चुके हैं। राय कृष्णदास जी ने पृष्ठांकित आलेखों को पढ़ कर इतना तो अनुमान कर लिया था कि वे किसी अवधी काव्य के पृष्ठ हैं पर वे किस काव्य के पृष्ठ हैं इसका उन्हें कोई अनुमान न हो सका था। अतः कला-पुस्तकों में इन चित्रों की चर्चा सर्वत्र अज्ञात अवधी काव्य के पृष्ठे के रूप में हुई है। जब मैंने इन चित्रों के आलेखों की परीक्षा की तो उन आलेखों में जहाँ तहाँ लौरक (काव्य के नायक) और चन्दा (काव्य की नायिका) का नाम मिला और तब इस बात में मुझे तनिक भी सन्देह न रहा कि वे पृष्ठ "चन्दायन" के ही हैं। मेरे इस शोध के परिणाम स्वरूप कला-क्षेत्र में यह बात स्वीकार कर ली गयी कि वे चित्र "लौर-चन्दा" के ही हैं।[१]

कला के क्षेत्र में "चन्दायन" की जानकारी इससे भी पहले थी। भारत के विभाजन से पूर्व पंजाब संग्रहालय में २४ चित्रों की एक माला थी, जो मूलतः पुस्तक के पृष्ठ थे। उनके पीछे भी फारसी लिपि में आलेख थे। उन आलेखों से युक्त संग्रहालय के संग्रहाध्यक्ष को इतना पता लग गया था कि वे चित्र लौर और चन्दा नामक प्रेमी-प्रेमिका से सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु उन्हें उस प्रेम-काव्य का नाम ज्ञात न था। अतः उन्होंने अपने संग्रहालय के चित्रों की जो सूची प्रकाशित की, उसमें इन चित्रों का परिचय इसी प्रकार दिया है।[२] इन चित्रों की एक विस्तृत विवेचना कार्ल खण्डालावाला ने बम्बई की सुप्रसिद्ध कला पत्रिका "मार्ग" के एक अंक में किया है। वहाँ उन्होंने इन चित्रों को लौर-चन्दा सीरीज का नाम दिया है।[३] फलतः कला भवन वाले चित्र भी "लौर-चन्दा" सीरीज के दूसरे नमूने के रूप में स्वीकार किये गये।

रामपुर, काशी और पंजाब की इन तीन प्रतियों के अतिरिक्त एक चौथी प्रति की जानकारी १९५३-५४ ई० में हुई। पटना कालेज के इतिहास के प्राध्यापक सैयद हसन असकरी, इतिहास के विद्वान होने के अतिरिक्त उर्दू-हिन्दी साहित्य के भी प्रति रुचि रखते हैं और प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज उनका एक व्यसन है। अपने इस व्यसन के परिणाम स्वरूप उन्हें अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का श्रेय प्राप्त हो चुका है। उस वर्ष उन्हें मनेर शरीफ के खानकाह

---

१. ललित कला, दिल्ली, अंक १-२, पृ० ७०, पा० टि० ३

२. केटलाग आव द पेंटिंग्ज इन द सेंट्रल म्यूजिम, लाहौर, चित्र के० ७-३०

३. मार्ग, बम्बई, भाग ४, अंक ३, पृ० २४



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के सज्जादनशीन और उनके भाई मौलवी मुरादुल्ला के पुराने ग्रन्थों के बस्तों को टटोलते हुये "चन्दायन" के ६४ पृष्ठों की एक खण्डित प्रति मिली। वे उस समय केवल इतना ही जान पायें कि वह हिन्दी का कोई अज्ञात ग्रन्थ है। वे उसे अपने साथ ले आये। संयोग से श्री वासुदेवशरण अग्रवाल उन्हीं दिनों पटना गये। असकरी साहब ने उनसे इस ग्रन्थ की चर्चा की और दिखाया। उस समय दोनों विद्वानों ने उसका सूक्ष्मपरीक्षण किया। फलस्वरूप वे भी 'चन्दायन' के पृष्ठ सिद्ध हुए। असकरी साहब ने इस प्रति के सम्बन्ध में अंग्रेजी और उर्दू पत्रों में कई लेख प्रकाशित किये हैं।[1]

इस प्रति के ज्ञात होने के कारण ही एक अन्य प्रति का पता चला। यह प्रति भी खण्डित है। उसमें भी ६४ पृष्ठ हैं किन्तु उसकी विशेषता यह है कि वे पृष्ठ चित्रित हैं, अर्थात् काशी और पंजाब वाली प्रतियों की तरह ही इनके एक ओर चित्र और पीठ पर फारसी में अभिलेख हैं। यह प्रति भोपाल के एक मुस्लिम परिवार में थी। उसके स्वामी चित्रों के कारण उसे मूल्यवान तो समझते थे पर वे चित्र वस्तुतः क्या हैं, इसका उन्हें कुछ पता न था। अतः १९५४ ई० में भारतीय पुरातत्व विभाग के अरबी-फारसी अभिलेखों के विशेषज्ञ पी० बी० देसाई भोपाल गये तो उन्हें वह चित्राधार दिखाया गया। देसाई महोदय उन्हीं दिनों पटना होकर आये थे और असकरी साहब ने उन्हें अपनी चन्दायन वाली प्रति दिखायी थी। अतः देसाई महोदय को भोपाल वाली प्रति को उलटते-पुलटते यह समझने में देर न लगी कि वह भी चन्दायन की ही प्रति है। यह ज्ञात होते ही चन्दायन की सचित्र प्रति के रूप में उसका महत्व और बढ़ गया। उसे १९५५-५६ ई० में किसी समय बम्बई के प्रिन्स आव वेल्स म्यूजियम ने क्रय कर लिया।[2]

इस प्रकार पुरातत्विदों और इतिहासकारों के खोज के परिणाम स्वरूप १९५५ ई० तक "चन्दायन" की फारसी लिपि में लिखित चार खण्डित प्रतियाँ ज्ञात हुई। ये सारी प्रतियों में इस दृष्टि से एक रूपता है कि उनमें से प्रत्येक के एक पृष्ठ पर केवल एक कड़वक अंकित है। एक कड़वक में पांच पंक्तियाँ चौपाइयों की और अन्त में एक दोहा है। (जायसी के पद्मावत में एक कड़वक में चौपाइयों की सात पंक्तियाँ हैं)। प्रत्येक कड़वक के आरम्भ में फारसी में शीर्षक स्वरूप कड़वक में कही बात का सारांश दिया हुआ है। उपर्युक्त चार प्रतियों में से पंजाब वाली प्रति तो दुष्प्राप्य है। अतः अभी उसके किसी विद्वान् द्वारा उपयोग किये जाने की कोई संभावना नहीं जान पड़ती। शेष प्रतियों की पृष्ठसंख्या संयुक्त रूप से १३० होती है पर उनमें कितने ही कड़वक ऐसे हैं जो दो वा अधिक प्रतियों में उपलब्ध हैं। अतः इनसे १००-११० के आसपास कड़वक का ज्ञान हो सकता है। काशी और भोपाल वाले पृष्ठों का कोई क्रम उपलब्ध नहीं है। वे पूरे ग्रन्थ के बिखरे चित्र हैं और जिस रूप में हैं उनसे उनका कोई क्रम नहीं निर्धारित किया जा सकता। मनेरशरीफ की प्रति निसन्देह पुस्तक के खण्ड के रूप में मिली है। यद्यपि उसमें भी बीच बीच के पृष्ठ गायब हैं।

---

१. करेन्ट स्टडीज, पटना कालेज, १९५५, पृ० ६-१६; पटना युनिवर्सिटी जर्नल; १९६०, पृ० ६२

२. अप्रकाशित



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पर एक निश्चित स्थान के कड़वक होने के कारण उनके क्रम निर्धारण जैसी कोई कठिनाई नहीं है।

इन प्रतियों के पाठोद्धार और प्रकाशन का काम डा० माताप्रसाद गुप्त (प्रयाग) और डा० विश्वनाथ प्रसाद (आगरा) कर रहे हैं। दो वर्ष पूर्व ही उनके सम्पादित ग्रन्थ के प्रकाशित होने की सूचना आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी रिसर्च इन्स्टीट्यूट की ओर से की गयी थी पर अभी तक वह प्रकाश में नहीं आया। प्रकाशन में किन कारणों से विलम्ब हो रहा है ज्ञात नहीं। जो भी हो, उक्त प्रतियों के आधार पर किसी पुस्तक का प्रकाशन कोई विशेष महत्व नहीं रखता। कुछ अंश सामने आ जाने मात्र से, वह भी असम्वद्ध रूप में, 'चन्दायन' के मूल रूप की हमें कोई जानकारी नहीं हो पायेगी। हलकी सी झलक मात्र मिल सकेगी।

दूसरी ओर उपर्युक्त प्रतियों के ज्ञात होने की बात प्रकाश में आने पर रावत सारस्वत का ध्यान अपनी उस प्रति की ओर गया जो उनके पास बीसों बरस से पड़ी थी और जिसे डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अप्रमाणित समझा था। थोड़े दिन हुए उन्होंने अपने उस ग्रन्थ का परिचय "वरदा" में प्रकाशित कराया था। इस प्रति की उल्लेखनीय बात यह है कि वह राजस्थानी कामदारी लिपि में लिखी गयी है और संवत् १६७३ में फतहपुर में लिखी गई थी। इस प्रति में ४३८ कड़वक हैं। आरम्भ में श्रीनाम और अन्त में प्रशस्ति है, इन बातों के आधार पर सारस्वत जी की धारणा है कि उनकी प्रति पूर्ण है। किन्तु उन्होंने जो पाठ के उद्धरण दिये हैं, उनसे प्रकट होता है कि इस प्रति का पाठ काफी भ्रष्ट है। उससे 'चन्दायन' के मूल स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य है कि इस ग्रन्थ से, यदि वह वस्तुतः पूर्ण है, तो कथानक का रूप तथा विस्तार आदि कुछ बातें जानी जा सकेंगी और उपर्युक्त खण्डित प्रतियों के पृष्ठों का स्थान और क्रम निर्धारित हो सकेगा।

"चन्दायन" सम्बन्धी अनुशीलन कार्य की अभी एक कड़ी और है जिसका सम्बन्ध इन पंक्तियों के लेखक से है। काशी वाली प्रति मेरे शोध का परिणाम है, यह ऊपर कहा जा चुका है। भूपाल वाली प्रति उस संग्रहालय में है जहाँ मैं काम करता हूँ। अतः इन प्रतियों पर काम करने का प्रथमतः अधिकार मेरा होता है। मनेर शरीफ वाली प्रति का पाठ असकरी साहब कर ही चुके थे, अतः उसकी कोई बाधा थी ही नहीं। मैंने पाठोद्धार का काम आरम्भ किया और प्रथम वाचन भी १९५६ ई० में तैयार कर लिया। फारसी लिपि में लिखे हिन्दी ग्रन्थ को नागरी अक्षरों म रूपान्तरित करना कितना कठिन काम है, यह वही अनुमान कर सकते हैं जो उस कार्य से परिचित हैं। जब यह कठिन कार्य समाप्तप्राय था और उसके पाठ के स्वरूप का अन्तिम निश्चय करना शेष रह गया तभी किन्हीं लोगों की ओर से ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित की गयीं कि मेरे लिये आगे काम करना अनावश्यक हो गया। उसके बाद ही ग्वालियर के श्री हरिहरनिवास द्विवेदी बम्बई आये। वे 'चन्दायन' की कथा से सम्बन्ध रखनेवाले एक अन्य काव्य 'मैनासत' पर काम कर रहे थे। वे आग्रह करके मुझसे मेरे प्रथम वाचन की एक प्रति ले गये। ले जाते समय उन्होंने बार-बार आश्वासन दिया था कि वे उसे अपने तक सीमित रखेंगे, प्रकाशित नहीं करेंगे और प्रति वापस



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कर देंगे। किन्तु ग्वालियर जाकर वे अपना वचन भूल गये। उन्होंने अपनी पुस्तक में मेरे वाचन को उद्धृत किया और यही नहीं, मेरे बार बार तकाजा करने पर भी मेरी प्रति लौटाना तो दूर रहा पत्रोत्तर देने का सौजन्य भी दिखा न सके। इसी समय के लगभग, डा० माताप्रसाद गुप्त ने हमारे संग्रहालय के डाइरेक्टर को लिखा कि मेरा तैयार किया हुआ पाठ उन्हें दे दिया जाय। डा० मोतीचन्द जी ने उदारता दिखाई और मेरे पाठ की एक टाइप कापी उन्हें भिजवा दी गयी। और तब एक दिन असकरी साहब का एक लेख देखने में आया जिसमें उन्होंने भोपालवाली प्रति की एक टाइप की हुई कापी श्री उदयशंकर शास्त्री द्वारा प्राप्त होने की बात लिखी थी और उस प्रति के उद्धरण दिये हुये थे। यह प्रति मेरे प्रति की प्रतिलिपि थी अथवा श्री विश्वनाथप्रसाद जी की अपनी तैयार की हुई स्वतन्त्र प्रति की प्रति थी, इसके निर्णय और विवाद में मैं नहीं जाना चाहता। कहना केवल इतना ही है कि किसी संग्रहालय की किसी वस्तु की प्रतिलिपि या फोटो आदि यदि किसी को दी जाती है तो यह आशा की जाती है कि वह व्यक्ति स्वयं उस पर काम करेगा और उसे अपने तक ही सीमित रखेगा तथा प्रकाशन के पूर्व संग्रहालय के अधिकारियों की अनुमति ले लेगा। इस प्रकार की घटनायें घटते तथा अन्य अनेक लोगों द्वारा भोपाल की प्रति की प्रतिलिपि की माँग होते देखकर डा० मोतीचन्द्र जी ने यह मत प्रकट किया कि मुझे अपना पाठ प्रकाशित कर देना चाहिए। अस्तु।

पिछले वर्ष मैंने पुनः उस कार्य में हाथ लगाया। पाठ के अतिरिक्त उसमें अन्य आवश्यक सामग्री तथा सूचनायें प्रस्तावना के रूप में देना चाहता था। अतः उसकी सामग्री जुटाने में लग गया। यह कार्य करते समय मुझे अप्रत्याशित रूप से "चन्दायन" की फारसी लिपि में लिखी एक अन्य प्रति का पता चला जो लगभग सम्पूर्ण है। यह यूरोप के संग्रहालय में है। यह बात सामने आते ही यह अधिक उचित जान पड़ा कि वह प्रति प्राप्त की जाय और तब उसका भी पाठोद्धार कर 'चन्दायन' का पूर्ण रूप ही प्रकाशित किया जाय। इस ग्रन्थ की जानकारी के बाद अधूरे ग्रन्थ का प्रकाशन कोई महत्व नहीं रखता। अस्तु, काम रुक गया और उस ग्रन्थ का माइक्रो फिल्म प्राप्त किया गया। उसके पाठोद्धार का काम मैंने अब लगभग समाप्त कर लिया है।

इस नये ग्रन्थ की जानकारी के प्रसंग में ही एक अन्य खण्डित प्रति का भी पता चला जो अमेरिका के एक निजी संग्रहालय में है। इस प्रति की माइक्रो फिल्म अथवा प्रतिछवि भी शीघ्र ही प्राप्त हो जाने की आशा है।

इस प्रकार 'चन्दायन' एक अज्ञात ग्रन्थ नहीं रह गया है। साकार रूप में वह शीघ्र ही साहित्य प्रेमियों के हाथ में होगा। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से अवधी साहित्य का इतिहास चौदहवीं सदी तक पीछे जा पहुँचेगा। उसके भाषा के स्वरूप को लेकर अनेक प्रकार के विचारणीय प्रश्न शोधकों के सामने होंगे और जायसी के 'पद्मावत' के समान ही इस ग्रन्थ का मूल्यांकन आवश्यक होगा।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी

# संस्कृत काव्यशास्त्र में साहित्यतत्त्व

महामहोपाध्याय डॉ० पी० वा० काणे ने अंग्रेजी भाषा में लिखित अपने संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में साहित्य शब्द को संस्कृत में भी आज के ही समान वाङ्मय अर्थ में प्रयुक्त बतलाया है।. इस तथ्य की पुष्टि में उन्होंने केवल एक प्रमाण दिया है। वह है—

**'साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः' (विक्रमांकदेव चरित १।११)**

अर्थात—कवीन्द्र! साहित्यसमुद्र के मंथन से उद्भूत कर्णामृत की रक्षा करिए।'

यहाँ डॉ० काणे ने साहित्य का अर्थ वाङ्मय माना है और कर्णामृत का काव्य[1] संस्कृत के विराट् साहित्य में वाङ्मय अर्थ में साहित्य शब्द का केवल एक प्रयोग इस दिशा में आगे बढ़कर विचार करना आवश्यक ठहराता है, यद्यपि विद्वानों में यह धारणा इन दिनों इतनी दृढ़ हो चुकी है कि वे उक्त पद्य के कर्णामृत को काव्यामृत के रूप में बदलने लगे हैं।[2] वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र साहित्य शब्द के वाङ्मय अर्थ में प्रयोग का विरोध करता आया है। उस प्रकाश में उक्त पद्य के साहित्य और कर्णामृत शब्द भी दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। हम संक्षेप में संस्कृत काव्यशास्त्र में हुए साहित्य शब्द पर विचार तथा उस प्रकाश में उक्त पद्य का अर्थ उपस्थित करते हैं।

साहित्य शब्द मूलतः यौगिक शब्द है किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र में उसे योगरूढ़ माना गया है। यौगिक रूप में साहित्य शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—'स+हित+य'

यहाँ 'स' शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सह'[3] और 'सम'[4] इन दो शब्दों का संक्षिप्त रूप हो सकता है। 'य' शब्द भावार्थक 'ष्यञ्' प्रत्यय का शेष अंश है। दोनों का आधारभूत प्रधान शब्द है—'हित'। इसकी निष्पत्ति स्थापित या धारण करने अर्थ की √धा,[5] जानने और

---

१. 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' १९५१ का संस्करण, पृष्ठ ३२८ -

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका २०१७ का द्वितीय अंक 'काव्यों में अन्योक्ति' शीर्षक समीक्षा।

३. तेन सहेति तुल्ययोगे २।२।२८, वोपसर्जनस्य ६।३।८२।

४. समाश्रयविधि में 'समानाः' को योगविभाग से स्वतंत्र सूत्र माना गया है।

५. दधातेर्हिः ७।४।४२ से धा का हि।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



छोड़ने अर्थ की √हा अथवा √हि धातु में निष्ठार्थक 'क्त' प्रत्यय के योग से होती है। भाववाचक प्रत्यय समासयुक्त प्रकृति के बाद प्रयुक्त होते हैं तो संवन्ध के द्योतक हो जाते हैं,[1] अतः 'स' और 'हित' के मिलने पर ष्यञ् उनके संबंध का द्योतन करता है। इस प्रकार सहित शब्द का अर्थ होता है––'एक साथ स्थापित या ज्ञात और समान रूप से स्थापित या ज्ञात', तथा साहित्य शब्द का अर्थ होता है उनका सहभाव, साहचर्य या साम्य। इस दृष्टि से साहित्य शब्द द्वंद्व या द्वैतभाव की प्रतीति कराने में उतना ही सक्षम है जितना निर्द्वन्द्व और द्वैतातीत तत्त्व की प्रतीति कराने में ब्रह्म शब्द। इस प्रकार यौगिक अर्थ में शब्द निरुक्ति की दृष्टि से पादुकाओं का जोड़ा भी साहित्य कहा जा सकता है और उसका निर्माता साहित्यकार। संस्कृत काव्यशास्त्र ने इसे अपने विस्तृत अर्थ से खींचकर शब्द और अर्थ के जोड़े तक सीमित किया। आचार्यों में इसका श्रेय आनन्दवर्धन को है। उपलब्ध संस्कृत काव्यशास्त्र में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग पहली बार उन्हींने किया है[2]। उनका वाक्य है ––

'शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे . . .' (ध्वन्यालोक ४।६ वृत्ति)

यहाँ साहित्य शब्द केवल सहभाव के लिए प्रयुक्त है। यह तथ्य इस पंक्ति के पहले की इन पंक्तियों से स्पष्ट है ––

**'बन्धच्छायापि अर्थद्वयानुरूप शब्द संनिवेशः। अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति न। एवं हि सति अर्थानपेक्षचतुरमधुर-वचन-रचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे...'।**

अर्थात्––वास्तविक बंध सौन्दर्य शब्द श्लेप ही है। विशिष्ट अर्थ से रहित अक्षर रचना नहीं। वैसे तो निरर्थक किंतु सुहावने शब्दों की चतुराई भी काव्य कहला सकेगी। काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव से संभव माना गया है।

आनंदवर्धन ने व्यंजना के अतिरिक्त सभी काव्यतत्त्वों का उल्लेख उन्हीं अर्थों में किया है जिनमें उनके उद्भावकों को वे मान्य हैं। अतः निश्चित ही आनंदवर्धन ने यह पंक्ति भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्यलक्षण के आलोक में लिखी है। आनन्दवर्धन ने अपने निकट-पूर्ववर्त्ती आचार्य उद्भट का उल्लेख सम्मानपूर्वक किया है।[3] अभिनवगुप्त, प्रतीहारेन्दुराज

---

१. कृत्तद्धितसमासेभ्यः संबन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन––भर्तृहरि।

२. डॉ०-काणे ने साहित्य शब्द का प्रयोग राजशेखर (९०० शती) से पहले भी होने की संभावना व्यक्त की है। आनंदवर्धन का यह उल्लेख उनसे संभवतः अविदित है। श्री देशपांडे अपने मराठी में लिखित सुव्यवस्थित संस्कृत काव्यशास्त्र में 'शब्दार्थाचें साहित्य' अध्याय में साहित्य का उत्तम विवेचन करते हैं, किंतु साहित्य शब्द के आनंदवर्धन कृत प्रयोग को हम वहां नहीं पाते–– द्र० भारतीय साहित्य-शास्त्र, प्रकरण ६।

३. ध्वन्यालोक ३।२६ वृत्ति।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आदि के उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर विवरण नामक टीका लिखी थी।[१] अभी तक यह टीका मिली नहीं है। आनन्दवर्धन के साहित्यविवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट ने भामह के काव्यलक्षण में आए 'सहित' शब्द का अर्थ सहभावयुक्त ही किया होगा। इस प्रकार साहित्य शब्द का स्रोत भामह का ही काव्यलक्षण ठहरता है किन्तु जहाँ तक इसके प्रयोग का प्रश्न है वह सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने ही किया है।

भामह और आनन्दवर्धन के आधार पर साहित्यशब्द शब्द और अर्थ के सहभाव तक सीमित होकर भी विवाद का विषय बना रहा। शब्दार्थ के सहभाव का अभिप्राय सामान्यतः शब्द और अर्थ का परस्पर सहभाव ही होता है। इस दृष्टि से साहित्य शब्द संपूर्ण वाङ्मय का वाचक हो सकता है। व्याकरण[२] और मीमांसा[३] दर्शन में शब्द और अर्थ में नित्य और सहज (औत्पत्तिक) संबन्ध माना गया है। वाणी और अर्थ के सहभाव की चर्चा काव्यों में भी प्रचलित है। कालिदास के रघुवंश का 'वागर्थाविव...इत्यादि मंगल पद्य एतदर्थ प्रसिद्ध है ही। नीलकंठ दीक्षित का निम्नलिखित पद्य भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है--

'सव्यं वपुः शब्दमयं पुरारेरथत्मिकं दक्षिणमामनन्ति।
अङ्गं जगन्मङ्गलमैश्वरं तदर्हन्ति काव्यं कथमल्पपुण्याः॥

--शिवलीलार्णव १।१५।

अर्थात्—शंकर अर्धनारीश्वर हैं। उनका वामभाग वाणी (पार्वती) मय है और दक्षिण भाग अर्थ (स्वयं परमेश्वर) मय। इस प्रकार भगवान् शंकर का जगमंगल श्रीविग्रह ही काव्य है। उसे अल्पपुण्यवाले नहीं पाते।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों में केवल राजशेखर, कुन्तक, भोज और रुय्यक ने इस प्रश्न पर विचार किया है। अभिनवगुप्त का भावुक हृदय इस दिशा में मम्मट के शास्त्रीय हृदय के ही समान मूक है। इन दोनों महाप्रतिष्ठ आचार्यों ने काव्य शब्द को ही महत्व दिया, साहित्य शब्द को नहीं। उसका उल्लेख भी उनमें नहीं मिलता। यहाँ तक कि अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के साहित्य शब्द पर कोई विचार नहीं करते। उसे छोड़ जाते हैं। जब कि प्रत्यभिज्ञा के अव्यक्त उल्लेख पर भी वे लम्बा विवेचन, जो उस प्रसंग में आवश्यक नहीं, कर जाते हैं।[४] यह एक तथ्य है जो अन्वेषकों को संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वांगीण अध्ययन के लिए अभिनवगुप्त आदि के अतिरिक्त आचार्यों तक पहुँचने की शिक्षा देता है।

---

१. हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स—काणे पृ० १२१-२।

२. अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।

३. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः।

४. ४।६ ध्वन्यालोक की उद्धृत वृत्ति में आए साहित्य शब्द पर लोचन में कुछ नहीं कहा गया। साहित्य शब्द का उसमें प्रतीकात्मक ग्रहण भी नहीं हुआ जब कि आनंदवर्धन के-- 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः १।८ ध्व०; में आए प्रत्यभिज्ञेय शब्द से प्रत्यभिज्ञा की झलक या अभिनव गुप्त लोचन में अपने परमगुरु उत्पलाचार्य का प्रतिभिज्ञा संबंधी पूर्ण पद्य उद्धृत करते हैं।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



राजशेखर आदि उक्त चार आचार्यों में साहित्य संबंधी जो विवेचना मिलती है उसमें क्रमिक विकास निहित है। आनन्दवर्धन ने भामह के 'सहित' शब्द से साहित्य की निष्पत्ति की और उसका अर्थ सहभाव किया। राजशेखर ने इस सहभाव को और अधिक व्यवस्थित किया। उन्होंने उसमें 'यथावत्' विशेषण लगाया और साहित्यविद्या के निरूपण में लिखा :—

'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'। (काव्यमीमांसा २ अ०)

राजशेखर ने साहित्य-विद्या को आन्वीक्षिकी आदि सभी विद्याओं से अलग पांचवीं विद्या माना।[1] इससे स्पष्ट है कि वे साहित्य को इतर वाङ्मय से सर्वथा भिन्न मानते हैं तथापि वे इस भिन्नता का तात्त्विक निरूपण नहीं करते। वे 'यथावत्' (—अनुरूप जैसा चाहिए वैसा) शब्द देकर ही इस विषय को समाप्त कर देते हैं।

राजशेखर के समकालीन या उनसे कुछ ही दशक बाद के आचार्य कुन्तक ने भामह के काव्यलक्षण को पुनः दोहराया। उन्होंने कुछ विशेषताओं के साथ—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' ही काव्य का लक्षण बनाया। पुनः सहित शब्द के अर्थ का प्रश्न उठा। कुंतक ने पूर्वोक्त व्याकरण, मीमांसा आदि दर्शनों की ओर से शब्द और अर्थ के वाङ्मय व्यापी सहभाव को स्वतंत्र कारिका में इस प्रकार उपस्थित किया—

'शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतो यदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते।। (वक्रोक्तिजीवितम् १। १६)

'शब्द और अर्थ दोनों की प्रतीति सदा साथ होती है। काव्यलक्षण में उनके इस सहभाव का विधान कोई नवीन स्थापना नहीं।' कुन्तक ने इस आपत्ति को ठीक भी ठहराया। उन्होंने स्वयं कहा :—

'एतस्मिन् (वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसम्बन्धे) साहित्यशब्देनाभिधीयमाने कष्टकल्पनोपरचितानि गाङ्कुटादिवाक्यानि, असम्बद्धानि शाकटादिवाक्यानि च सर्वाणि साहित्यशब्देनाभिधीयेरन्। तेन पदवाक्यप्रमाणव्यतिरिक्तं किमपि तत्त्वान्तरं साहित्यमिति विभागोऽपि स्यात्।'
(वक्रोक्तिजीवितम् १।१६)

'शब्द और अर्थ के नित्य संबंध को साहित्य शब्द का अभिधेय अर्थ मानने पर कर्णकटु 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्'[2] इत्यादि व्याकरण सूत्र, इतना ही नहीं, गाड़ीवान आदि के ऊल-

---

झलक पा अभिनवगुप्त लोचन में अपने परमगुरु उत्पलाचार्य का प्रत्यभिज्ञा संबंधी पूर्ण पद्य उद्धृत करते हैं।

१. पंचमी साहित्यविद्येति यायावरीयः, सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः—का० मी० २ अ०।

२. पाणिनि सूत्र १।२।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जलूल वाक्य आदि सभी कुछ साहित्य शब्द के अभिधेय अर्थ होंगे। इससे साहित्य, व्याकरण, मीमांसा और न्याय से भी अलग साबित न होगा।'

इस प्रकार की आपत्तियों का कारण स्पष्ट करते हुए वे अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों पर फबती भी कसते हैं :—

**'यदिदं साहित्यं नाम तदेतावति निःसीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम्। न पुनरस्य परमार्थः मनाङ्मात्रमपि विचारपदवीमवतीर्णः। (वही)**

'साहित्यतत्त्व इस विशाल काव्यशास्त्र में केवल साहित्यशब्द से ही चर्चित है। इसका तात्त्विक विवेचन नहीं हुआ।'

अंत में कुंतक साहित्यशब्द की मार्मिक व्याख्या भी करते हैं :—

**'साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ।**
**अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।'**

**—१।१७ वक्रो०**

'शब्द और अर्थ का सौन्दर्य निष्पत्ति के प्रति बराबरी का प्रतिस्पर्धापूर्ण जमाव ही साहित्य है।' यहाँ साहित्य का अर्थ सहभाव की जगह साम्य किया गया है। यह तथ्य इस कारिका की वृत्ति से स्पष्ट है। उसका संक्षिप्त रूप यह है :—

**'शब्दार्थयोः सौन्दर्यश्लाघितां प्रति परस्पर-साम्य-सुभगमवस्थानं साहित्यमुच्यते।'**

साम्य भी उन्होंने शब्द का अर्थ या अर्थ का शब्द के साथ नहीं, अपितु शब्द का शब्द के साथ और अर्थ का अर्थ के साथ माना है। उनका उल्लेख है —

**'तच्च (साहित्यम्) वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य च वाच्यान्तरेण अभिप्रेतम्।'**

उक्त कारिका की वृत्ति अपने आपमें अपने प्रतिपाद्य साहित्य का उत्तम उदाहरण है। कुंतक ने यहाँ आचार्य के साथ कवि का भी कार्य किया है। कुंतक की साहित्य संबंधी इस मान्यता से आचार्य आनन्दवर्धन की निम्नलिखित कारिका स्मरण आ जाती है —

**'वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।**
**रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः'॥**

**—(ध्वन्या० ३।३२)**

'अर्थ और शब्दों का 'रसादिविषयक औचित्य-से युक्त संयोजन ही महाकवि का प्रमुख कर्म है।'

कुंतक ने अपने मत की तत्त्वात्मक व्याख्या भी की है। सौन्दर्याभिव्यंजक तत्त्वों को गिनाते हुए उन्होंने पूववर्ती संप्रदायों का समन्वय भी किया है। वामन के रीति संप्रदाय, आनन्दवर्धन ने ध्वनि संप्रदाय तथा भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट और स्वयं के अलंकार-संप्रदाय को साहित्य-पुष्प की पँखुडियाँ बतलाते हुए वे लिखते हैं:—



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादि गुणोदयः।
अलंकरणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः।
वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र ययास्वमुभयोरपि॥
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा।
पदादिवाक्परिस्पंदसारः साहित्यमुच्यते॥'

'साहित्य व्याकरण आदि का सार है। उसमें (१) वैदर्भी आदि रीतियों से सुभग माधुर्य आदि गुण (२) वक्रता की काष्ठागत महिमा से युक्त अलंकार और (३) परुषा कोमला किंवा कैशिकी सात्त्वती आदि वृत्तियों के अनुरूप संनिवेश से रसों का मनोमोहक परिपाक शब्द और अर्थ दोनों में रहता है।'

इस प्रकार कुंतक के अनुसार साहित्य एक काव्यतत्त्व सिद्ध होता है।

भोज ने कुन्तक के 'पदादिवाक्परिस्पन्दसार' शब्द की मानों स्पष्ट व्याख्या करते हुए शब्द.र्थगत-व्याकरण आदि के तत्त्वों को भी गिनाया —

**'तत् (काव्यं) पुनः शब्दार्थयोः संबन्धम् आमनन्ति। तद्यथा--शब्दार्थौ सहितौ काव्यमिति।...। (तत्र) किं साहित्यम्? यः शब्दार्थयोः संबन्धः। स च द्वादशधा—१ अभिधा, २ विवक्षा, ३ तात्पर्यम्, ४ प्रविभागः, ५ व्यपेक्षा, ६ सामर्थ्यम्, ७ अन्वयः, ८ एकार्थीभावः, ९ दोषहानम्, १० गुणादानम्, ११ अलंकारयोगः, १२ रसावियोगश्च।' (शृंगारप्रकाश १–२ गद्य, ७–१ तथा सरस्वती कंठाभरणम्–रत्नेश्वर।)**

'शब्दार्थ संबंध ही काव्य है। जैसा कि कहा गया है 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' साहित्य क्या है? शब्दार्थ का संबंध! वह बारह प्रकार का है: १ अभिधा, २ विवक्षा, ३ तात्पर्य, ४ प्रविभाग, ५ व्यपेक्षा, ६ सामर्थ्य, ७ अन्वय ८ एकार्थीभाव ९ दोषत्याग १० गुणग्रहण, ११ अलंकार निवेश और १२ रस का वियोग न होना।'

भोज ने वाक्य-प्रयोग को दो प्रकार का माना है सामान्य और सम्यक्। सामान्य प्रयोग के लिए अभिधा से एकार्थी भाव तक के आठ संबंध अपेक्षित हैं। सम्यक् प्रयोग में इन आठों के साथ दोषत्यागादि चार संबन्ध भी आवश्यक हैं। इस प्रकार इन बारहों संबन्धों के होने पर वाक्य प्रयोग काव्य कहा जा सकता है। अतः साहित्य इन बारहों संबंधों की समष्टि का नाम है। फलतः केवल आठ संबंधों के वाक्य प्रयोग सामान्य लोक व्यवहार और शास्त्र कहे जाते हैं। उनमें साहित्य का अभाव रहता है। भोज का आशय प्रत्येक संबंध को साहित्य मानने का नहीं। यह बारह सम्बन्ध उस साहित्यरूपी संबन्ध के अवयव रूप से ही भोज को मान्य है। इस प्रकार भोज साहित्य को वाङ्मयपरक नहीं मानते। उनके इस विवेचन से कुंतक की '-वाचक का वाचक और वाच्य का वाच्य के साथ साहित्य' वाली मान्यता की कहाँ तक पुष्टि होती है यह स्वतंत्र रूप से विवेचनीय है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



क्षेमेन्द्र ने साहित्य को स्पष्ट रूप से वाङ्मय से भिन्न उसकी एक इकाई माना है। वृहत्कथा मंजरी के उपसंहार में (पद्य ३७) में वे निज को 'साहित्य' में अभिनवगुप्त का शिष्य कहते हैं। सुवृत्त तिलक में काव्यलक्षण ही (३।४)—'काव्यं विशिष्टशब्दार्थ साहित्यंसदलंकृति'—इस प्रकार है। किंतु वे साहित्य पर स्वतंत्र विचार नहीं करते।

साहित्य मीमांसा ग्रन्थ के रचयिता यदि रुय्यक ही हैं तो उन्होंने भोज के इन्हीं बारह तत्वों को गिनाया है। साहित्य मीमांसा कुन्तक और भोज के सिद्धान्तों पर ही निर्भर है। उसमें साहित्य का विवेचन इन दोनों आचार्यों के विस्तृत उद्धरणों द्वारा किया गया है। उसके अज्ञात निर्माता ने कुन्तक के साहित्य विचार को सदोष और अति संकुचित ठहराया है। कुन्तक के ऊपर उद्धृत संपूर्ण ग्रन्थ को उद्धृत कर अन्त में वे कहते हैं—

"परिष्कारः साहित्यमिति तेषां मतम्। वयं तु शब्दार्थयोः संमेलनमात्रम् उक्तिरूपं साहित्यं शास्त्राख्यानादिसाधारणम्, परिष्कारविशिष्टं च तत् (साहित्यं) काव्यं मन्यामहे।"
(साहित्य मीमांसा--पृष्ठ १४-१५ त्रिवें० सं०)

'उन (कुन्तक) के अनुसार विवक्षा आदि का परिष्कार ही साहित्य है। हम केवल शब्दार्थ संबन्ध को साहित्य मानते हैं, और उनके परिष्कार को काव्य।' इस प्रकार कुन्तक काव्य को ही साहित्य मानते हैं। साहित्य मीमांसाकार साहित्य को वाङ्मय और काव्य को उसका परिष्कृत रूप। परिष्कार के लिए उन्होंने भोज द्वारा श्रृंगार प्रकाश (१।१२) और सरस्वती कण्ठाभरण में गिनाए दोषहान, गुणाधान, अलंकार योग और रसान्वय—इन्हीं चार तत्त्वों को आवश्यक माना है। भोज के मत को परिष्कृत करते हुए वे लिखते हैं—

"भोजराजादयः शब्दार्थयोरभिधादि द्वादश विधं संबन्धं साहित्यमाचक्षते। तत्र चरमं चतुष्टय मागमापायित्वात् साहित्यस्वरूपं न प्रविशति। तस्मात् तत् (चतुष्टयं) परिष्कारत्वेन निष्कृष्टम्।" (सा० मी० त्रिवेन्द्रम् सं० पृ० १२ का सार मात्र)

भोजराज आदि ने शब्द और अर्थ के अभिधा आदि (ऊपर गिनाए) बारह संबन्धों को साहित्य कहा है। इनमें जो दोषहान आदि अंतिम चार सम्बन्ध हैं, वे शब्दार्थ युग्म में सदा नहीं रहते, आगमापायी हैं। अतः उन्हें हमने परिष्कार रूप से पृथक गिनाया है।

इस प्रकार साहित्य मीमांसाकार साहित्य को काव्य से सर्वात्मना भिन्न मानते हैं। किन्तु अपने परवर्ती ग्रन्थों में साहित्य मीमांसाकार कुन्तक का सिद्धान्त ही साहित्य के लिए अपना लेते हैं।[1] व्यक्ति विवेक पर लिखी व्याख्यान नामक टिप्पणी में वे लिखते हैं—

---

१. अलंकारसर्वस्व--उत्प्रेक्षाप्रकरण पृष्ठ ७७नि० सा० सं० तथा व्यक्तिविवेक पृष्ठ २४३ चौ० सं० दोनों जगह साहित्य-मीमांसा को उनके लेखकों ने अपनी कृति कहा है। अभी तक



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयास्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं च तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्। (व्यक्तिविवेक, पृ० २६८, चौ० सं०)

'काव्य के शब्दार्थ साहित्ययुक्त होते हैं। साहित्य है उनकी तराजू पर तुली सी बराबरी।'

स्पष्ट ही इन पंक्तियों पर भट्ट नायक के—

'शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थे तत्त्वेन युक्तेतु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापार प्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्।'

'शब्द प्रधान श्रुति स्मृति आदि शास्त्र हैं, पुराण आदि उनके आख्यान अर्थ-प्रधान हैं। काव्य दोनों नहीं, व्यापार प्रधान हैं।'—इन अभिप्रायों की छाया तो है ही कुन्तक का अनुकरण भी है। कुन्तक ने साहित्य-तत्व की व्याख्या में, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, शब्दों और अर्थों की 'अन्यूनानतिरिक्त अवस्थिति' निर्धारित की है। रुय्यक की 'तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनान तिरिक्तत्वम्' पंक्ति उसकी निखरी हुई प्रतिभा है।

इस प्रकार साहित्य तत्त्व का निर्वचन कुन्तक से विशद होकर कुन्तक की मान्यता में ही पर्यवसित होता है। भोज और रुय्यक के बीच मम्मट का बड़भागी ग्रन्थ काव्यप्रकाश बना। उसकी काव्य लक्षण की विशेषताओं का भोज और रुय्यक के अंतिम चार गुणों में संनिवेश हो जाता है। मम्मट ने दोष के अभाव, गुण और अलंकार के उद्भव को शब्द और अर्थ में काव्यत्वाधायक तत्त्व माना है। गुण को ध्वनि संप्रदाय रस का अव्यभिचरित धर्म मानता है। अतः मम्मट के गुण तत्त्व में रस का संग्रह भी हो जाता है। इस प्रकार मम्मट का काव्यलक्षण और भोज तथा रुय्यक के सम्यक् प्रयोगात्मक वाक्य एवं साहित्य परिष्कार के गुण अभिन्न ठहरते हैं। इस प्रकार साहित्यतत्व एवं काव्यलक्षण में गिनाए गए तत्त्वों का व्यविस्थित विवेचन श्री देशपांडे ने अपने मराठी में लिखित भारतीय साहित्य-शास्त्र के छठे प्रकरण में किया है।

इस प्रकार भामह, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुंतक, भोज और रुय्यक—साहित्य शब्द को काव्यतत्त्वों के समष्टिवाचक शब्द के रूप में योगरूढ़ रूप से अपनाते हैं।

परवर्ती साहित्य में साहित्य शब्द काव्य और काव्यशास्त्र के लिए भी प्रयुक्त होने लगा था। भर्तृहरि के 'साहित्य-संगीतकला' इस त्रिक में साहित्यशब्द काव्यपरक ही है। श्रीहर्ष की 'साहित्ये सुकुमार वस्तुनि'—गर्वोक्ति में भी साहित्य का अर्थ काव्य ही है। मुकुल भट्ट को

---

यह निश्चित नहीं है कि इनके लेखक मंख हैं या उनके गुरु रुय्यक। काणे रुय्यक को ही मानते हैं। हमें भी यही ठीक लगता है। अनेक तत्वों से यह स्पष्ट है कि साहित्य-मीमांसा उसके रचयिता की अप्रौढ़ कृति है।

पौष-फाल्गुन १८८२ शक]

113067

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उनके शिष्य प्रतीहार इन्दुराज ने 'साहित्य रूपी श्री के लिए मुरारि' कहा है।[१] क्षेमेन्द्र ने निज को साहित्य में अभिनवगुप्त का शिष्य माना है।[२] मंख साहित्यविद् को कविकर्म रूपी तैलबिन्दु के लिए निर्मल जल मानते हैं।[३] यहाँ साहित्यशब्द साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र के लिए ही वस्तुतः प्रयुक्त है। यद्यपि इस शास्त्र का मूल लक्ष्य साहित्यतत्त्व का ही विवेचन है। शास्त्र के लिए साहित्य शब्द विद्या शब्द के साथ प्रयुक्त हुआ है। बिल्हण[४] के 'कुण्ठत्वमायातिगुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु' के साहित्यविद्या शब्द में और उनके पूर्ववर्ती राजशेखर के 'साहित्य-विद्या' शब्द में कोई अन्तर नहीं।' यद्यपि नीलकण्ठदीक्षित--'साहित्यविद्याजयघण्टयैव संवेदयन्ते कवयो यशांसि।[५] और 'साहित्यविद्यां पदमेकमेव सर्वानवद्यामपि हन्ति दुःस्थम्'[५]--प्रयोग उनके 'साहित्यमेकं तु गिरां सवित्र्यास्तारुण्यमुद्गाढमुशन्त्यभिज्ञाः,[५] 'निर्वेद भी शोक जुगुप्सितान्य-प्यायान्ति साहित्यपथे रसत्वम्'[५] में आए काव्यार्थक साहित्य और साहित्यपथ के ही अर्थ में हुए हैं।

इस प्रकार बारहवीं शती तक साहित्य शब्द यौगिक अर्थ से हटकर अपने योगरूढ़ अर्थ में उपनिषदों के ब्रह्मशब्द और स्मृतियों के धर्मशब्द के ही समान सार्वभौम प्रतिष्ठा पा चुका था। उसके नाम पर 'साहित्य दर्पण' आदि तीस ग्रंथों की सूची डॉ० काणे ने अपने संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में दी है। यद्यपि यह विचित्र तथ्य है कि साहित्यदर्पण में साहित्य शब्द पर विचार नहीं किया गया।

'साहित्यपाथोनिधि' और 'कर्णामृत' शब्दों के अर्थ स्पष्ट करने के लिए साहित्य और काव्य का संबंध थोड़ा और विचारणीय है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है--एक सामान्य अर्थ में और दूसरा विशेष अर्थ में। सामान्य अर्थ में काव्य शब्द अभिनेय और अनभिनेय, दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के साहित्य के लिए प्रयुक्त है। भरतमुनि नाट्य को ऐसा खिलौना बतलाते हैं जो दृश्य भी है और श्रव्य भी।[६] वे नाट्य के लिए काव्य भी कहते है। नाट्यभावों की व्याख्या में 'काव्यार्थान् भावयन्ति' (७अ) लिखते हैं। भामह काव्य को सर्गबंध और अभिनेयार्थ दो भागों में बाँट

---

१. मीमांसासारमेघात् पदजलधिविधोस्तर्क माणिक्यकोशात् साहित्य श्रीमुरारेबुध-कुसुममधोःसौरिपादाब्जभृंगात्। श्रुत्वा सौजन्य सिन्धोर्द्विजवरमुकुलात् कीर्तिवल्यालवालात् काव्यालंकारसारे लघुविवृतिमधात् कौकणः श्रीन्दुराजः'--उद्भट के का० सा० सं० का टीकान्त।

२. श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधसागरात्--बृहत्कथामंजरी उपसंहार, ३७ पद्य

३. 'विना न साहित्यविदा परत्र गुणः कथंचित् प्रथते कवीनाम्।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव विस्तारमन्यत्र न तैलबिंदुः--श्रीकंठचरित २।१२

४. विक्रमांकदेव चरित १।१४

५. शिवलीलार्णव प्रथम सर्ग।

६. क्रीडनीयमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्--नाट्शास्त्र प्र० अ०।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सर्गबंध को महाकाव्य और अभिनेयार्थ को नाटक आदि बतलाते हैं।[1] दण्डी काव्य को, गद्य, पद्य और मिश्र भेदों में बाँट गद्य पद्य को आख्यायिका, महाकाव्य आदि में मान मिश्र को रूपक मानते हैं।[2] वामन ने काव्य को गद्य और पद्य में बाँट पद्य के निबद्ध भेद में महाकाव्य और दशरूपक की गणना की है।[3] रुद्रट ने निम्नलिखित एक ही पद्य में काव्य का सामान्य और विशेष दोनों अर्थों में प्रयोग किया है।

'सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये उत्पाद्य नुत्पाद्याः (काव्यालंकार १६।२)

'काव्य में काव्य कथा आख्यायिका आदि प्रवन्ध उत्पाद्य और अनुत्पाद्य दो प्रकार के होते हैं। उन्होंने आदि पद से रूपकों की गणना की है।[4] आचार्य आनन्दवर्धन काव्य को अभिनेयार्थ और अनभिनेयार्थ अर्थात् जिनका अर्थ--कथावस्तु अभिनेय हो और न हो—दो प्रकार का मानते हैं।[5] उन्होंने काव्य के अनेक भेदों में सर्गवन्ध और अभिनेयार्थ भेदों का नाम लिया है। इन पर अभिनवगुप्त की व्याख्या उल्लेख योग्य है।

महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गबन्धाः संस्कृत एव। अभिनेयार्थं दशरूपकम्।-(ध्वं० लो० ३।७)

अभिनव भारती में उन्होंने नाट्य के लिए काव्य शब्द का प्रयोग असकृत् किया है। वहीं नाट्य की परिभाषा में वे लिखते हैं—

'नाट्यं नाम नटगताभिनय प्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयः अर्थः।'(६।१५ नाट्यशास्त्र, बडौदा सं० पृ० २६६)

अभिनव गुप्त के गुरु का मत है कि रस ही नाट्य है।[6] भरत रस को काव्यार्थ[7] कहते हैं। अतः रसभूमिका पर काव्य और नाट्य अभिन्न हैं। महिम भट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में काव्य और नाट्य का विवेचन इस प्रकार किया है --

----------

१. भामह, काव्यालंकार १।१८,२४

२. काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद

३. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १।३।२६-२७

४. काव्यालंकार, रुद्रट १६।३६

५. ध्वन्यालोक ३।१० वृत्ति, पृष्ठ ३३२, चौखम्भा संस्करण।

६. लोचन चौ० सं० ३३६ पृ०, अभिनवभारती प्रथम से षष्ठ अध्याय तक पदे पदे, ६।१५, पृ० २६७

७. उक्तमेव मुनिना काव्यार्थान् भावयन्तीति (७ अध्याये) तत् काव्यार्थो रसः- अभिनवभारती पृ० २७८, अ० ६,



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**'कविव्यापारो हि...काव्यम्। तच्चाभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम्। सामान्येन तत् शास्त्रवत्...व्युत्पत्तिफलम्। केवलं व्युत्पाद्य...तारतम्यभेदात् काव्यनाट्यशास्त्र रूपः उपायभेदः कृतः, न फलभेदः (पृष्ठ ९५-९६ चौ० सं०)**

राजशेखर ने काव्यविद्या के अट्ठारह अधिकरणों में रूपकनिरूपणीय नामक अधिकरण भी गिनाया है।[1] वक्रोक्तिजीवितकार रसवदलंकार निरूपण में—तृतीय उन्मेष में नाट्य और काव्य के अभेद की ओर संकेत किया है।[2] आगे चतुर्थ उन्मेष में तो उन्होंने सर्गबन्ध तथा रूपकों की चर्चा स्पष्टरूप से की है।[3] काव्यप्रकाशकार मम्मट ने काव्यभेद तो नहीं गिनाए किंतु काव्यदोषों में नाटकों के उदाहरण अवश्य दिए हैं।[4] उनका काव्यलक्षण भी नाट्य में संगत हो जाता है। परवर्ती आचार्यों में पंडितराज जगन्नाथ को छोड़कर[5] अन्य सभी ने काव्य के उपर्युक्त भेद गिनाए हैं। इस प्रकार काव्य शब्द सामान्य और विशेष दो अर्थों में प्रयुक्त है। इनमें सामान्य अर्थ का काव्य और साहित्य दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

विशेष (श्रव्यकाव्य के) अर्थ में जहाँ काव्य का प्रयोग हुआ है वहाँ प्रायः उसके साथ नाट्य शब्द जुड़ा मिलता है। शब्द और अर्थ की वृत्तियों के विषय में आनन्दवर्धन लिखते हैं—'नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति' (३।३३ ध्व०)।[6] काव्यप्रकाशकार विभाव और कारण आदि में अन्तर दिखलाते हुए लिखते हैं—

**'कारणान्यथकार्याणि सहकारीणि यानि च। रत्यादेः स्थायिनो लोकेतानि चेन्नाट्य-काव्ययोः।**
**विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः'** (काव्यप्रकाश ४)

अभिनवगुप्त के रस सिद्धान्त में वे पुनः नाट्य और काव्य का इस प्रकार एक साथ उल्लेख करते हैं। 'लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च...।' (वही) रुय्यक ने साहित्य मीमांसा के साथ ही नाट्यमीमांसा भी लिखी थी।[7] पंडितराज जगन्नाथ नव्यों के रससिद्धान्त में काव्य और नाट्य का जोड़ा उपस्थित करते हैं—'काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु...' (रसगंगाधर प्रथमानन आरम्भ)। शान्तरस के प्रकरण में उनका यह वाक्य भी एतदर्थ उल्लेखनीय

---

१. काव्यमीमांसा अ० १

२. रसवतोऽलंकार इति पक्षे सर्वेषामेव रूपकादीनां रसवदलंकारत्वमेव न्यायोपपन्नतां प्रतिपद्यते—वक्रोक्तिजीवित ३।११ वृत्ति, पृ० ३५२, नगेन्द्र संस्करण।

३. वक्रोक्तिजीवित ४।१२,१३

४. काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास रसदोष प्रकरण।

५. पंडितराज केवल शब्द को काव्य मानते हैं। अतः नाट्य उसमें नहीं आता।

६. व्यक्तिविवेक में चौ० सं० के पृष्ठ ९६ पर काव्यनाट्य भेद भलीभांति स्पष्ट किया गया है। उसकी टीका में रुय्यक भी ६८, ९६, ९७ पृष्ठों पर काव्य नाट्य का युग्म उपस्थित करते हैं

७. व्यक्तिविवेक पर प्राप्त संस्कृत व्याख्यान पृ० २४३ चौ० सं०।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है —"यैरपि नाट्ये शान्तो रसो नांभ्युपगम्यते तैरपि बाधकाभावात् काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्य एव (वही)। प्रतापरुद्र यशोभूषण में नाट्य और काव्य के प्रकरण ही स्वतंत्र हैं।[1] इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में श्रव्यकाव्यों को दृश्यकाव्यों (नाट्यों) से अलग उपस्थित करने की परंपरा रही है।

उपर्युक्त दृष्टि से बिल्हण के 'साहित्य पाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः' पद्य में साहित्यशब्द 'काव्यसामान्य' अर्थ में प्रयुक्त है। इस पद्य का उत्तरार्ध है —

**'यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति'।**

यहाँ काव्य की चोरी की बात है। नाट्य केवल अभिनय का नाम है। उसकी चोरी संभव नहीं, न उसकी रक्षा के लिए आग्रह। वह श्रव्यकाव्य में ही संभव है। अतः उत्तरार्ध के 'काव्य' शब्द का अर्थ श्रव्यकाव्य है, जिसे भामह, आनन्दवर्धन और व्यक्तिविवेककार महिमाचार्य ने अभिनयार्थ (नाट्य) से भिन्न अनभिनेयार्थ कहा है।[2] पूर्वार्ध में 'कर्णामृत' शब्द निगीर्याध्यवसाना अतिशयोक्ति (जिसमें साध्यवसानगौणी लक्षणा द्वारा केवल उपमान का ही शब्दतः कथन होता है, उपमेय उसीसे आक्षिप्त होता है) द्वारा यही श्रव्यकाव्य विवक्षित है। श्रव्य = श्रोत्रेन्द्रिय = कर्ण का विषय ही सरस होने से अमृत कहा भी जा सकता है। यहाँ केवल श्रव्य की जगह पद्यात्मक श्रव्यकाव्य अभिप्रेत है, अतः संगीतयोग से भी वह अमृत कहा जा सकता है। इस पद्य के पूर्ववर्त्ती पद्य १।१० में कवि ने संगीतजनित काव्यसौन्दर्य के लिए स्वयं लिखा —

**जयन्ति ते पंचमनादमित्र चित्रोक्ति संदर्भ विभूषणेषु।**
**सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती।।**

'वे कवि धन्य हैं, जिनके कोकिल स्वर से सुन्दर विचित्र महाकाव्य से विभूषित मुख में सरस्वती वीणा संचार के साथ मानो सदा विराजमान रहती है।'

इस पद्य के निर्माता का काव्य है भी सर्गबंध। उन्होंने इसके निर्माण में वैदर्भी[3] रीति और रसध्वनि की महती उपासना की है। उनका प्रतिबंध है —

**'रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।**
**तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम्।।**
**(विक्रमांदेव चरित १।२२)**

---

**१. श्री शंकर राम शास्त्री द्वारा १९५० में मइलापुर मद्रास से तृतीय बार संपादित तथा प्रकाशित संस्करण।**

**२. व्यक्तिविवेक पृष्ठ ९५ चौ० संस्करण, काव्यमभिनेयानभिनेयार्थावेन द्विविधम्।**

**३. 'अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वती विभ्रमजन्मभूमिः। वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूःपदानाम्। १।९**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'जो रसध्वनि पथ के स्वैरगामी पथिक हों, जिन्हें वक्रोक्ति के रहस्य की छाप प्राप्त हो, वे ही हमारे उत्कृष्ट प्रबंध को समझें और लोग उसे तोते के समान रटें।'

उन्होंने अपने काव्य को सुवर्ण और विदग्ध चित्तों को उसके अनुरूप कसौटी कहा है।[1] इस प्रकार बिल्हण अपने काव्य को महत्त्व देते हैं। कदाचित् उन्हें 'नाटकान्तं कवित्वम्'—सूक्ति अथवा —'संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः, ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः। दशरूपकस्यैव हीदं विलसितं यदुत कथाख्यायिके महाकाव्यमिति' (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।३।२६-७ वृत्ति)

'कथाकाव्यों में नाटक आदि दशरूपक अधिक अच्छे होते हैं। उन्हीं से अन्य काव्य बनते हैं। दश प्रकार के रूपकों का ही विलास कथा आख्यायिका और महाकाव्य आदि हैं।'—इस अपने पूर्ववर्ती प्रतिष्ठित आचार्य वामन की स्थापना का संस्कार रहा। उसीके उत्तर में उन्होंने उक्त पद्य में लिखा—'गद्य पद्यात्मक, श्रव्य दृश्यात्मक विविध भाषाओं के काव्य अवश्य ही आदरणीय हैं। किंतु उनमें संस्कृत पद्यों में लिखित महाकाव्य नामक सर्गबंध सर्वश्रेष्ठ है। सभी काव्य यदि दूध के समुद्र हैं तो संस्कृत महाकाव्य उसके मंथन से उद्भूत अमृत, जिसके पान का साधन है विदग्ध पुरुषों की श्रोत्रशुक्ति।' अन्य भाषाओं के काव्यों के प्रति उन दिनों की लोकरुचि उतनी परिष्कृत न थी जितनी संस्कृत काव्यों के प्रति। यहाँ 'कवीन्द्र' शब्द का स्पष्ट अर्थ महाकवि है।

इस प्रकार बिल्हण का उक्त पद्य भी साहित्य के वाङ्मय अर्थ में अधिक दृढ़ प्रमाण नहीं ठहरता। फलतः संस्कृत काव्यशास्त्र और संस्कृत काव्यों की लम्बी परम्परा में साहित्य शब्द यौगिक अर्थ में प्रयुक्त न हो योगरूढ़—काव्यसामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ मिलता है। उसके वाङ्मय अर्थ का तो वहाँ प्रयत्नपूर्वक निराकरण किया गया है।

---

**१. 'अलौकिकोल्लेख समर्पणेन विदग्धचेतः कषपट्टिकासु।**
**परीक्षितं काव्यसुवर्ण मेतल्लोकस्य कण्ठाभरणत्वमेतु।—विक्रमांदेवचरित १।२४ अलौकिक उल्लेख–खरे सोने की चमचमाती (कसौटी पर) रेखा और परामर्श नामक काश्मीरी दर्शन की संवित्ति।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर प्रेमनारायण टंडन

# 'सूर-सारावली' में कवि के आत्मकथन

किसी रचना के ऐसे वाक्य जो किसी भी प्रकार से उसके रचयिता के व्यक्तित्व या कृतित्व पर प्रकाश डालने में सहायक होते हैं, 'आत्मकथन' कहलाते हैं। ऐसे कथन, स्थूल रूप से, दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो कवि की जीवनी विषयक तथ्यों की जानकारी कराते हैं और दूसरे जो कवि के स्वभाव या उसके विविध आदर्शों पर प्रत्यक्ष प्रकाश डालने में सहायक होते हैं। 'सारावली' में दोनों प्रकार के 'आत्मकथन' मिलते हैं।

**क. जीवन-चरित संबंधी आत्मकथन**—'सारावली' में ऐसे आत्म-कथनों की संख्या तीन है, जो इस प्रकार हैं—

**१. कछु संक्षेप 'सूर' अब बरनत लघुमति दुर्बल बाल—१५७।**

**२. महिमा सिंधु कहाँ लगि बरनै 'सूरज' कवि मतिमंद——६९९।**

**३. गुरुप्रसाद होत यह दरसन, सरसठ बरस प्रबीन,**
**सिव-विधात तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन——१००२।**

प्रत्येक कवि की जीवनी के लिए हमारे आलोचक सबसे पहले अंतःसाक्ष्यों की खोज करते हैं। सूरदास का जीवन-चरित्र लिखते समय भी उनके अध्येता इनका आधार लेते हैं। ऊपर के तीनों उद्धरण 'सारावली' के ही हैं; परन्तु इनमें से प्रथम दो को कदाचित् किसी भी आलोचक ने उद्धृत नहीं किया है। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि इनमें कवि की जीवनी विषयक कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है और दूसरे 'लघुमति' और 'मतिमंद' को कवि की विनय भावना के अंतर्गत समझ लिया गया है; परन्तु तीसरे उदाहरण के 'प्रवीन' शब्द की व्याख्या में 'सूर निर्णय'-कार जब यह लिखते हैं—'इन लीलाओं के समझने में सूरदास उस समय 'प्रवीन' हो चुके थे, अतः उन्होंने अपने लिए 'प्रवीन' शब्द का भी प्रयोग किया है। इन लीला-भावनाओं के ज्ञान में प्रवीणता की नितान्त आवश्यकता है; क्योंकि जब तक लीला-भेद नहीं जाना जाय, तब तक इन भावनाओं का वास्तविक ज्ञान भी नहीं हो सकता' (सूर-निर्णय, पृ० १४०); तब स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि जो कवि 'सरसठ बरस प्रवीन' होने की बात कह रहा है, वही अपने लिए 'लघुमति दुरबल बाल' क्यों कहता है और आगे चलकर 'कवि मतिमंद' कहकर उसकी पुष्टि क्यों करता है? इतना तो निश्चित है कि 'सारावली' कार अपने को कवि समझता है, जैसा कि उसके निम्नलिखित कथनों से भी स्पष्ट है—



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**१. अंस कला अवतार स्याम के कवि पै कहत न आवै --३५४।**

**२. रति अरु काम प्रगट ता दिन तैं, कवि मिलि कीरति गाई--६९८।**

यदि दूसरे छंद में प्रयुक्त 'कवि मिलि' का तात्पर्य अन्य कवियों से भी मान लें, तब भी प्रथम उदाहरण का 'कवि' शब्द स्पष्टतः सूचित करता है कि 'सारावली' का रचयिता अपने को कवि मानता है। तब वह एक स्थान पर अपने 'लघुमति' और 'मतिमंद' तथा दूसरे स्थान पर 'प्रबीन' क्यों कह रहा है? यह तो संभव नहीं है कि 'दरसन' की चर्चा के पूर्व का अंश पहले की अवस्था का है और 'दरसन' होते ही उसे 'प्रवीणता' प्राप्त हो जाती है। तब क्या उक्त विरोधी प्रयोग कवि की असावधानी नहीं सिद्ध करते जिससे 'सूर-निर्णय' कारों की 'प्रबीन' की व्याख्या ही विवाद का विषय बन जाती है?

'सूर-सागर' में भी अनेक स्थानों पर सूरदास ने अपने लिए 'कवि' शब्द का प्रयोग किया है; यथा --

**१. तौ जानिहौं जौ मोहिं तारिहौ सूर कूर कवि ढोट--१-१३२।**

**२. कवि उपमा बरनै कछु छोटी--१०-१६५।**

**३. बारबार जमुहात सूर प्रभु इहिं उपमा कवि कहै कहा री।--१०-२८८।**

**४. दामिनि घन पटतर दीजै क्यौं सकुचत कवि लिए नाम--२१८१।**

**५. कनक जटित जराइ बीरे कवि जु उपमा पाइ --२८३१।**

परन्तु उक्त उदाहरणों में कहीं 'प्रवीण' या उसी अर्थ के द्योतक किसी शब्द का प्रयोग कवि ने अपने लिए नहीं किया है। ऐसी स्थिति में 'सूर-निर्णय'-कारों की 'प्रवीण' शब्द की व्याख्या क्या ठीक कही जा सकती है और क्या 'सूरसागर' के कथनों से उस अर्थ की संगति बैठती है?

दूसरी शंका यह है कि पहले उदाहरण में 'सारावली'-कार ने अपने लिए 'बाल' शब्द का प्रयोग किया है और तीसरे में 'सरसठ बरस' की अवस्था का उल्लेख मिलता है। इस स्पष्ट विरोधी कथनों के संबंध में 'सारावली' की प्रामाणिकता के पोषकों का क्या मत है?

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने 'सूरज कवि' नाम को लेकर अनुमान किया है--"यह सूरज कवि वह व्रजवासी बालक, अनुमान से, जान पड़ता है, जो, नागरीदास जी के अनुसार, व्रज में 'द्वै तुकिया होरी के भड़ौआ' गाता फिरता था और जिसे गोस्वामी जी ने 'भगवत-जस' वर्णन करने का उपदेश दिया था। संभव है, गोस्वामी जी का उपदेश मानकर कालान्तर में उसी ने 'सारावली' के नाम से होली का वृहद् गान रच दिया हो"--('सूरदास', पृ० १०५)। डॉ० वर्मा ने स्पष्ट तो नहीं लिखा है, परन्तु जान पड़ता है 'सारावली' के उक्त 'बाल' शब्द और 'होली' के रूपक से ही उनका ध्यान नागरीदास के उक्त कथन की ओर गया होगा। जो हो, 'सूर-निर्णय' में तो नहीं, 'सारावली' की भूमिका में श्री प्रभुदयाल मीतल ने नागरीदास के उल्लेख उद्धृत किये हैं ('सारावली'--मीतल, भूमिका पृ० २८) और अन्त में कहा है--इससे सिद्ध होता है,



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नागरीदास कृत 'पदप्रसंग-माला' के होली गायन में जिस 'ब्रजवासी बालक' का उल्लेख है, वह अष्टछापी सूरदास के अतिरिक्त कोई अन्य 'सूरज कवि' है (वही, पृ० ३०)। डॉ० वर्मा ने जिस बात का केवल 'अनुमान' किया था, उसका निराकरण मीतल जी ने कर दिया है।

हमारी सम्मति में, 'लघुमति' और 'मतिमंद' का प्रयोग सामान्य शालीनता या विनम्रता दर्शाने के लिये हुआ है और 'प्रवीन' असमर्थ प्रयोग है जो केवल तुक-निर्वाह के लिए लिखा गया है और जिसका 'परिपक्व' अर्थ, सरसठ वर्षीय अवस्था से जोड़ा जा सकता है, जैसा कि डॉ० मुंशीराम शर्मा का मत है—(सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ४)। कवि ने उस शब्द के द्वारा अपनी प्रवीणता की ओर किसी प्रकार संकेत नहीं किया है। इसी प्रकार 'लघुमति दुरबल बाल' 'सूर-सागर' के 'सूर कूर कवि ढोट' का असमर्थ-सा अनुवाद है; और 'ढोट' या 'ढोटा' का अर्थ 'बाल' या 'बालक' होता भी है।

अब उक्त कथनों के अर्थों पर विचार कीजिए! प्रथम दो कथन तो किसी आलोचक ने उद्धृत ही नहीं किये हैं, इसलिए उनके अर्थों में मतभेद होने का प्रश्न ही नहीं उठता; यों भी उनके अर्थ स्पष्ट ही हैं। तीसरे छंद को सूरदास के संबंध में कुछ भी लिखने वाले प्रायः प्रत्येक लेखक ने उद्धृत किया है और इसी के अर्थ के संबंध में उनमें मतभेद भी हैं।

तीसरा छंद श्रीकृष्ण की निकुंज-लीला-प्रसंग का है जिसमें कवि ने आराध्य और आराध्या के वे 'दर्शन' 'सरसठ' वर्ष की अवस्था में करने की बात कही है जो शिव और विधाता तक बहुत दिन तप करने पर भी नहीं प्राप्त कर सके। इस छन्द के प्रथम चरण के पाठ के संबंध में तो सभी आलोचक एकमत हैं; परन्तु उसके अर्थ 'कवि को गुरु-प्रसाद से सरसठ वर्ष की अवस्था में (निकुंज-लीला के) दर्शन हुए', से सब सहमत नहीं हैं। असहमति के कारण चार शब्द हैं—१. गुरु, २. दरसन, ३. सरसठ-बरस और ४. प्रवीन। इनमें से अंतिम शब्द 'प्रवीन' की चर्चा तो ऊपर की जा चुकी है; प्रथम तीनों के संबंध में यहाँ विचार करना है।

'गुरु' शब्द का संकेत डॉ० मुंशीराम शर्मा ने 'वल्लभाचार्य' जी से माना है (सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ६); परन्तु 'सूर-निर्णय'-कारों की सम्मति में उसका स्पष्ट संकेत गो० विट्ठलनाथ की ओर है; क्योंकि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य जी और गो० विट्ठलनाथ जी में कोई भेद नहीं समझते थे ('सूर-निर्णय', पृ० ११०) अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने 'पाद-टिप्पणी'-रूप में सूरदास के अंतिम पद का प्रथम चरण—'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो' उद्धृत किया है। हमारी सम्मति में इस पद के संबंध में डॉ० मुंशीराम शर्मा का ही मत ठीक है कि अपनी मृत्यु के समय उन्होंने गो० विट्ठलनाथ का नहीं, महाप्रभु वल्लभाचार्य का ही गुणगान किया था (भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृ० ४४९)। उस पद के दूसरे चरण में महाप्रभु का स्पष्ट नाम भी है—'श्री वल्लभ-नख-चंद- छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो'। यह दूसरी बात है कि गो० बिट्ठल नाथ के प्रति सूरदास में श्रद्धा-भाव रहा हो, परन्तु उनका 'गुरु'-भाव महाप्रभु के प्रति ही या और 'सारावली' के उक्त छंद का 'गुरु-प्रसाद' भी 'महाप्रभु की कृपा से' ही अर्थ देता है। इस अर्थ का संबंध दूसरी बातों से बैठता है या नहीं, यह यहाँ विचारणीय नहीं है; क्योंकि किसी प्रयोग



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



का वही अर्थ निकालना जिससे स्वनिर्णीत अन्य बातों का भी समर्थन हो जाय, शुद्ध अनुसंधानवृत्ति नहीं है। पहले उचित अर्थ का निर्णय करना और तब उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना, हमारी समझ में तो 'निर्णय-कार' के लिए यही उचित रीति है; अस्तु।

'दरसन' शब्द भी विवाद का कारण है। इसका अर्थ तो स्पष्ट है, परन्तु 'दर्शन' के प्रसंगार्थ के संबंध में मतभेद है। डॉ० मुंशीराम शर्मा के अनुसार,'महाप्रभु के दर्शन के उपरान्त सूर को जो सिद्धि उपलब्ध हुई, जो दर्शन हुआ, वह भगवान की शाश्वत रास-लीला का ही दर्शन था' (सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ५)। 'सूर-निर्णय'–कारों का मत है कि "श्रीमद् वल्लभाचार्यजी ने जिस माधुर्य-भक्ति को अपने ग्रन्थों में व्यक्त किया था, उसी को श्री विट्ठलनाथ जी ने सेवा में क्रियात्मक रूप से उपस्थित किया, जिसके फलस्वरूप संप्रदाय में निकुंज-भावना तादृश हुई। ...... 'जिन निकुंजों के दर्शनों की सूरदास अभिलाषा करते थे, वे उनको अपनी ६७ वर्ष की अवस्था में तादृश हुए थे" (-'सूर-निर्णय', पृ० ११०) प्रथम मत के कारण सूरदास को दर्शन कराने का श्रेय महाप्रभु वल्लभाचार्य को मिलता है, और तब वे हरि-लीला-गान में प्रवृत्त होते हैं तो दूसरे के समर्थक 'गुरु-प्रसाद' का संबंध गो० विट्ठलनाथ से मानते हैं जिसके फलस्वरूप 'सूर-साहित्य' का अधिकांश भाग रच जाने के पश्चात् सूरदास को 'निकुंज-लीला' के अभीप्सित दर्शन होते हैं। हमारी सम्मति में, 'सारावली' के उक्त छंद के पूर्व के प्रसंग के अनुसार 'दरसन' से कवि का तात्पर्य 'निकुंज-लीला-दर्शन' से ही है, यद्यपि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'गुरु' से उसका संकेत महाप्रभु की ओर ही है।

'सरसठ-बरस' पद का अर्थ तो स्पष्ट है; परन्तु मदभेद इस बात में है कि ६७ वर्ष की अवस्था में कवि को 'दर्शन' हुए या उसने 'सारावली' की रचना की। डॉ० मुंशीराम शर्मा का मत इस संबंध में सबसे अधिक चौंकानेवाला है––'महाप्रभु वल्लभाचार्य के दर्शन के उपरान्त अपने जीवन के ६७वें वर्ष में वे (सूरदास) सिद्धि प्राप्त कर सके। वल्लभाचार्य जी से भेंट करने के समय सूरदास जी अवश्य ही अधिक आयु के थे ......। अतः उस समय सूर ६७ वर्ष के हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ......६७ वर्ष की आयु में भगवान की लीला के दर्शन करना संतों के लिए विस्मयावह नहीं है। सूर का संयत हृदय और मन, बुद्धि एवं आत्मा पहले से ही किसी वस्तु के ग्रहण करने की पूरी तैयारी किये बैठी थी––भूमि तैयार थी, केवल बीज पड़ने की देर थी। यह बीज सूर को वल्लभ के अध्यात्म-शक्ति-गर्भित उपदेशों में सुलभ हो गया। 'सूर-सागर' की प्रौढ़ रचना भी उनके प्रौढ़ आयु में लिखे जाने का समर्थन करती है। तुलसी ने 'रामचरित मानस' ७७ वर्ष की आयु में लिखा था। सूर ने अपना 'सागर' ६७वें वर्ष में प्रारंभ किया' (सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ६)। दूसरा मत 'सूर-निर्णय'-कारों का है जो 'दरसन' और 'सारावली' की रचना, दोनों के समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष की मानते हैं और उनके जन्म संवत् १५३५ में उसे जोड़कर संवत् १६०२ में 'सारावली' का रचना-काल मानते हैं। उनके अनुसार, 'इस संवत् तक सूरदास ने 'श्रीमद्भागवत्' के द्वादश स्कंध के अतिरिक्त वल्लभ संप्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की सेवा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के जिन पदों को गाया था, उन्हीं का यह ('सारावली') सूचीपत्र अथवा सिद्धान्त का सार है'—(सूर-निर्णय, पृ० १४२)।

हम डॉ० मुंशीराम शर्मा के इस कथन से तो पूर्णतया सहमत हैं कि 'सारावली में' उपलब्ध ६७ वर्ष का संकेत उसके रचना-काल का नहीं, वरन् सूरदास के हरि-लीला-दर्शन का सूचक है;—(सूर-सौरभ, पृ० ४); परन्तु इस बात से सहमत नहीं हैं कि वह समय उनके संप्रदाय-प्रवेश का ही हो सकता है। इस प्रकार मीतल जी की उक्त कथन के संबंध में यह टिप्पणी भी हमें मान्य नहीं है कि इस मत के मानने पर या तो सूरदास का जन्म संवत् १५३५ से पूर्व मानना होगा, अथवा उनका संप्रदाय-प्रवेश सं० १५६७ के पश्चात्; ये दोनों संवत् अब निर्विवाद रूप से निश्चित हो चुके हैं—('अष्टछाप परिचय', पृ० १२७-२८)। अतः सूरदास की ६७ वर्ष की आयु में ही 'सूर-सारावली' की रचना मानना उचित होगा-(सूर-सारावली, (मीतल), भूमिका, पृ० २४)। मीतल जी के इस कथन से हमारा मतभेद इस कारण है कि हरि-लीला-दर्शन का स्पष्ट संकेत ६७ वर्ष की अवस्था में होने पर भी, स्वनिर्णीत अन्य संवतों से केवल उसका मेल बैठाने के लिए उक्त अवस्था में 'सारावली' की रचना भी हो जाने का जबरदस्ती निश्चय वे क्यों कर लेते हैं? छंद का 'यह' सार्वनामिक विशेषण भी 'दरसन' की ओर संकेत करता है, उसके रचनाकाल की ओर नहीं। अतएव सूरदास-संबंधी अन्य संवतों से मेल खाता हो या नहीं, हमें छंद का स्पष्ट अर्थ ही लेना चाहिए। 'सारावली' का रचयिता जिस 'सरसठ' वर्ष की अवस्था में (लीला-) दर्शन की बात कह रहा है, वह यदि 'सूरसागर' के प्रसिद्ध रचयिता सूरदास के जीवन-क्रम से मेल नहीं खाती तो हमें स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए कि 'सारावली' के जिस रचयिता ने 'सरसठ' वर्ष की अवस्था में लीला-दर्शन किये थे, वह कोई अन्य कवि होगा, प्रसिद्ध कवि सूरदास नहीं हो सकते जिनके जन्म और संप्रदाय-प्रवेश के संवत्, मीतल जी के अनुसार, निर्विवाद रूप से निश्चित हो चुके हैं

यहाँ हमें डॉ० मुंशीराम शर्मा का दूसरा कथन मान्य नहीं है। उन्होंने सूरदास का जन्म-संवत् १५१५ माना है और वल्लभ- संप्रदाय में प्रवेश ६७ वर्ष की अवस्था में। जन्म संवत् में उतने वर्ष जोड़कर संवत् १५८२ आता है। उधर, 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि आचार्य महाप्रभु के समय से सूरदास 'सागर' विख्यात हो गए थे—('और सूरदास जी सों श्री आचार्य जी महाप्रभु आप 'सागरे कहते। सो 'सागर' काहे ते कहियत हैं? जामें सब पदारथ होइ ताकों 'सागर' कहिए। सो सूरदास जी ने लक्षावधि पद किए, सो सब जगत में प्रसिद्ध भए—('प्राचीन-वार्ता-रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० ४४); जिसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि 'सूर-सागर' का अधिकांश तो उन्होंने लिख ही लिया था। डॉ० दीनदयालु गुप्त के अनुसार, महाप्रभु का देहावसान संवत् १५८७ में हुआ था—('अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ७३)। इन पाँच वर्षों में 'सूर-सागर' का लिखा जाना, उसकी प्रसिद्धि हो जाना और महाप्रभु से उसका इस प्रकार प्रशंसा भी प्राप्त कर लेना किसी तरह संभव नहीं हो सकता। यह तो ठीक है कि ६७ वर्ष का जितना निकट संवत् 'दरसन' से है उतना 'सारावली' के रचना-काल से नहीं; परन्तु उसके तत्काल



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पश्चात् 'सारावली' का रचा जाना भी संभव हो सकता है। इस प्रकार 'सारावली' के उक्त छंद के प्रथम चरण का सीधा-सादा अर्थ यही लेना उचित जान पड़ता है कि 'सारावली' के रचयिता को सरसठ वर्ष की (लंबी और परिपक्व) अवस्था में, गुरु के (परम) प्रसाद से (ही निकुंज-लीला के परम-काम्य) दर्शन हुए, हो सके या हो रहे हैं।

अब दूसरा चरण लीजिए––'सिव विधान तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन।' इस चरण के आदि में प्रत्युक्त 'सिव-विधान' शब्द की ओर हमारे आलोचकों ने ध्यान नहीं दिया है; उन्होंने 'सिव-विधान' पाठ लेकर पूरे चरण के भिन्न-भिन्न अर्थ निकाले हैं। संवत् १९६४ (सन् १९२०) में लखनऊ के 'सूरसागर' के साथ मुद्रित 'सारावली' में उक्त छंद का यही पाठ दिया हुआ है––('सूरसागर' संवत् १९६४ का संस्करण, पृ० ३७); परन्तु लखनऊ के 'सूर-सागर' से मिलान की बात कहकर भी मीतल ने स्व-संपादित 'सारावली' में 'सिव-विधान' पाठ दिया है––('सारावली'–(मीतल), पृ० ८०)। इस अन्तर के दो कारण हो सकते हैं––या तो इन्होंने लखनऊ के 'सूर-सागर' से पाठ का मिलान किया ही नहीं है अथवा उसके किसी परवर्ती संस्करण से किया है। मीतल जी जैसे अनुसंधान-प्रेमी से प्रथम बात की आशा कोई नहीं कर सकता; अतएव हमें दूसरा कारण ही जान पड़ता है कि जिस संस्करण से उन्होंने पाठ का मिलान किया है, उसमें 'सिव-विधान' ही पाठ होगा; क्योंकि लखनऊ के संस्करण में पाठान्तर-सम्बन्धी कोई संकेत भी उस छंद के पाठ के संबंध में नहीं है। 'सारावली' के उस छंद को लेकर 'राग-कल्पद्रुम' के आधार पर उन्होंने अवश्य पाठ-भेद दिया है––विधाता तप कर्‌यो बहु दिन, ताहु पार न लीन्ह-('सारावली' (मीतल), पृ० ८० दूसरा पाठान्तर)। 'सिव' शब्द के न होने पर भी यह पाठान्तर सर्वथा उपेक्षणीय नहीं था क्योंकि इसका भी अर्थ मीतलजी द्वारा गृहीत पाठ 'सिव विधान तप करेउ वहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन' के अर्थ से सर्वथा भिन्न है।

'सिव विधान' पाठ लेकर हिंदी के आलोचकों ने कई विभिन्न बातें लिखी हैं। डॉ० मुंशीराम शर्मा के अनुसार ('सूर-सौरभ', पृ० ३-४-५) द्वितीय पंक्ति में सूर लिखते हैं कि मैं शैव-संप्रदाय के विधानों के अनुसार बहुत दिन तक तप करता रहा, फिर भी पार न पा सका, प्रभु का दर्शन न कर सका। इस पंक्ति से प्रतीत होता है कि महाप्रभु बल्लभाचार्य के दर्शनों से पूर्व अपने जीवन के आरम्भिक-भाग में सूरदास शिव की पूजा किया करते थे। ........। सूर शिवाराधन में तप करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत कर चुके थे, फिर भी उन्हें पूर्ण तृप्ति नहीं हुई थी। ... वे (सूरदास) शिव के उपासक रह चुके थे––इस बात का भी समर्थन, जैसा हम आगे चलकर लिखेंगे, भविष्यपुराणान्तर्गत ('सूर-सौरभ', पृ० ४३ पर उद्धृत वह श्लोक और उसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है––॥ सूरदास इति ज्ञेयः कृष्णलीलाकरः कविः। शम्भुर्वैचन्द्र भट्टस्य कुले जातो हरिप्रियः।––'भविष्यपुराण', प्रतिसर्ग पर्व, तीसरा भाग, अध्याय २२, श्लोक ३०१॥ सूरदास चंद्रभट्ट के कुल में उत्पन्न हुए थे। वे प्रथम 'शंभु' अर्थात् शैवधर्मावलंबी थे, बाद में हरिप्रिय अर्थात् भगवद्भक्त बने)। आए हुए श्लोक के 'शंभु' शब्द से हो जाता है। डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने भी शर्मा जी का अर्थ ही स्वीकारते हुए उक्त चरण का अर्थ लिखा है––'बहुत दिन



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



शिव-विधान तप किया, तो भी पार नहीं पाया-('सूरदास', पृ० ८८)। यही अर्थ उन्होंने आगे भी एक स्थान पर किया है-(वही, पृ० ९६)।

मीतल जी 'सारावली' के उक्त छंद के द्वितीय चरण के डॉ० शर्मा और डॉ० वर्मा के अर्थों से सहमत नहीं हैं। उन्होंने लिखा है—'सूरदास के आरंभिक जीवन से संबंधित यह भ्रमात्मक कल्पना उक्त पंक्ति का ग़लत अर्थ करने से की जाती है। वास्तव में इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए,—"गुरु-प्रसाद से यह दर्शन सरसठ वर्ष की प्रवीन (अवस्था में) हो रहा है। (इस दर्शन के लिए) शिवजी ने विधानपूर्वक बहुत दिन तक तप किया, तब भी पार नहीं पाया।" इस प्रकार अर्थ करने से सूरदास द्वारा शिवजी की तपस्या करने और उसमें असफल होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। इस अर्थ की संगति सारावली के पूर्वापर क्रम से भी होती है; जब कि उक्त विद्वानों का अभिप्राय असंगत ज्ञात होता है। इसके लिए उक्त प्रसंग के पूर्वापर छंदों पर विचार करना आवश्यक है।' ('सूर-सारावली' (मीतल), भूमिका पृ० ४७)।

उक्त तर्कों के उत्तर-प्रत्युत्तर भी दिये गए हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो उक्त चरण का वही अर्थ अधिक संगत और उपयुक्त है जो डॉ० शर्मा ने समझा है और जिसका समर्थन डॉ० वर्मा ने किया है। परन्तु जब छंद का पाठ ही बदला हुआ है, तब उसका अर्थ स्वभावतः बदल गया है और वह ऐसा है जिससे किसी का मतभेद नहीं हो सकता। इस नये पाठ का सीधा-सादा अर्थ है—शिव और विधाता भी जिस दर्शन की कामना से बहुत दिन तप करके भी सफलमनोरथ न हो सके, (वही आज गुरु-प्रसाद से मुझे हो रहा है)। इस प्रकार का अर्थ प्रसंग की दृष्टि से भी सर्वथा संगत प्रतीत होता है।

**ख. स्वभाव-प्रकाशक आत्मकथन**—'सारावली' में ऐसे आत्मकथन केवल दो छंदों में मिलते हैं जो इस प्रकार हैं—

**१. करम, जोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायो।**
**श्री बल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला-भेद बतायो—छं० ११०२**
**२. ता दिन तें हरि-लीला गाई, एक लच्छ पद-बंद।**
**ताकौ सार सूर-सारावलि, गावत अति आनंद—छं० ११०३**

उक्त दोनों छंदों का पाठ सामान्यवर्तनी-भेद के साथ 'सारावली' की सभी प्रतियों में मिलता है। मीतल जी ने स्व-संपादित 'सारावली' में चतुर्थ पंक्ति के 'सूर' शब्द को इसी प्रकार (इन-वर्टेड कामाज में) लिखकर उसे कवि की छाप बना दिया है—('सारावली' (मीतल), पृ० ८७) जिसका संकेत यह हुआ कि यह सब कवि सूरदास का कथन है; जब कि होना चाहिए 'सूर-सारावलि' सामासिक पद जिसका संकेत प्रस्तुत ग्रंथ के नाम से है, कवि सूर और उसकी कृति से अलग-अलग नहीं। यही भूल मीतल जी ने 'सारावली' के ११०५ संख्यक छंद में भी की है (वही, पृ० ८८)। वहाँ भी 'सूर' 'सारावलि' न होकर 'सूर-सारावलि' होना चाहिए।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उक्त पंक्तियों का भावार्थ सूर-साहित्य के प्रायः सभी आलोचकों ने इस प्रकार किया है—'कर्म, योग और ज्ञान की उपासना या साधना, सभी भ्रम कवि सूरदास को भरमाते रहे अथवा सभी भ्रमों में कवि सूरदास भ्रमता फिरा; (अंत में) श्रीवल्लभ गुरु ने उसको तत्व सुनाया और लीला-भेद बताया। उस दिन से कवि सूर ने एक लक्ष पद-बंदों में हरि-लीला गायी जिसका सार 'सूर-सारावली' के रूप में (कवि) बड़े आनन्द से गाता है। यह भावार्थ यद्यपि किसी आलोचक ने अपनी किसी कृति में नहीं दिया है, तथापि उक्त छंदों का यही तात्पर्य लेकर उन्होंने अपने अपने कथनों की पुष्टि की है। उनका मतभेद केवल दो पदों के संबंध में है—पहला है, 'एक लक्ष पद-बंद' और दूसरा, 'ताको सार'।

पहले अर्थात् 'एक लक्ष पद-बंद' का सीधा-सादा अर्थ 'एक लाख पद' हिंदी के अधिकांश विद्वानों ने किया है; परन्तु जब उन्हें सूरदास के 'एक लाख' या उसके लगभग पद नहीं मिले, तब दो प्रकार के अर्थ किये गये। किसी ने सूरदास के पदों की संख्या, रचना-दिवसों का हिसाब लगाकर, एक लाख के आसपास पहुँचाने का प्रयत्न किया और 'सूर-निर्णय-कारों' ने उनकी ९३३५० संख्या निश्चित करके-('सूर-निर्णय', पृष्ठ १७३) लिखा—'अब रह जाते हैं सूरदास के सागरोक्त लीला, सिद्धान्त और अनुवादात्मक पद। उन्होंने श्री भागवत की तृणावर्त-अघासुर-वध, माटी भक्षण, कालीयदमन आदि लीलाओं में से प्रत्येक के अनेक पद रचे हैं, जिनका हिसाब लगाना भी कठिन है। यदि इन पदों को पूर्व संख्या में जोड़ा जाय तो सूरदास द्वारा रचे हुए लाख-सवा लाख पदों की बात प्रमाणित हो जाती है। हमने सूरदास के पदों की जो अनुमानिक गणना की है, वह कम से कम है और प्रामाणिक आधार पर है, अतः उसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं है' (वही, पृ० १७३-७४)। डॉ० हरवंशलाल शर्मा भी उनसे सहमत हो गये और उन्होंने लिख दिया—'सूर ने अवश्य सवालाख के लगभग पदों की रचना की होगी'—('सूर और उनका साहित्य', पृ० ३७)। और किसी ने 'बंद' शब्द का नया अर्थ सुझाया। यह सूझ भी डॉ० हरवंश लाल शर्मा की है, जो लिखते हैं—'इस पद के पूर्वापर संबंध से लक्ष शब्द संख्यावाचक ही प्रतीत होता है, अतएव, हमारी समझ में इस पद का निर्वाह दो प्रकार से हो सकता है :—

१—'लक्ष-पद-बन्द' में लक्ष शब्द तो संख्यावाचक है ही परन्तु 'बंद' शब्द प्रत्येक पंक्ति का सूचक है। इस प्रकार एक लाख पंक्तियां दस सहस्र पदों से भी कम में आ सकती हैं और ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने अवश्य इतने पदों की रचना कर ली होगी। कवि की भावी पद-निर्माण-योजना का भी यह सूचक हो सकता है।

२—संभव है यह पद प्रक्षिप्त हो और बाद में ही किसी ने जोड़ दिया हो।

इसी प्रसंग में श्री कामताप्रसाद गुरु का यह कथन भी उद्धृत करने योग्य है—'संभवतः सूरदास जी के पदों की संख्या सवा लाख अनुष्ठुप् श्लोकों के बराबर होगी। इससे भ्रम से लोगों ने सवा लाख पदों की बात प्रचलित कर दी। ग्रंथ का विस्तार बताने के लिए प्राचीन काल से अनुष्ठुप् छंद एक प्रकार की नाप ही मान लिया गया है, (हिंदी व्याकरण, पृ० २१) गुरु जी का यह अवतरण सूर-साहित्य के किसी अध्येता ने अब तक उद्धृत नहीं किया है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उधर मीतल जी ने पूरे सामासिक-पद 'एक लच्छ पद-बंद' का अर्थ ही बदल दिया। उन्होंने बताया कि 'एक लच्छ' या 'एक लक्ष' के दो अर्थ हैं—पहला है 'उद्देश्य' और दूसरा 'भगवान श्रीकृष्ण'। प्रथम के अनुसार पूरे चरण का अर्थ होगा ('अपने गुरु वल्लभाचार्य जी से तत्व और लीला-भेद का रहस्य जानकर उन्होंने उसी) एक लक्ष्य से पद-बद्ध हरि लीला का गायन किया'—('सूर-सारावली', मीतल, भूमिका पृ० २१)। और द्वितीय के अनुसार अर्थ होगा—(श्रीवल्लभ गुरु ने सूरदास को भगवान श्रीकृष्ण की इन लीलाओं का तत्व सुनाकर उनका भेद बतलाया था।) उसी दिन से उन्होंने 'एक लक्ष' भगवान श्रीकृष्ण के पदों की वंदना कर जो लीलाएँ गाना आरम्भ किया, उनका सार उन्होंने 'सारावली' में आनन्दपूर्वक गाया है' (वही, पृ० २२)।

हमारी सम्मति में, ये सब खींचतान की बातें हैं। वस्तुतः 'सारावली' के रचयिता ने अन्वेषक की, दृष्टि से छानबीन करके नहीं 'वार्ता' आदि के उल्लेख—'सो तब सूरदास जी मन में विचारे जो मैं तो अपने मन में सवा लाख कीर्त्तन प्रकट करिबे को संकल्प कियों है, सो ता में तें लाख कीर्तन तो प्रकट भए हैं, सो भगवद् इच्छा तें पचीस हजार कीर्तन और प्रकट करने'—('अष्टसखान की वार्ता', कांकरोली, पृ० ९५)-और जनश्रुति की प्रसिद्धि को स्वीकार करके सूरदास द्वारा एक लाख 'पद' ('वंद' नहीं) रचे जाने की बात कही है और 'वंद' से उसका तात्पर्य 'राग' के नियमों के निर्वाह से है जिससे 'पद-बंद' का सीधा-सादा अर्थ हुआ—'पदवद्ध' अथवा 'गेयपद'; अस्तु।

जहाँ तक 'सारावली' की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का प्रश्न है, 'एक लच्छ पद बंद' के उक्त चारों अर्थों—१. एक लाख गेय पद, २. एक लाख पद-बंद, ३. एक लक्ष्य या उद्देश्य से पदबद्ध (हरि-लीला-गान) और ४. एक 'लक्ष्य' भगवान श्रीकृष्ण के पदों की वंदना में से कोई लिया जा सकता है; क्योंकि 'सारावली' में उक्त छंदों का जो वास्तविक तात्पर्य है, उसमें इन चारों से विशेष अंतर नहीं आता जैसा कि आगे दिये गए उनके अर्थ से स्पष्ट हो जायगा।

मतभेद का दूसरा कारण रहा है 'ताको सार' पद। अनेक आलोचक इसका अर्थ 'एक लाख का सार' मानते रहे हैं, और जब उन्हें उपलब्ध 'सूर-सागरों' की अनेक कथाएँ 'सारावली' में नहीं मिलतीं, तब वे, इसी आधार पर, इसी कृति को अप्रामाणिक बताने लगते हैं। इस मतभेद को दूर करने के लिए 'ताको सार' का तात्पर्य 'हरि-लीला-सार' से लिया जाने लगा है और यही उचित भी है।

इस प्रकार, हमारी सम्मति में, 'सारावली' के उक्त दोनों छंदों का अर्थ इस प्रकार है—कर्म, योग, ज्ञान-उपासना या साधना आदि सभी भ्रम जिस कवि सूरदास को (पर्याप्त समय तक) भरमाते रहे, उसी को श्री वल्लभाचार्य जी ने तत्व और लीला—रहस्य बताया—समझाया (जिसको हृदयंगम करके कवि सूर ने) उसी दिन से एक लाख पदों या पद-बंदों में अथवा एक लक्ष्य से पदबद्ध होकर अथवा 'एक लक्ष्य' भगवान श्रीकृष्ण के पदों की वंदना करके हरि-लीला-गान किया। (कविवर सूरदास के) उस लीला-गान का सार 'सूर-सारावली' के नाम से (मैं अर्थात् 'सूर-सारावली' का रचयिता) बड़े आनन्द से गाता (लिखता) हूँ।

उक्त अर्थ में किसी प्रकार की खींचतान नहीं की गई है। इसकी जिस विशेषता की ओर



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सूर-साहित्य के समस्त आलोचकों का ध्यान हम आकृष्ट करना चाहते हैं, वह यह है कि उक्त चारों चरणों में से प्रथम तीन का संबंध अष्टछापी कवि सूरदास से है और चौथी पंक्ति की 'गावत' क्रिया का लुप्त कर्त्ता "हौं" (या 'मैं') उस कवि की ओर संकेत करता है जिसने कविवर सूरदास के लीला-गान का सार 'सूर-सारावली' के नाम से लिखा है। इससे स्पष्ट रूप से सूचित होता है कि 'सारावली' का रचयिता सूरदास से भिन्न कोई व्यक्ति है जो कभी अपने को 'मंदमति या लघुमति, दुरबल, बाल' लिखता है और कभी 'सरसठ बरस प्रबीन' लिखकर उसी का खंडन करता है और 'सरसठ बरस' का सम्बन्ध अष्टछापी कवि सूर से न होने के कारण उनके संवंध में निर्णीत संवतों से उसकी कोई असंगति वताने या उसके हटाने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'सरसठ बरस प्रबीन' वाला पद 'सारावली' में १००२ संख्यक है और 'सारगावत' वाला ११००३संख्यक। दोनों उल्लेखों के बीच १०० छंदों का व्यवधान भी उक्त निष्कर्ष की पुष्टि ही करता है।

'सारावली' की रचना में वह व्यक्ति क्यों प्रवृत्त हुआ, इसके दो अनुमान हो सकते हैं। पहला अनुमान विस्तार से इस प्रकार है—सरसठ वर्ष की लंबी आयु में वह व्यक्ति महाप्रभु बल्लभाचार्य के संपर्क में आया और उनकी प्रेरणा या कृपा से उसे 'निकुंज-लीला के दर्शन' हुए। अवस्था में वृद्ध उक्त व्यक्ति की भक्ति-भावना से संतुष्ट होकर महाप्रभु ने उसको अपने संप्रदाय के सबसे बड़े गायक के काव्य का पाठ या अनुशीलन करने की सलाह दी। स्वयं वह व्यक्ति कुछ कविता करता था अथवा सूरदास के प्राप्त काव्य से उसमें तत्संबंधी रुचि जाग्रत हो गयी, ये दोनों ही बातें संभव हैं। 'सारावली' से उसके शिक्षित होने का भी प्रमाण मिलता है। अतएव उसने सूरदास के प्राप्त काव्य का सार लेकर एक ऐसे ग्रंथ की रचना की जिसमें कहीं-कहीं सूरदास की शब्दावली भी अपना लेने में उसने कोई संकोच नहीं किया। अनेक ऐसे सांप्रदायिक-प्रसंग भी उसने 'सारावली' में पद-बद्ध कर दिए जिनको सूरदास ने संभवतः काव्योचित सरसता का अभाव देखकर अथवा वैसे ही अन्य किसी कारण से छोड़ दिया था।

दूसरा अनुमान यह होता है कि सरसठ वर्ष की अवस्था में महाप्रभु अथवा उनके अन्य किसी उत्तराधिकारी के प्रसाद से निकुंज-लीला का दर्शन करने के पश्चात् वह व्यक्ति संप्रदाय में सम्मान की दृष्टि से देखे जाने वाले 'सूरकाव्य' से परिचित हुआ। दर्शन के पश्चात् भी उसमें अर्थ-लोलुपता शेष रही। अतएव बल्लभ-संप्रदाय के किसी धनी-मानी व्यक्ति के लिए उसने 'सूरकाव्य' का एक ऐसा 'सार' प्रस्तुत करके प्रचुर अर्थ प्राप्त किया जिसका सामान्य रूप से नैतिक पारायण किया जा सके।

उद्देश्य दोनों व्यक्तियों का एक ही था और वह यह कि सूर-काव्य में वर्णित हरिलीला-सार तैयार हो; परन्तु प्रथम ने जहाँ स्वयं के लिए उस कार्य को हाथ में लिया, वहाँ दूसरे ने धनी-भक्तों को ठगने के लिए। कवि-प्रतिभा भी उसमें बहुत साधारण थी। यही कारण है कि 'सारावली' में सूर-काव्य की शब्दावली तक ज्यों की त्यों अपना ली गयी है और एक ही शब्द या वाक्यांश की अनेक अरुचिकर आवृत्तियाँ उसमें मिलती हैं। इस प्रकार 'सारावली' से 'सूर-काव्य' का तो सम्बन्ध है, परन्तु सूरदास का नहीं और वह एक सर्वथा अप्रामाणिक रचना है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर श्याममनोहर पांडेय

# बारहमासा की परम्परा और पद्मावत

मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में नागमती के विरह की तीव्रता दिखलाने के लिए बारहमासा का चित्रण किया है। यह बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है और जेठ मास तक चलता है। आषाढ़ आने पर आकाश में काले बादल घिर आते हैं और नागमती के हृदय में विरह की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है।[1] श्रावण में मेघ जल की वर्षा करते हैं पर नागमती विरह में सूखने लगती है।[2] भाद्रपद की रात में प्रियतम रतनसेन के अभाव में उसकी रात नहीं कट पाती। शैया नाग बनकर डस रही है।[3] बिजली की कौंध तथा मेघों की गर्जन में वियोग काल बन गया है। इसी प्रकार कुआर, कार्तिक, अगहन, पूस; माघ, फागुन, चैत, वैसाख, जेठ सभी महीने नागमती को पीड़ित कर रहे हैं।[4]

जायसी के परवर्ती सूफी कवि मंझन तथा उसमान ने भी बारहमासा का चित्रण किया है किन्तु मंझन का बारहमासा श्रावण से प्रारम्भ होता है[5] तथा उसमान का बारहमासा चैत से प्रारम्भ होता है।[6]

भारतीय साहित्य में बारहमासा की रचना सर्वप्रथम १३वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई बताई जाती है और कदाचित् इस परम्परा की सर्वप्रथम रचना जिणधम्मसूरि कृत बारह-

---

१. चढ़ा आसाढ़ गँगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा॥
पद्मावत--छंद ३४४

२. सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि भरइ हौं विरह झुरानी॥
वही--छंद ३४५

३. भर भादौं दूभर अति भारी। कैसें भरौं रैनि अँधियारी।
वही--छंद ३४६

४. पद्मावत, छंद ३४७ से ३५६ तक।

५. मंझन कृत मधुमालती--सम्पादक डॉ० शिवगोपाल मिश्र, पृ० १२०, १२१, १२२, १२३।

६. उसमान कवि कृत चित्रावली--सम्पादक श्री जगन्मोहन वर्मा, पृष्ठ १६९, १७०, १७१, १७२, १७३।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नावउं है।[1] 'हिन्दी अनुशीलन' संवत् २०१० के, अंक ४, (पौष-फाल्गुन) में श्री अगरचन्द नाहटा ने 'बारहमासा की प्राचीन परम्परा' शीर्षक एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने कहा है "कि अभी तक प्राप्त बारहमासों में अपभ्रंश की यह रचना सबसे प्राचीन है। . . . इस रचना में जिन धर्मसूरि की स्तुति की गई है, वे बड़े प्रभावक आचार्य थे। सांकाभरि के अजयपाल और विग्रहराज इनके भक्त थे। विग्रहराज ने तो इनके उपदेश से जैनमंदिर भी बनवाया था। यह पाटन भंडार में उपर्युक्त धर्मसूरि स्तुति से पूर्व रविप्रभ सूरि रचित धर्मशेष सूरि स्तुति प्रकाशित हुई है, इससे स्पष्ट है। अतएव इस बारहनाउं की रचना १३वीं शताब्दी का प्रारम्भ सुनिश्चित है और इससे बारहमासा संज्ञक भाषा काव्यों की रचना ८०० वर्ष पुरानी सिद्ध होती है।[2]

'बारहनावउं' श्रावण मास से प्रारम्भ होता है और आषाढ़ तक चलता है। इसका प्रारम्भिक और अंतिम अंश नीचे दिया जा रहा है:

**तिहुयण मणि चूड़ामणिहिं, बारहनावउं धम-सुरि-नाहह्**
**निसुणहु सुयणहु नाण सणाहह पहिलउं सावण सिरिफुरिय**
**कुवलय दल सामण घणु गज्जइ नं मद्दल-मंडल झुणि छज्जइ**
**विज्जु लड़ी सबकिहिं लवइ।**[3]

× × ×

**माणिणि माण भहंतु मयगव मउ मोडिवि**
**सहि मंडालि वण पत्तु आसाढ़ सुकेसरि**
**मेहड़लइ नवि गयणि घुड़क्कइ पसरिउ**
**इंदुधणुहु फुउफारू**
**किउ विज्जुलिय तरल झलकारू।**[4]

इस परम्परा की दूसरी रचना विनयचन्द्र सूरि कृत "नेमिनाथ चतुष्पदिका" है। "कुछ स्थानों पर इसका रचनाकाल संवत् १३५३ मिलता है। कहीं संवत् १३५८ मिलता है। श्रीदलाल इसका रचनाकाल संवत् १३५८ ही मानते हैं। श्री मुनि जिनविजय जी का विचार है कि यह रचना संवत् १३३८ की है। श्री स्वामी नरोत्तमदास जी इसे संवत् १३२५ का मानते

----------

**१. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६, अंक ४, पृष्ठ ४०**
**२. वही, पृष्ठ ४०**
**३. वही, पृष्ठ ४३**
**४. वही, पृष्ठ ४६**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हैं।"[1] अतः सभी विद्वान् इस रचना का काल १४०० शताब्दी ईस्वी पूर्व का ही स्वीकार करते हैं, इसमें संदेह नहीं रह जाता।

"नेमिनाथ चतुष्पदिका" का प्रारम्भ श्रावण से होता है और अन्त आषाढ़ में होता है। उसका प्रारम्भ और अन्त नीचे दिया जा रहा है:—

सोहग-सुंदरु घण-लायणु सुमरवि सामिउ सामल वन्नु।
सखि-पति राजल-चढ़ि उत्तरिय बारमास सुणि जिम पज्जरिव॥

नेमि-कुमरु सुमरवि गिरनारि।
सिद्धी राजल - कन्न कुमारि॥

श्रावणि सरवणि कडुयं मेहु, गज्जइ, विरहि रि! झिज्भइ देहु।
विज्ज् झवक्कइ रक्खसिजेब नेमिहिविणु सहि सहियइकेमं॥[2]
आषाढ़ह दिढ़ हियउँ करेवि गज्जु विज्जु सवि अवगन्नेवि।
भणइ वदणु उग्रसेणहजाय करिसु धम्मु सेविसु प्रिय पाय॥[3]

'नेमिनाथ चतुष्पदिका' में बारहमासा आषाढ़ में समाप्त तो हो जाता है पर उसके बाद कवि अधिकमास का भी चित्रण करता है।

अधिक मासु सवि मासहि फिरइ, छह रितु केरा गुण अणुहरइ।
मिलिवा प्रिय अब्राहुलि हूय, सउमुकलाविउ उग्रसेण-घूय॥[4]

संवत् १४०० के आसपास की रचना[5] "बीसलदेव रास" में भी बारहमास आता है किन्तु यह बारहमासा कार्तिक से प्रारम्भ होता है और क्वार तक चलता है। बारहमासा का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

चालियउ उलगाणउ कातिग मास
छोड़ीया मंदिर घर कविलास।
छोड़ीया चउबारा चउखंडी,
तठइ पंथि सिरिनयण गमाइयारोइ

---

१. हिन्दुस्तानी, भाग २०(१९५९जनवरी-मार्च),अंक १ में प्रकाशित श्रीहरिशंकरशर्मा का लेख।

२. नेमिनाथ चतुष्पदिका, छंद २, सम्पादक, डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी, श्री थार्नस गुजराती सभा ग्रंथावलि, ६१, बंबई ४, १९५५

३. वही, छंद ३५

४. वही, छंद ३८

५. देखिए, बीसलदेव रास की भूमिका, डा० माताप्रसाद गुप्त।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भूष गई त्रिस अचरी।
कहि न सषीय नींद किसी परिहोइ।[१]

बारहमासा का अंतिम छंद इस प्रकार है :—

आसोजइ घण मंडिया आस।
मांडिया मंदिर घर कविलास।
धउलिया चउबारा चउषंडी
साधण धउलिया पउलि पगार।
गउष चडी हरषी फिरइ
जउ घर आविस्यइ मुंध भरतार।[२]

जायसी के पूर्व की एक अन्य रचना गणपति कवि कृत 'माधवानलकामकंदला' प्रबंध में, जिसका रचनाकाल संवत् १५८४ है, बारहमासा के दो प्रसंग आये हैं। दोनों बारहमासे फाल्गुन से प्रारम्भ होते हैं और चैत्र तक चलते हैं। नायिका कामकंदला के विरह के प्रसंग में जो बारहमासा है उसका प्रारम्भ इस प्रकार है—

कलि ज बहु क्रीड़ा करी, आज तिजावी आस।
माधव मुंझ मूंकी गयु, फटि रे फागुण मास।।[३]

इसके अंतिम अंश का एक छंद इस प्रकार है—

बाहिरि सीतल थिउ सिरइ, अंतरि पाड़इ दाघ।
माधव-पाखइ मूंहनइं, मरण-सरिखु माघ।।[४]

एक अन्य काव्य मैनासत में, जिसका समय संभवतः १५०० ई० के आसपास है,[५] बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है। डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है कि मैनासत पहले मुल्ला दाऊद कृत चन्दायन का एक अंग था।[६] 'मैनासत' में बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है और ज्येष्ठ तक चलता है। प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है :—

रितु अषाढ़ बरखै पयसारा। सब कोहू घर बार संभारा।।
दीप गये सो आबन हारा। तेरौ कंथ न देखूं बारा।।[७]

---

१. बीसलदेव रास, छंद ६७
२. बीसलदेव रास, छंद ७८
३. माधवानलकामकंदला, प्रबंध—पृष्ठ २०३
४. वही, पृष्ठ २१४
५. मैनासत—सम्पादक श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, भूमिका, पृष्ठ ८८
६. देखिये, प्राचीन हिन्दी काव्यों में पूरक कृतित्व, भाग २०, अंक १
७. मैनासत—श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, पृष्ठ १७९



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



बारहमासा का अंतिम अंश इस प्रकार है :—

जेठ मास रवि किरण पसारी। टूटत धरती परत अंगारी॥
धरनि आग पाटी परसारी। घातपात जरबर भये छारी॥
काया बन लागी दौ भारी। तोहि परिहर गयौ कंत पियारी॥
अंग न सीतल मानै जेही। अधिकौ बिरह होइ है तेही॥[१]

पद्मावत में नागमती का विरह दिखाने के लिए बारहमासा का विधान किया गया है। वह रतनसेन की प्रथम विवाहिता है किन्तु वह उसे छोड़कर पद्मावती की खोज में निकल पड़ता है, अतः उसमें प्रथम विवाहिता होने का गर्व तथा पति के पुर्नमिलन की आशा बनी हुई है। आषाढ़ में जब आकाश काली घटाओं से घिर उठता है, वह विरहविकल हो उठती है। जायसी के पूर्व के जिन कवियों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें दो कवियों का बारहमासा श्रावण से प्रारम्भ होता है। बीसलदेव रास में बारहमासा कार्तिक से प्रारम्भ किया गया है। जायसी के पूर्व का 'मैनासत' ही केवल एक काव्य ऐसा प्राप्त होता है जिसमें बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है।

विनयचन्द्र सूरि की नायिका राजल का विरह एक अविवाहिता का विरह है। नेमिनाथ से उसका प्रारम्भ में विवाह नहीं हो पाता किन्तु उसको पति के रूप में स्वीकार कर वह विरह में संतप्त रहती है। उसकी सखी चाहती है कि राजल नेमिनाथ से विमुख हो जाये पर उसका प्रयास विफल होता है। बीसलदेव रास में नायिका राजमती विवाहिता है और उसकी ही गलतियों से बीसलदेव परदेस जाता है, फिर भी नायिका तड़प उठती है और बारह महीने उसको सताने लगते हैं। सम्भवतः बीसलदेव रास का बारहमासा पहला बारहमासा है जिसका प्रारम्भ कार्तिक से हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने एक लेख में यह उल्लेख किया है कि जैन परम्परा में १२ महीनों में से किसी कवि ने चैत्र से, किसी ने आषाढ़ से, श्रावण से, किसी ने वैशाख व मृगशीर्ष से तो किसी ने कार्तिक और फाल्गुन से प्रारम्भ किया है।[२] किन्तु कार्तिक से प्रारम्भ होने वाला कोई अन्य बारहमासा अभी प्रकाश में नहीं आ सका है। वैसे लोक परम्परा में ऐसे बारहमासे हैं जो कार्तिक से प्रारम्भ होते हैं।[३] माधवानलकामकंदला प्रबंध की नायिका एक वेश्या है फिर भी उसके हृदय में नायक माधव के प्रति उतनी ही तड़प है जितनी एक सहज नारी में हो सकती है। यह बारहमासा फाल्गुन से प्रारम्भ होता है।

जायसी के बारहमासा की एक निजी विशेषता है। इसमें वर्णन का विस्तार है। अतः नायिका की विरह वेदना बहुत ही प्रखर रूप में पाठकों के समक्ष आती है। नागमती में एक सहज और प्रकृत नारी के निश्छल भाव देखे जा सकते हैं। वह कहती है "पट्ट महादेवी हृदय न

---

१. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६ अंक १
२. कविता कौमुदी, भाग ३, पृष्ठ ७०५, ७११
३. भोजपुरी ग्रामगीत, पृष्ठ १८२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हारो। जी में समझो और अपनी चेतना बटोर कर रखो। भ्रमर कमल के साथ है पर वह पराया न होगा। स्मरण कर वह फिर मालती पर आयेगा[१]"

संस्कृत साहित्य में बारहमासा प्राप्त नहीं होता। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में चार ऋतुओं, वसन्त, वर्षा, शरद्, हेमन्त का चित्रण भिन्न-भिन्न प्रसंगों में किया है। पंपासर के निकट राम और लक्ष्मण वसन्त की शोभा निरखते हैं। वर्षाऋतु का प्रसंग दशरथ के मृगया के समय उपस्थित किया गया है। शरद का प्रसंग उस समय आया है जब राम ऋष्यमूक पर्वत पर शरद् की शोभा देख रहे हैं। फिर राम-सीता गोदावरी तट पर हेमन्त में वार्तालाप करते हुए चित्रित किये गये हैं।

कालिदास ने ऋतुसंहार में षट्ऋतुओं का वर्णन किया है। यह वर्णन ग्रीष्म से प्रारम्भ होता है और वसन्त तक चलता है।[२] माघकृत 'शिशुपाल वध' में षट्ऋतु वर्णन वसन्त से प्रारम्भ होता है।[३] कवि ने वसन्त का वर्णन विस्तार से किया है, अन्य ऋतुओं का वर्णन संक्षिप्त है। ग्रीष्म का वर्णन तो अत्यन्त संक्षेप में हुआ है। महाकवि माघ ने श्रीकृष्ण के रैवतक पर्वत के विहार की पृष्ठभूमि में षट्ऋतुओं का वर्णन किया है। अतः यह एक भिन्न प्रकार का ऋतुवर्णन है।

अपभ्रंश में दोनों परम्पराएँ प्राप्त होने लगती हैं। अब्दुलरहमान कृत 'संदेशरासक' में षट्ऋतु वर्णन ग्रीष्म से प्रारम्भ होता है और विरहिणी के हृदय की करुण पुकार इस ऋतुवर्णन में सुनी जा सकती है।[४] अपभ्रंश में बारहमासा की भी पम्परा चल पड़ी। संभवतः लोक परम्परा से बारहमासा ग्रहण किये गये। जैन कवियों ने लोककथाएँ और लोकपरम्पराओं का आश्रय लेकर अपने मतों का प्रचार किया। अतः लोक प्रचलित बारहमासे को ग्रहण कर लेना कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। संस्कृत की परम्परा में बारहमासा नहीं प्राप्त होता और लोक में आज भी बारहमासे प्राप्त होते हैं और केवल हिन्दी क्षेत्र में ही नहीं, बंगला, मराठी, गुजराती आदि में भी प्राप्त होते हैं। अतः यह सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन कवियों ने बारहमासा लोक परम्परा से ही ग्रहण किया होगा।

मलिक मुहम्मद जायसी ने भी लोक परम्परा से ही बारहमासा लिया होगा। अवधी और भोजपुरी क्षेत्र में आज भी बारहमासे प्रचलित हैं। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने ग्रामगीत में

---

१. पाट महादेइ हिएँ न हारू। समुझि जीउ चित चेतु सँभारू॥
भँवर कँवल सँग होइ न परावा। संवरि नेह मालति पहँ आवा॥
पद्मावत--छंद ३४३

२. कालिदास ग्रंथावली, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, पृष्ठ ३१२, संवत् २००१

३. माघ कृत शिशुपालवध महाकाव्य, अनुवादक, श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, पृष्ठ १४८ से १५४ तक

४. संदेशरासक, तृतीय प्रकरणा, छंद १३० से २२३ तक, हिन्दी ग्रंथागार, बम्बई।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



बारहमासों का संग्रह किया है जिसमें चार बारहमासे आषाढ़ से प्रारम्भ होते हैं। दो बारहमासे कार्तिक से प्रारम्भ होते हैं और एक चैत से प्रारम्भ होता है।[1] डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने 'भोजपुरी ग्रामगीत' के अन्तर्गत १५ बारहमासों को संग्रहीत किया है, जिनमें आठ बारहमासे आषाढ़ से प्रारम्भ होते हैं।[2] इससे विदित होता है कि बारहमासा को आषाढ़ से प्रारम्भ करने की प्रवृत्ति लोककवियों में अधिक रही है। जायसी ने भी आषाढ़ से बारहमासा प्रारम्भ कर अपनी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। कालिदास के यक्ष की तड़पन भी आषाढ़ में ही प्रारम्भ होती है। जायसी के पूर्व के किसी फारसी कवि ने बारहमासा का चित्रण नहीं किया है। निजामी और जाकी तो अभारतीय कवि थे, भारतीय कवि अमीरखुसरो ने भी ऋतुवर्णन के अन्तर्गत न तो षट्-ऋतुओं को ही लिया है और न बारहमासा को ही। सच बात तो यह है कि फारसी कवियों में ऋतुवर्णन की कोई ऐसी परम्परा नहीं है जैसी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या हिन्दी साहित्य में है। अतः सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि जायसी ने बारहमासा की परम्परा भारतीय लोकजीवन और साहित्य से ग्रहण की है और वर्णन का विस्तार तथा कल्पनाओं में अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

---

१. कविता कौमुदी, तृतीय भाग, संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ ७०२ से ७१७ तक।

२. भोजपुरी ग्रामगीत; पृष्ठ १८० से २१३ तक।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर आशा गुप्ता

# अभिव्यंजना के मूलतत्व

'सम्मेलन पत्रिका' के भाग ४६ अंक २ 'काव्य में अभिव्यंजना' शीर्षक लेख में अभिव्यंजना के जिन उपादानों--रूप (फ़ॉर्म) तथा वस्तु (कंटेंट) की विवेचना करके उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थिर किया गया, वे वस्तुतः, उसके आभ्यन्तर-अंग हैं। अब हमें भावाभिव्यंजन के पोषक उन समान वाह्य तत्वों का निरूपण करना है जिनकी सहायता से सत्साहित्य के कलापक्ष का निर्माण होता है।

प्रयोग भेद पर आश्रित अभिव्यक्ति का स्थूल वर्गीकरण करते समय सामान्य प्रकाशन-पद्धति एवं कवि-अभिव्यंजना-व्यापार का तात्विक अन्तर भी स्पष्ट किया जा चुका है। हम दिखा आये हैं कि सामान्य अभिव्यक्ति अभीष्ट अर्थ को श्रोता अथवा पाठक तक प्रेषित करने तक ही सीमित रहती है। साधारणतः मनुष्य स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करते समय भाषागत सौन्दर्य पर अधिक ध्यान नहीं देता क्योंकि उसका प्रयोजन केवल इतना होता है कि सुनने वाले को उसका अभिप्राय भलीभाँति अवगत हो जाय। परन्तु कवि कलात्मक अभिव्यंजना-द्वारा भाव के साथ भाषा पर भी उतना ही ध्यान रखता है। कारण यह है कि उसकी अभिव्यक्ति का प्रयोजन उसके स्वानुभव को दूसरे के हृदय की सम्पत्ति बनाना होता है। अतएव भाषा की प्रेषणीयता के साथ उक्ति में रमणीयता तथा प्रभावोत्पादकता लाने के प्रयत्न में भी वह उतना ही जागरूक रहता है। इस हेतु वह भाषा के प्रमुख तत्व-शब्द का आलोड़न करता है, उसके गुण, धर्म, शक्ति तथा अन्य विशेषताओं को परखता है, वाणी में गेयता का चमत्कार लाने के लिये शब्दालंकारों, प्रतीकों, वृत्तियों आदि की योजना करता है और भाव-चित्र उपस्थित करने के लिये अप्रस्तुत का उपयोग करता है। इस प्रकार वह उपर्युक्त शब्द-चयन से प्रसाद आदि गुण, विशिष्ट वाक्य विन्यास तथा शब्द शक्तियों से वक्रता, अलंकारों से मूर्तिमत्ता एवं सजीवता तथा रीतियों की सहायता से रसानुकूल मर्मस्पर्शिता का विधान करने में सफल होता है। दूसरे शब्दों में वह, 'बेस्ट वर्ड्स इन द बेस्ट आर्डर' (श्रेष्ठतम क्रम में श्रेष्ठतम शब्द-योजना) का आकांक्षी रहता है। कदाचित् उक्ति की यही विशिष्टता, भाषा की यही रमणीयता पाठक के हृदय में रसोन्मेष का कारण होती है।

**अभिव्यंजना की विविधता**:--हम नित्य देखते हैं कि एक देश और एक जाति के ही नहीं वरन् एक परिवार के व्यक्ति भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यह पारस्परिक भिन्नता केवल वाह्य ही नहीं अपितु अभ्यन्तर भी होती है। अतएव आकार-प्रकार, रूप-रंग इत्यादि वाह्य विभिन्नता के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति की रुचि-अरुचि, अनुरक्ति-विरक्ति, प्रेम-घृणा आदि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हृद्गत-वृत्तियों में भी सहज अन्तर लक्षित होता है।' "भिन्न रुचिर्हि लोकः" का यही तात्पर्य है कि वाह्य जगत् के सम्पर्क से उद्भूत मानस-पटल पर अंकित भावनाएं या अनुभूतियां प्रत्येक हृदय में विभिन्न आकार ग्रहण करती हैं। उनकी तीव्रता, संकुलता तथा व्यापकता में भी भाषा का भेद रहता है। इस वैचित्र्य-नियम के अनुसार अभिव्यंजना-प्रणाली में वैविध्य भी स्वाभाविक है। तो भी सुविधा के लिए वाह्य उपादानों की इस विविधता को कतिपय स्थूल तत्वों के अन्तर्गत एकता के सूत्र में आवद्ध किया जा सकता है। शब्द सम्बन्धी अभिव्यंजना तत्व शब्द, ध्वनि, वाक्य, रीति, वृत्ति, शब्दालंकार आदि हैं तथा अर्थ सम्बन्धी उपकरणों में शब्द-शक्तियाँ, अर्थालंकार आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं।

इस प्रकार स्थूलतः अभिव्यंजना के उपादान निम्नलिखित हैं, जिनका क्रम से संक्षिप्त विवेचन हम आगे करेंगे—

(क) भाषा { शब्द कोश, वाक्य विन्यास }

(ख) अलंकरण { (१) शब्दालंकार, (२) अर्थालंकार }

(ग) शब्द-शक्ति

(घ) गुण, रीति, वृत्ति आदि

**शब्दकोश**—रचना का सबसे बड़ा आधार और साधन 'शब्द' है। किसी काव्य की सुन्दरता अथवा कुरूपता शब्द पर निर्भर है क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ चिर-सम्पृक्त या अभिन्न कहे गये हैं। मम्मट ने कहा है, "साक्षात् संकेतितयोऽर्थमभिधत्ते स वाचकः" अर्थात्, जो साक्षात् संकेतिक अर्थ का बोधक होता है वह वाचक शब्द है। यह संकेत-ग्रहण व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार आदि अनेक कारणों से वताया गया है। अतः यदि शब्द कवि के भावों को व्यक्त नहीं करते तो उनका अर्थ-संकेत दूषित है और अर्थ-संकेत से उपयुक्त शब्द न हों तो शब्द दूषित है। इसलिए लेखक के व्यवहार्य शब्द-कोष से हमारा अभिप्राय उन शब्दों से है जिनका उपयोग कलाकार अनुभूति के अनुरूप अर्थात् अभिप्रेत अर्थ के व्यंजनार्थ स्वच्छन्दता से कर सके; और यह तभी सम्भव है जब कवि की शब्द राशि अपरिमित हो। डा० श्यामसुन्दरदास ने इस विषय में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, "यह आवश्यक ही नहीं वल्कि अनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द भांडार बहुत प्रचुर हो, और उसे इस बात का भलीभाँति स्मरण रहे कि मेरे भांडार में कौन-कौन से रत्न कहां रखे हैं जिनमें प्रयोजन पड़ते ही उन रत्नों को निकाल सकूं।"[१] पाश्चात्य विद्वान् भी समृद्ध शब्दराशि की अनिवार्यता के कायल हैं। आलोचक वाल्टर रेले 'स्टाइल' शीर्षक

---

१. साहित्यालोचन, पृ० ३०५



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लेख में प्रकारान्तर से इसे स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि, 'शब्द दो मानस-जगत् के मध्य क्रियाशील प्रतीक है। अतएव प्रयोक्ता शब्द चयन करते समय भोक्ता के मानस पर पड़ने वाले शब्द के प्रभावोत्पादक गुण की उपेक्षा नहीं कर सकता।'[1] शब्द की इस महत्ता का एक कारण है। शब्द अनन्त हैं। वे तदर्थक भी होते हैं और पर्याय भी; अर्थात् अनेक शब्द एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं अथवा एक शब्द अनेक अर्थों की प्रतीति भी करा सकता है। रुद्रट कहते हैं कि काव्य में अनेक प्रकार के अर्थवान् शब्द होते हैं।[2] परन्तु यह जरूर है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ से वाच्य-वाचक सम्बन्ध रहता है। इसका कारण यह है कि एक शब्द के अनेक अर्थ अथवा अनेक शब्दों का एक अर्थ रहते हुए भी, जो शब्द (प्रसंगवश) विवक्षित अर्थ का ठीक बोध कराये, कवि के लिए वही शब्द सार्थक है और अर्थ वही है जो स्वयं सुन्दर हो और सहृदय का हृदयाह्लादक हो।[3]

अतएव कवि के लिये अनिवार्य है कि वह शब्द के अन्तर में निहित विभिन्न तथा सूक्ष्मतम अर्थों का अध्ययन करे, उनके प्रवृत्ति-निमित्त भेद को समझे तथा अभिलषित अर्थ-प्रतीति कराने वाले शब्द का ही उपयोग करे। उदाहरणार्थ श्रीकृष्ण के गिरिधर, गोपीनाथ, राधावल्लभ, मुरलीधर, मुरारी, घनश्याम, गोविन्द इत्यादि अनेक नाम प्राप्त हैं। किन्तु कवि के लिये प्रत्येक पर्याय में वैभिन्य है क्योंकि इन सब शब्दों में गुण-भेद है। 'गिरिधर' पर्वत को अंगुली पर धारण करने वाला शक्तिशाली यशोदा पुत्र है। 'गोपीनाथ' वृन्दावन में गोपिकाओं के साथ रास रचाने वाला है। राधावल्लभ से राधा के प्रियतम का भाव मुखरित हो उठता है। तात्पर्य यह है यहाँ लेखक के शब्द-सामर्थ्य के विवेकपूर्ण अध्ययन पर निर्भर सम्यक् शब्द के प्रयोग की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। महाभाष्यकार ने भी कहा है कि, 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति'[4]—अर्थात्, एक शब्द का यदि सम्यक् ज्ञान हो जाये और सुन्दर रूप से उसका प्रयोग किया जाये तो वह शब्द, लोक और परलोक, दोनों में अभिमत फल का दाता होता है। वस्तुतः यही शब्द-ज्ञान कलाकार को सामान्य मनुष्य की कोटि से निकाल कर विशिष्ट-कोटि में स्थान देता है। पाश्चात्य आलोचक वाल्टर रेले के शब्दों में—"जहाँ मंद बुद्धि तद्रूपता के सिवाय और कुछ नहीं देखती वहां प्रशिक्षित निपुणता (शब्दों में) ऐसी सैकड़ों विभिन्नताएं चीन्ह लेती हैं जो सूक्ष्म अभिव्यंजना के प्राण हैं।"[5]

---

१. A word is the operative symbol of relation between two minds and is chosen by the one not without regard to the quality of the effect actually produced upon the other—P. 66, "Style"—by Walter Raleigh. [rd 1916]

२. शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः—रुद्रट

३. शब्दो विवक्षितार्थैक वाचकेऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः॥ —वक्रोक्तिजीवितम्।

४. महाभाष्य।

५. "Where a dull eye sees nothing but sameness, the trained



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा कि संचित शब्द-राशि का केवल तत्सम अथवा तद्भव बहुला होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। साथ ही केवल समस्त पदावली या केवल असमस्त शब्द भी किसी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती। शब्द चाहे तत्सम हो अथवा तद्भव, समासयुक्त हो अथवा समासहीन, उसका प्रसंगानुकूल और बोधगम्य होना ही सबसे महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि उक्ति में प्रसादता न तद्भव शब्दों के संयोग से आती है और न भाषा सौन्दर्य की अभिवृद्धि तत्सम-प्राचुर्य पर आश्रित है। तत्सम और तद्भव बहुला भाषा के निम्नलिखित दो उदाहरण इसके प्रमाण हैं:—

(क) प्रसादिनी पुष्प सुगंध-वर्द्धिनी।
विकासिनी वेलि लता विनोदिनी॥
अलौकिका थी मलयानिली क्रिया।
विमोहिनी पादप पंक्ति-मोदिनी॥—हरिऔध

(ख) चाँदी की चाँदनी, धूप में जात रूप लहराया,
तेरा दिया राम, सब पावें, जैसा मैंने पाया॥
—मैथिलीशरण गुप्त

वस्तुतः लेखक की अभिव्यक्ति की सफलता, अभीष्ट अर्थ की व्यंजकता, उक्ति की प्राणवत्ता, समर्थ, उचित एवं सुष्ठु शब्द-प्रयोग पर आश्रित है। शब्द चाहे तत्सम हों अथवा तद्भव, सशक्त हों अथवा अशक्त, निश्चित हों या अनिश्चित, प्रतीकात्मक हों या बिम्बात्मक, सबका भाषा में समान महत्व है। सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में, "प्रत्येक शब्द का स्वतंत्र हृत्स्पन्दन, स्वतंत्र अंगभंगी और स्वाभाविक साँसें हैं।" पाश्चात्य आलोचक हरबर्ट रीड भी कहते हैं कि, "अच्छा लेखक शब्दों का प्रयोग, शब्द की निरुक्ति, परम्परा तथा पांडित्यपूर्ण उपयोग में नहीं देखता। वह तो अर्थ के सीमित बन्धों में विशिष्ट शब्द-वर्ण में निहित उसकी प्रेषण शक्ति को परखता है।"[१]

सुन्दर शब्द मैत्री, शब्द के सुष्ठु वर्ण-विन्यास तथा उसकी बिम्बात्मक शक्ति के आश्रित होती है। वर्ण-विन्यास से हमारा तात्पर्य श्रुति-सुखद शब्दों से है। क्योंकि सुवर्ण विन्यासवती भाषा नाद-सौन्दर्य विधायक होती है। नाद-सौन्दर्य के साधन हैं छन्द, तुक, लय, गति इत्यादि।

---

faculty of observation will discern a hundred differences worthy of scrupulous expression"—P. 46–Style—Walter Raleigh [rd 1916]

१. A good writer does not select his word by virtue of any pedantic leaning to this or that theory of their origin and proper use but, within the limits of accepted meaning is governed by the due measure of expressiveness implied in the syllables of a particular word—P. 5–"English Prose Style"—H. Reade.



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इनसे कविता में गेयता तथा संगीतात्मकता का समावेश होता है और शाश्वत कविता के प्राण पुलकित हो उठते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में वर्ण-योजना के आधार पर निर्मित ध्वनि-चित्र द्रष्टव्य हैं—

**झूम झूम मृदु गरज गरज घनघोर,**
**राग अमर अम्बर में भर निज रोर।**
**झर झर झर निर्झर गिरि सर में,**
**घर मरु तरु मर्मर सागर में।।—निराला**

अभिव्यंजना की सौन्दर्य-वृद्धि में शब्द का दूसरा विधायक गुण उसकी चित्रमयता है। नादात्मक एवं बिम्बात्मक सौन्दर्य के समवाय से उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि होती है। शब्द की बिम्बात्मक शक्ति की योग्यता, उपयुक्तता एवं प्रेषणीयता अनिवार्य धर्म हैं। सुन्दर श्रुति-सुखद वर्ण-योजना के साथ प्रसंगानुकूल शब्द-चयन द्वारा उपस्थित चित्र देखिए :—

**मृदु मंद मंद मंथर मंथर,**
**लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर।**
**तिर रही खोल पालों के स्वर,**
**लो पालें चढ़ीं, उठा लंगर।।—पंत**

उद्धृत पदांश में चित्र-भाषा के सब गुण वर्तमान हैं। श्री सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में इसके शब्द सस्वर हैं, सेब की तरह इनकी मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण झलक रही है।

इस प्रकार की शब्द योजना कितनी श्रम-साध्य होती है यह वाल्टर रेले के शब्दों में स्पष्ट है—"जिन्होंने जागरूक एवं सतर्क होकर लिखने की कला का अभ्यास किया है उन्हें ज्ञात है कि स्वर-ताल-हीन अथवा अनफ़िटपदावली से बचना कितना कष्टसाध्य है। नाना-अभिव्यंजनाओं में (कलाकार द्वारा) अर्थ या आशय की श्रमपूर्वक जाँच की जाती है, शब्द के स्वरूप तथा विकारों का अध्ययन किया जाता है और तब कहीं (भावों को) शब्द रूप प्राप्त होता है।"[१]

**वाक्य विन्यास**—१. शब्दों से वाक्य बनता है। अतः शब्दों के समान ही काव्य में वाक्य की भी महत्ता है। क्योंकि किसी भी पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति वाक्य द्वारा ही सम्भव है। साधारणतः जब हम वाक्य के स्थान पर किसी एक शब्द का प्रयोग करते हैं (जैसे कौन?

---

१. All who have consciously practised the art of writing know what endless and painful vigilance is needed for the avoidance of the unfit or untuneful phrases how the meaning must be tossed from expression to expression; mutilated and deceived ere it can find rest in words —P. 16. "Style"—Walter Raleigh.



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तुम !, लाओ, इत्यादि) वहां प्रसिद्धि के आधार पर क्रिया या कर्म का आक्षेप कर लिया जाता है। पतंजलि ने महाभाष्य में तथा स्फोटवादियों ने भी कहा है कि 'व्यवहार की सरलता के लिए यद्यपि शब्द, प्रकृति, प्रत्यय आदि कल्पित कर लिए गये हैं तथापि वाक्य में अर्थ बोधकता होने के कारण भाषा का चरमावयव वाक्य ही है।'[१] इसलिये आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक भी वाक्य को बहुत महत्व देते हैं।

'साहित्य दर्पणकार' विश्वनाथ ने वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'उस उच्चरित्र अथवा अनुमित पद समूह का नाम वाक्य है जो परस्पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त होकर किसी एक अर्थ का बोध कराने में समर्थ हो।' पदार्थों के परस्पर अन्वय में अड़चन न होना योग्यता है। वाक्यार्थ पूरा करने के लिए अन्यान्य पदों की अपेक्षा रहना आकांक्षा कहलाता है तथा क्रम से एक पद के बाद दूसरे पद के सुनते समय सम्बन्ध ज्ञान का बना रहना आसक्ति है। पाश्चात्यों ने भी वाक्य में आकार, लय, तुक तथा विन्यास की अन्विति का यथोचित बना रहना अनिवार्य बताया है।[२]

२. वाक्य में दूसरा महत्व पद-स्थापन को दिया गया है क्योंकि पदों का विशेष क्रम ही तो वाक्य है।[३] उपयुक्त पद यदि उपयुक्त स्थान पर न रखे जाएं तो वाक्य शिथिल ही नहीं हो जाता अपितु उसकी प्रभावोत्पादकता एवं अर्थ-प्रतीति में भी बाधा उपस्थित हो जाती है। यों तो पद्य में गद्य की तरह उद्देश्य और विधेय का कोई विशेष क्रम पालन नहीं किया जाता। कारण यह है कि कुशल वर्णन ही कवि का लक्ष्य होता है। अतएव उसे इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह विषयानुकूल पदों का क्रम इस प्रकार रखे कि मुख्य भाव मुखरित हो उठे। इसके लिये वह आवश्यकतानुसार उदेश्य–विधेय आदि का क्रम परिवर्तित कर लेता है। फिर भी यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि ऐसा क्रम परिवर्तन काम्य नहीं होता जिससे अर्थ का अनर्थ हो जाये अथवा कविता का रस-भंग हो, यथा:—

**मेरे जीवन की एक प्यास होकर सिकता में एक बूंद**
**छोड़ चन्द्र अलि! गगन में उदय होत अब मान**

रेखांकित शब्दों में क्रम-भंग होने के कारण अर्थ-बोध में अत्यन्त कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त वाक्य में भ्रामक पदों के दुष्प्रयोग से भी बचना चाहिए क्योंकि वे काव्य-दोष में परिगणित कर लिये जाते हैं। यथा:—

---

१. वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्ष तिष्ठतीति मनस्थिति। —महाभाष्य, १-१-४४

२. it (Sentence) is a unit of expression and its various qualities length, rhythm and structure, are determined by a right sense of their unity—English Prose Style—H. Reade.

३. वाक्य—२-५३,—पुण्यराज



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पीकर मृगतृष्णा उसने अपनी तृषा मिटायी।

मृगतृष्णा से प्यास नहीं बुझाई जा सकती। अतः पाठक को अर्थ-प्रतीति के लिये मस्तिष्क की पर्याप्त कसरत करनी पड़ती है। इसलिये शब्दों की उचित अन्विति नितान्त आवश्यक है। राजशेखर ने भी कहा है कि, 'जिस पाक से विद्वानों को गुण, अलंकार, रीति, उक्ति, शब्द और अर्थ की रचना परिपाटी आनन्ददायक हो, वह वाक्य पाक है और वही मुझे अच्छा लगता है।'[1]

३. कुशल वाक्य-योजना द्वारा भी काव्याभिव्यंजन में अनेक प्रकार से सौन्दर्य की अभिवृद्धि की जा सकती है। उदाहरणार्थ कलाकार पाठक की जिज्ञासा को बनाए रखने के लिये मुख्य वाक्य को अन्त में इस प्रकार प्रयुक्त करे कि अवान्तर वाक्यों का अर्थ अन्तिम मुख्य वाक्य को जाने बिना पूर्ण न हो। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में इस सौन्दर्य विधायक तत्व को 'पीरियड' कहते हैं। जैसे :—

वक्ष पर जिसके जल उडुगन, बुझा देते असंख्य जीवन
कनक औ नीलम यानों पर, दौड़ते जिस पर निशि वासर
पिघल गिरि से विशाल बादल, न कर सकते जिसको चंचल
तड़ित की ज्वाला घन गर्जन, जगा पाते न एक कंपन
उसी नभ सा क्या वह अविकार, और परिवर्तन का आधार। —महादेवी

विशिष्ट वाक्य-विन्यास पर आश्रित सौन्दर्य-विन्यास की दूसरी विधा 'ऐन्टीथीसिस' है लेखक जब दो विरोधी भावों को अभिव्यक्त करना चाहता है तब वह प्रस्तुत शैली को अपनाता है। 'ऐन्टीथीसिस' के दो साधन हैं:—

(क) दो अथवा दो से अधिक स्वतंत्र किन्तु संतुलित वाक्यों की योजना,

(ख) दो वाक्यों में वर्ण अथवा शब्दावृत्ति द्वारा फोर्स (प्रभाव) उत्पन्न करना। इस सम्बन्ध में दो पद द्रष्टव्य हैं:—

(क) अपने दिन रात हुए उनके, क्षण ही भर में छवि देख यहां।
सुलगी अनुराग की आग वहां, जल से भरपूर तड़ाग जहां।।

—रामनरेश त्रिपाठी

(ख) शंकाएं हैं जहां, वहां धीरों की मति है,
आशंकाएं जहां, वहां वीरों की गति है।

वाक्य योजना का तीसरा विधायक तत्व कहावतों और मुहावरों का प्रयोग है। कलाकार जब किसी सूत्र वाक्य द्वारा अपने आशय आ स्पष्टीकरण अथवा स्वमत स्थापन करता है अभि-

---

१. गुणालंकाररीत्युक्ति शब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः सभां प्रति।। —काव्य मीमांसा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



व्यंजना में सौन्दर्य एवं प्रसाद गुण का समावेश स्वतः हो जाता है। अंग्रेजी में इसे एफोरीज्म भी कहते हैं। यथा :—

देख लो कांटे बिना कांटा निकलता है नहीं,
क्रूर जन से सौम्य का कुछ काम चलता है नहीं।
पड़ जाते कुसंग में सज्जन,
तो भी उसमें गुण रहता है।
अहि के सँग रहता है चन्दन,
जन-संताप तदपि हरता है।।

—रामचरित उपाध्याय

**अलंकार**—काव्य के आभ्यन्तर एवं वाह्य पक्ष को जो तत्व वास्तव में रमणीयता और चमत्कार प्रदान करता है, वह है अलंकार। अलंकार शब्द प्राचीन ग्रंथों में दो विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुआ है :—

(१) तैः शरीरंच काव्यानामलंकारश्चदर्शिताः।
(२) कोऽसावलंकारइत्याहः
सौन्दर्यमलंकारः अलंकृतिः अलंकारः।

अतः सामान्य अर्थ के अनुसार गुण, रीति, वृत्ति आदि सभी अलंकार के अन्तर्गत परिगणित किये गये, किन्तु विशिष्ट अर्थ में उससे अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकारों का बोध होता है। आगे चलकर साहित्यशास्त्र में 'अलंकार' इसी विशिष्ट अर्थ में रूढ़ सा हो गया।

अलंकार की सबसे बड़ी कसौटी है काव्य में प्रभावोत्पादकता, रमणीयता, चमत्कार एवं बोधगम्यता उत्पन्न करने की शक्ति। "कामिनी अत्यन्त सुन्दरी है"; इस वाक्य से कहीं अधिक बिम्बविधायक उक्ति है—"कामिनी का मुख कलाधर के समान कमनीय है।" वस्तुतः अलंकार भावों को तीव्रता तथा भाषा को रमणीयता प्रदान करते हैं। इस सौन्दर्य-विधान के हेतु इनका जन्म हुआ और इसी की अभिवृद्धि में उनकी सार्थकता है। कदाचित् इसीलिये प्राचीन संस्कृताचार्यों ने—इन्हें काव्य का अनिवार्य अंग मान लिया तथा अलंकारों को सौन्दर्य का पर्याय स्वीकार किया है। कालान्तर में 'रस' तथा 'ध्वनि' के संस्थापकों ने इन पर पुर्नविचार किया,

---

१. काव्यादर्श, १-१०, दण्डी
२. काव्यालंकार सूत्र, १-१-२, वामन
३. क—काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितः—अग्निपुराण
ख—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते—काव्यादर्श
ग—काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकारः—काव्यालंकार



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और परम्परा से प्राप्त विचारधारा में परिवर्तन हुआ। फलतः अलंकार काव्य के 'अस्थिर धर्म'[१] माने गये। यह ठीक भी है। क्योंकि अलंकारवाद की प्रधानता से काव्य का स्वरूप आवश्यकता से अधिक बोझिल हो जाता है। उत्कृष्ट कोटि का कलाकार काव्य रचना करते समय केवल अलंकार विधान के लिए जागरूक होकर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास आदि का सन्निवेश नहीं करता, अन्यथा वे 'साधन' मात्र न रह कर 'साध्य' हो जायें। वे तो उच्चकोटि की भावाभिव्यक्ति में स्वतः चले आते हैं; कवि को उनके लाने का प्रयास नहीं करना पड़ता। क्योंकि अलंकार-विहीन काव्य से भी रसनिष्पत्ति सम्भव है। इसलिये साहित्य दर्पणकार ने इन्हें 'अस्थिर धर्म' कहा है। दूसरी ओर प्रखर भावाभिव्यंजन में अलंकार सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं। इसी कारण क्रोचे ने अलंकार-अलंकार्य का भेद स्वीकार ही नहीं किया।[२] इस वाद-विवाद में न पड़ कर हम केवल इतना ही कहेंगे कि अलंकार की स्वस्थ पृष्ठभूमि भाव है, केवल सुन्दर उपमान नहीं। जिस प्रकार अति-अलंकृत कुरूपा नारी आभूषण-भार से अधिक कुरूप लगती है उसी प्रकार नगण्य भाव में सुन्दर उपमानों से युक्त भाषा शब्दाडम्बर के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कवि पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में अलंकार का रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है : "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए, आवश्यक उपदान हैं। वे वाणी के आचार, व्यवहार और रीति-नीति हैं, वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहां भाषा की जाली केवल अलंकारों की चौखट में फिट करने के लिए बुनी जाती है वहां भावों की उदारता, शब्दों की कृपण-जड़ता में बंध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"[३]

भाषा में बोधगम्यता, रमणीयता, चित्रमयता एवं प्रभावोत्पादकता लाने वाले अलंकार की परिभाषा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार की है—'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।'

जिस प्रकार अभिव्यंजना के प्रकारों की कोई सीमा नहीं, उसी प्रकार अलंकार भी संख्या-

---

१. **शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माशोभातिशायिनः।**
**रसादिनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ——साहित्यदर्पण**

२. One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally In this case it must always remain separate. Internally ? In this case either it does not assist expression and marsit or it does from post of it and is not an ornament, but a constituent element of expression indistinguishable from the whole. —P. 69—Aesthetic—B. Croce.

३. **पल्लव——भूमिका——पृ० १९——सुमित्रानन्दन पंत**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तीत हैं। कवि-प्रतिभा ईश्वरीय देन है। अतः कवि-व्यक्तित्व के अनुसार व्यंजना की विधाएं भी बहुविध हो जाती हैं। ध्वन्यालोक के रचयिता कहते हैं, 'अलंकार अनन्त हैं।'[1] दण्डी ने लिखा है कि, 'अलंकारों की आज भी सृष्टि हो रही है अतः उनकी गणना कौन कर सकता है।'[2] इसी को प्रकारान्तर से रुद्रट ने भी व्यक्त किया है।[3] फिर भी शब्द पर आश्रित भाषा के दो धर्म कहे गए हैं : (१) ध्वन्यात्मक (२) विम्बात्मक (अर्थात् शब्द में भाव के अनुकूल या तो गेयता होती है और या सहृदय पाठक के सम्मुख चित्र उपस्थित करने की क्षमता)। इस आधार पर अलंकार भी दो वर्गों में विभाजित किये गये हैं--(क) ध्वनि पर आश्रित--शब्दालंकार (ख) विम्ब पर आश्रित--अर्थालंकार।

**शब्दालंकार**--ध्वनि को लेकर शब्दालंकार की सृष्टि होती है। इनके प्रयोग से भाषा में संगीतात्मकता, ध्वन्यात्मकता एवं चमत्कार का संचार होता है। अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकार शब्दगत कहे जाते हैं। भाषा में गेयता का समावेश 'वर्ण' अथवा 'शब्द' की आवृत्ति द्वारा सम्भव होता है, यथा :--

**अनुप्रास**--तरणि के संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में--पंत

**यमक**--सुन कपे जग में बस वीर के, सुयश कारण कारण मुख्य हैं।
--रा० च० उपाध्याय

इसके अतिरिक्त उक्ति में चमत्कार का कारण विशिष्ट कथन-भंगिमा द्वारा लाया जा सकता है, जैसे--

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहां अपर है?
उसने कहा अपर कैसा? उड़ है गया सपर है।
--गुरुभक्त सिंह

शब्दालंकार की योजना से शैली में चमत्कार-वृद्धि होने पर भी इनका स्थान कविता में गौण ही रहा। क्योंकि कवि अपनी विशिष्ट शैली द्वारा रचना अथवा उक्ति में जिस रमणीयता की सृष्टि करता है तथा वर्णित भावों का उत्कर्ष दिखाना चाहता है उसकी सिद्धि, अर्थालंकारों की सहायता से ही होती है।

**अर्थालंकार**--हम पहले कह आये हैं कि वाग्वैविध्य के अनुसार अलंकार भी अनन्त हैं। अलंकारों की इस अनन्तता को वर्गीकृत करते समय संस्कृताचार्यों ने भिन्न-भिन्न आधार माने हैं। भामह ने वक्रोक्ति, दण्डी ने अतिशयोक्ति तथा वामन ने उपमा को सबके मूल में स्थित माना है। रुद्रट ने अलंकार का व्यापक वर्गीकरण किया तथा वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष

----------

१. अलंकाराणमनन्तत्वात्--ध्वन्यालोक

२. ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान्कार्त्स्न्येनवक्ष्यति।--काव्यादर्श

३. ततो यवान्तोहृदयावर्जका अर्थप्रकाशः तावन्तः अलंकारः।--काव्यालंकार



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चार भेद किये। रुय्यक ने सात वर्ग बनाए--सादृश्य गर्भ, विरोध गर्भ, श्रृंखलाबद्ध, तर्कन्यायमूल, वाक्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल और गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक। इस प्रकार वर्गीकरण के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद रहा। आधुनिक युग में अलंकारों का वर्गीकरण मनोविज्ञान के आधार पर किया गया है:—

(१) सादृश्य व साधर्म्य पर आश्रित---उपमा, रूपक, अनन्वय, व्यतिरेक इत्यादि।
(२) अतिशय पर आधृत—अतिशयोक्ति, सार, उदात्त आदि।
(३) विरोधमूलक--जैसे विरोधाभास, विभावना, असंगति, आक्षेप आदि।
(४) श्रृंखलाबद्ध--जैसे कारणमाला, एकावली, यथासंख्य, सार आदि।
(५) तर्क व गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक—जैसे काव्यलिंग, पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि।

अलंकारों की सहायता से काव्य के भाव, वस्तु, रूप, गुण क्रिया आदि में सौन्दर्य-वृद्धि के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

**भाव-सौन्दर्य (विह्वलता) (क)**
तरल मोती से नयन भरे,
मानस से ले उठे स्नेह घन।
कसक विधु-पुलकों के हिमकण,
सुधि स्वाती की छांह पलक की सीपी में उतरे--(रूपक)

**करुणा (ख)**
कोई प्यारा कुसुम कुम्हला मौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन बतला फूल-सी एक बाला,
म्लाना हो हो, कमल पग को चूमना चाहती है॥ (रूपक)

**वस्तु-सौन्दर्य**
नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥
(उपमा)

**गुणानुभव की प्रकर्षता (ग)**
सुख भोग खोजने आते सब, आये तुम करने सत्य खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन, तुम आत्मा के मन के मनोज।
(व्यतिरेक)

**क्रियानुभव की तीव्रता (घ)**
दम्पती चौंके, पवन मण्डल हिला,
चंचला सी छिटक छूटी उर्मिला। --(उर्मिला)



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**प्रतीक-योजना**——वर्तमान काल की कविता में प्रतीक-योजना का व्यापक प्रयोग दृष्टिगत होता है, अतएव प्रतीकात्मक प्रयोगों का संकेत भी अनिवार्य है। हम देख आये हैं कि प्रत्येक भाषा में शब्द स्वरूप बोध के साथ भावोद्‌बोधन की क्षमता भी नैसर्गिक है। जिन शब्दों में इस प्रकार के भावोद्‌बोधन की तनिक सी क्षमता होती है वे भाषा की अलंकार योजना में प्रतीक का काम देते हैं। आधुनिक विद्वानों ने प्रतीकों के भावोत्पादक (इमोशनल) तथा विचारोत्पादक (इन्टलेक्चुअल) दो भेद किये हैं। किन्तु वास्तव में ये दोनों शब्दगत गुण अन्योन्याश्रित हैं। विचारोद्‌बोधन के क्षणों में सहृदय के मानस में भावोत्पत्ति भी निसर्गतः हो जाती है। उदाहरणार्थ कमल शब्द सुनते ही जिस प्रकार सुन्दर स्निग्ध और कोमल भावना जागरित होती है उसी प्रकार सांप का विचारमात्र क्रूरता, कुटिलता, भयंकरता आदि भावों की उत्पत्ति में सहायक होता है।

सत्य तो यह है कि प्रतीक गोचर हों अथवा अगोचर उनकी क्षमता सहृदय पाठक के मन में विचार उद्‌बुद्ध करने में निहित है। प्रतीक और उपमान में केवल यह अन्तर है कि प्रतीक के लिये किसी प्रकार के सादृश्य, साधर्म्म, आदि आधार की आवश्यकता नहीं होती, जब कि उपमा आदि अलंकारों में यह आधार-शिला-अनिवार्य है; उदाहरणार्थ चन्द्र, कुमुदिनी, आकाश, समुद्र, हंस आदि गोचर प्रतीक क्रमशः, स्निग्धता, आह्लाद, शुभ्रहास, उच्चता, अनन्तता, गंभीरता एवं विवेक आदि भावों का संकेत देते हैं। जो उपमान प्रतीक-स्वरूप प्रयुक्त होते हैं वे मार्मिक काव्य विधान करने की क्षमता रखते हैं, जैसे 'शूल और कलियां' अथवा 'उषा' और 'संध्या' दुःख-सुख के प्रतीक हैं। श्री महादेवी वर्मा की काव्य-साधना में उक्त अनुभूतियां प्रतीकों के माध्यम से कितने सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं:—

**शूलों का दंशन भी हो, कलियों का चुम्बन भी हो।**
**सूखे पल्लव फिरते हों, कहते जब करुण कहानी॥**

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के निम्नलिखित पद में प्रात, चन्द्र, ज्योत्स्ना और रेणु क्रम से स्फूर्ति, शान्ति और शीतलता के प्रतीक हैं:—

**वहां नयनों में केवल प्रात, चन्द्र ज्योत्स्ना ही केवल गात,**
**रेणु लाए ही रहते पात, मंद ही बहती सदा बयार।**
**हमें जाना इस जग के पार॥**

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य, संस्कृति, समीक्षा आदि का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। अतः काव्य का भाव पक्ष ही नहीं कला पक्ष भी पाश्चात्य प्रभाव से अछूता न रह सका। प्रस्तुत प्रकरण में कुछ अलंकारों का उल्लेख युगीन-प्रयोग की दृष्टि से अनिवार्य है क्योंकि प्रत्यक्षतः अथवा प्रकारान्तर से उनका सन्निवेश आधुनिक काव्य में बहुल रूप में पाया जाता है।

**हिन्दी काव्य में प्रयुक्त पाश्चात्य अलंकार**——सब प्रकार की अलंकृत भाषा शैली का उत्स



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मानव मस्तिष्क है। इसलिये समस्त विश्व-साहित्य में मूल अलंकार समान रूप से वही पाये जाते हैं ; उदाहरणार्थ ; पाश्चात्य साहित्य के अनेक अलंकार हमारे यहां संस्कृत साहित्य-शास्त्र की शब्द-शक्ति में समाविष्ट है। इसके अतिरिक्त सिमिली, मैटाफ़र तथा लाइटोट्स को क्रम से 'उपमा', 'रूपक' तथा 'अपुह्नुति' का पर्याय माना जा सकता हैं। फ़ेबल तथा एलेगरी 'अन्योक्ति' तथा 'रूपक' के दूसरे नाम हैं। हाइपरबोल में अत्युक्ति और 'अतिशयोक्ति' तथा क्लाइमेक्स में 'सार' के सब गुण विद्यमान हैं। 'पैराडोक्स' या आक्सीमोरन तथा 'विरोधाभास' में कोई अन्तर नहीं है। गूढ़ार्थप्रतीति-मूलक अलंकारों में यूफ़िमिज्म में 'पर्याय' का तथा 'पन' में श्लेष और यमक दोनों का रूप मुखरित हो उठता है। 'आनोमैटोपिया' शब्दालंकार का समवेत रूप है। फिर भी उपमानों के विशिष्ट एवं विचित्र चयन के कारण पाश्चात्य साहित्य के कतिपय अलंकार अभिव्यंजना में असाधारण स्थान रखते हैं जिनका उल्लेख उपादेय होगा ––

(१) हाइपलेज अथवा विशेष––विपर्यय––किसी विशिष्ट कथन को अर्थ-गर्भित तथा गंभीर बनाने के हेतु उपमेय का विशेषण उपमान से जोड़ देना विशेषण विपर्यय कहलाता है :––

**चल चरणों का व्याकुल पनघट,**<br>
**कहाँ आज वह वृन्दाधाम। ––निराला**

(२) परसानिफ़िकेशन अथवा मानवीकरण का अभिप्राय है भावनाओं अथवा प्रस्तुत अमूर्त्त विषय में मानव गुणों का आरोप करना। मूर्तिमत्ता की यह प्रणाली भाषा में वक्रता एवं चमत्कार लाती है, यथा :––

**मृत्यु सदृश शीतल निराश ही आलिंगन पाती थी दृष्टि,**<br>
**परम व्योम से भौतिक कण सी घने कुहासों की थी वृष्टि। ––प्रसाद**

कभी-कभी भावानुभूति इतनी प्रखर हो उठती है कि कवि उसमें केवल मानव-गुणों का ही आरोप नहीं करता अपितु उसे व्यक्ति की तरह सम्बोधित भी कर उठता है। इसे पाश्चात्य साहित्यशास्त्री एपोस्ट्रोफ़े कहते हैं। यथा :––

**अरी मृत्यु ! चिरनिद्रे।**<br>
**तेरा अंक हिमानी सा शीतल।**<br>
**ओ चिन्ता की पहली रेखा ! अरी विश्व वन की व्याली।**<br>
**ज्वलामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप सी मतवाली।।**

सिनकडके किसी वस्तु को ऐसी संज्ञा देने का व्यापार है जो इष्ट अर्थ से कुछ अधिक अथवा कुछ कम व्यक्त करे। यह दो प्रकार से सम्भव है :––(क) पूर्ण वस्तु के लिए उसके किसी अंश का कथन। जैसे आयु के वर्ष द्योतित करने के लिए यह कथन कि 'मेरे पच्चीस वसन्त बीत गये।'



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(ख) वस्तु-अंश के लिए पूर्ण वस्तु का उल्लेख। जैसे—अभिमन्यु की मृत्यु पर यह कहना कि 'पाण्डव सेना मारी गई।'

**शब्द शक्ति:**——शब्दशक्ति अभिव्यंजना का एक अन्य प्रमुख सौन्दर्य विधायक उपादान है। कलाकार अपनी उक्ति को प्रभावोत्पादक, अर्थव्यंजक एवं आकर्षक बनाने के लिये बात को प्रत्यक्ष रूप से न कहकर प्रकारान्तर से भी कहता है। इस प्रकारान्तर 'कथन के लिए' वह शब्दाश्रित शक्तियों का उपयोग करता है। भारतीय साहित्याचार्यों ने शब्द को तीन प्रकार का माना है :——अभिधायक, लक्षक एवं व्यंजक। इसी आधार पर उन्होंने शब्द की तीन शक्तियां स्थिर की हैं :—— अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनके आश्रित अभिव्यंजन भी तीन प्रकार का कहा जा सकता है :——अभिधायक, लाक्षणिक तथा व्यंग्यात्मक।

शब्द शक्तियां काव्य में अभिव्यंजना-सौष्ठव की किस प्रकार वृद्धि करती हैं यह निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा :——

**अभिधाशक्ति द्वारा चित्रमयता**

कुछ दिनों उपरान्त ब्रजेश के, चरण भूपर भी पड़ने लगे।
नवल नूपुर औ कटि किंकिणी ध्वनित हो उठने गृह में लगी।
ठुमकते, गिरते पड़ते हुए जननि के कर की उंगली गहे।
सदन में चलते जब श्याम थे, उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था। ——हरिऔध

**बिम्बात्मकता**

विचित्र थी शीश किरीट की प्रभा,
कसी हुई थी कटि में सु-काछनी।
दुकूल से शोभित कान्त कन्ध था
विलम्बिता थी वनमाल कण्ठ में
अहीश को नाथ विचित्र रीति से
स्वहस्त में थे मुरली मुहुर्मुहः
प्रबोधिनी मुग्धकरी विमोहिनी! ——हरिऔध

**लक्षणा शक्ति**

बेतरह दुखे किसी दिल में, भले ही पड़ जाये छाला।
जीभ सी कुंजी पाकर वे, लगायें क्यों मुंह में ताला।
(रूढ़ि लक्षणा)——अयोध्यासिंह उपाध्याय

जब हुई हकूमत आंखों पर जन भी चुपके में आहों में,
कोड़ों की खाकर मार पली, पीड़ित की दबी कराहों में
(उपादान लक्षणा)——दिनकर



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मैंने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो,
रस है यदि तो वह तेरे चरणों ही का जूठन है।

(लक्षण लक्षणा)--माखनलाल चतुर्वेदी

इन प्रयोगों के अतिरिक्त वर्तमान समय की कविता में ऐसी लाक्षणिक पद-योजना का विधान भी मिलता है जिससे उक्ति में वैचित्र्य और चमत्कार के साथ पाठक के मानस पर भाव का मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण भी सम्भव हो जाता है। यथा :--

लाक्षणिक पद योजना--(अमूर्त का मूर्त विधान)

जिसके आगे पुलकित हो जीवन है सिसकी भरता
हां मृत्यु नृत्य करती है मुसकाती खड़ी अमरता।
वह मेरे प्रेम विहँसते जागो मेरे मधुवन में।
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में--प्रसाद

मूर्त का अमूर्त विधान

गूढ़ सांस सी अति गतिहीन अपनी ही कंपन में लीन,
सजल कल्पना सी साकार पुनः पुनः प्रिय पुनः नवीन--पंत

लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम सी,
यौवन की विनती सी भोली गुम सुम खड़ी शरम सी--दिनकर

अभिधामूला-शब्द-व्यंजना

शिवा स्वास्थ्य रक्षा करे शिवा हरे सब शूल।

लक्षणामूला शब्द-व्यंजना

मैंने कुछ सुखमय इच्छायें चुन ली सुन्दर शोभाशाली,
औ उनके सोने चांदी से भर ली प्रिय प्राणों की डाली--पंत

शाब्दिक व्यंजना से सूचित व्यंग्य शब्द जनित होता है। शब्द ही उसकी धुरी है और वही उसका प्राण है जिसके चारों ओर व्यंग्य घूमता रहता है। यह व्यंजना विशिष्ट शब्द के स्थान पर उसका पर्याय रख देने से निःशेष हो जाती है। किन्तु आर्थी व्यंजना वक्ता, बौद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, काकु आदि की विशेषता के कारण जिस अर्थ की प्रतीति कराती है वह अर्थजनित होने से अर्थ को प्रमुखता देता है; अर्थात् वह किसी शब्द-विशेष के आश्रित नहीं रहता। इसलिए आर्थी व्यंजना को अभिव्यंजना के आवश्यक तत्त्वों में नहीं लिया जा सकता।

**गुण**--गुण की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए अग्निपुराणकार ने कहा है कि गुण-रहित काव्य अलंकार से युक्त होने पर भी आनन्दप्रद नहीं होता, जैसे कामिनी के लालित्य



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



आदि गुण रहित शरीर पर हार आदि आभूषण केवल भार रूप होते हैं।[1] प्रश्न यह है कि गुण काव्य के शरीर या आत्मा अथवा शब्द और अर्थ के धर्म हैं या काव्य में रस को उत्कृष्ट बनाने वाले अचल धर्म हैं? यद्यपि इस सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है किन्तु सबने गुण के अस्तित्व को काव्य के लिए प्रत्यक्षतः अथवा प्रकारान्तर से अनिवार्य अवश्य माना हैं। वामन ने गुणों को काव्य के शोभा कारण धर्म कहा है।[2] ध्वनिकार,[3] मम्मट[4] एवं विश्वनाथ[5] आदि ने भी गुण को काव्य को उत्कृष्ट बनाने में सहायक माने हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने शब्द अर्थ दोनों में गुण का अस्तित्व स्थिर किया है।[6] भोजराज के अनुसार तो अलंकृत काव्य भी गुणहीन होने से सुनने योग्य नहीं होता।[7]

इन आचार्यों के मतों की मीमांसा करना विषयान्तर है तो भी यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि मम्मट, विश्वनाथ आदि जिन विद्वानों ने गुण को रस से सम्बद्ध माना है वे केवल उसकी विशेषता का प्रदर्शन करते हैं और प्रकारान्तर से इस बात को स्वीकार भी कर लेते हैं कि शब्द अर्थ में मधुर आदि गुणों का जो व्यवहार किया जाता है वह गौण या अप्रधान माना जाता है।[8] यदि शब्द में गुण की अपेक्षा न होती तो 'समुचित वर्णों'[9] की आवश्यकता का उल्लेख मम्मट आदि कदापि न करते। इसलिए गुण-शरीर और आत्मा—शब्द अर्थ—दोनों के धर्म माने जा सकते हैं, क्योंकि मधुरतम भाव माधुर्य गुण व्यंजक शब्दों के अभाव में काव्यत्व खो देगा। इसी प्रकार ओज गुण से परिपूर्ण शब्द-योजना शृंगारमयी भावानुभूति के सर्वथा अनुपयुक्त होती है। कदाचित् इसी कारण वामन ने दोनों प्रकार के गुणों—शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण की कल्पना की है।

---

१. अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्येललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥—अग्निपुराण, ३४६।१

२. काव्य शोभायाः कर्तारोगुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः॥—काव्यालंकार सूत्र

३. तमर्थमवलम्बन्ते येऽगिनस्ते गुणाः स्मृताः॥—ध्वन्यालोक

४. ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादयइवात्मानः।
उत्कर्षहेतवः तेस्युः अचलस्थितयो गुणाः॥—काव्यप्रकाश

५. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः॥—साहित्यदर्पण

६. तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्वादुपचारो
नेव कल्प्यइतनुमादृशाः॥—रस गंगाधर—६-९

७. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्,
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥—सरस्वती कंठाभरण

८. गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिशब्दार्थयोः मताः—काव्यप्रकाशः

९. अतएव माधुर्य्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैः व्यंज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयः।
—काव्यप्रकाशः



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



गुणों की संख्या के विषय में भी आचार्यों में मतभेद है। भरत मुनि ने दस गुण बताये हैं।[1] वामनाचार्य के अनुसार शब्द व अर्थ दोनों के पृथक्-पृथक् दस गुण हैं।[2] महाराज भोज ने उनकी संख्या और भी अधिक दी है।[3] किन्तु भामह के मतानुसार आचार्य मम्मट ने केवल तीन माने हैं। शेष गुणों में से कुछ का इन्हीं तीन में अन्तर्भाव कर दिया गया है और कुछ की दोषों के अभाव रूप में विवेचना की गई है।[4] मम्मट के मत को प्रायः सभी उत्तरकालीन आचार्यों ने स्वीकार किया है। अर्वाचीन युग में भी माधुर्य, ओज और प्रसाद, इन्हीं तीन गुणों का उल्लेख मिलता है। इनके प्रयोग द्वारा काव्य में उद्बुद्ध अभिव्यंजना-सौन्दर्य के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

**माधुर्यगुण**––मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास, स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ का सार,
मनोभावों का मधुर विलास, विश्व सुषमा ही का संसार।।

**ओज गुण**––अहे वासुकि सहस्र-फन।
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत-वक्षःस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत-फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती के अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरलदन्त, कंचुक-कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल !

**प्रसाद गुण**––कहेंगे क्या मुझसे सब लोग,
कभी आता है इसका ध्यान।
रोकने पर भी तो सखि ! हाय,
नहीं रुकती है यह मुस्कान।

**रीति वृत्ति**––साहित्य दर्पणकार ने कहा है कि 'रस को उत्कृष्ट बनाने वाले गुण रीति और अलंकार हैं।'[5] यों तो रीति की परम्परा बहुत पुरानी है। दण्डी भी रीति के समर्थक हैं

---

१. नाट्यशास्त्र––निर्णय सागर संस्करण–अध्याय १५-९२-१०३
२. काव्यालंकार सूत्र अधिकरण ३––अध्याय प्रथम व द्वितीय
३. सरस्वती कण्ठाभरण––निर्णय सागर संस्करण––प्रथम परिच्छेद
४. काव्यप्रकाशः––अष्टम उल्लास
५. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः।।––साहित्यदर्पण



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किन्तु रीति के सच्चे उन्नायक हैं।[1] वामन ने रीति को 'विशिष्ट' पद रचना कहा है।[2] पद में सन्निविष्ट वैशिष्ट्य की व्याख्या करते समय उन्होंने 'गुण' को सर्वोपरि माना है (विशेषो-गुणात्मा)। तत्पश्चात् आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' संज्ञा दी। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने पदों के मेल या संगठन को रीति कहा।[3] पदों के मेल को अंग संस्थान की उपमा दी गई अर्थात् जैसे अंगों का सुगठन होने पर ही शरीर सुन्दर लगता है उसी प्रकार काव्य-शरीर में शब्द और अर्थों का सुगठन अपेक्षित होता है।

इस प्रकार का सुन्दर पद-नियोजन काव्य में रस, भाव आदि का भी उपकारक होता है। संक्षेप में रीति उसे कहते हैं जो शब्दार्थ के शरीर यानी काव्य के आत्मभूत रस आदि का उपकार करने वाली विशिष्ट पद रचना हो। इसे शब्द, अर्थ और रस तीनों का उपकारक होना अनिवार्य है। इसलिए रीति विचार में शब्द को बहुत महत्व दिया गया है।

**रीतियों का प्रकार**--रीति के प्रकारों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। दण्डी ने कहा है कि प्रत्येक कवि में रीति व्यक्तित्वानुरूप होती है। अतः रीति के भेद नहीं किये जा सकते।[4] भेदों में उसने केवल वैदर्भी और गौड़ी का उल्लेख किया है। वामन ने काव्यालंकार सूत्र में, तथा राज-शेखर ने काव्य मीमांसा में वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली तीन रीतियों का वर्णन किया। रुद्रट ने 'लाटीय' नामक रीति भी इनके साथ सम्मिलित की है। भोज ने संख्या चार से बढ़ा कर छः कर दी है।

परन्तु सामान्यतया रीति का वर्गीकरण देश-विदेश के प्रमुख कवियों की प्रचलित प्रणाली के नाम पर परम्परा से प्राप्त वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी--प्रदेशाश्रित हैं। इसलिए उसी रूप में इनका विवेचन किया जाता है।

**वैदर्भी**--माधुर्य व्यंजक वर्णों की ललित रचना को वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। ऐसी रचनाओं में माधुर्य गुण सन्निविष्ट रहता है।[5]

**गौड़ी**--ओज प्रकाशक वर्णों से आडम्बरपूर्ण बन्ध को गौड़ी रीति या परुषावृत्ति कहते हैं। इसमें ओज-गुण का प्राधान्य रहता है।[6]

**पांचाली**--दोनों रीतियों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पंचम वर्ण वाली रचना को पांचाली रीति या कोमलावृत्ति कहते हैं।

---

१. **विशिष्टपदरचना रीतिः--काव्यालंकार सूत्र १।७।७**
२. **पदसंघटनारीति रंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्।--साहित्यदर्पण**
३. **रस मार्गद्वयंभिन्नतत्स्वरूपंनिरूपणात्।**
**तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुम्प्ति कविस्थिताः।**
४. **माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचनाललितात्मिका।**
**अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा, वैदर्भीरीतिरिष्यते॥--साहित्यदर्पण--पृ० ५२६**
५. **ओजः प्रकाशकैर्वर्णै वन्ध आडम्बरः पुनः समासबहुलागौड़ी।**
६. **माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली।--काव्यालंकार सूत्र, १।१।१३**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों के उक्त लक्षणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि रीति और वृत्ति का पृथक्-पृथक् विवेचन पुनरावृत्ति मात्र है। पृथक्-पृथक् नादाभिव्यंजक वर्णों से संघटित शब्दों के चुनाव से वस्तु में झंकार की जो विशेषता होती है उसी से उन वृत्तियों के नाम क्रम से उपनागरिका, कोमला एवं परुषा पड़े हैं। मम्मट ने तो रीति को ही वृत्ति नाम दे दिया है। आचार्य उद्भट ने वृत्तियों को केवल वर्ण तक सीमित माना है। रुद्रट ने केवल समास को वृत्तियों का आधार बनाया। ध्वन्यालोककार ने शब्द और अर्थ की रसानुकूल योजना को वृत्ति कहा। इसी आधार पर उसने वृत्ति के दो भेद भी कल्पित किये --

**शब्दाश्रित वृत्ति तथा अर्थाश्रित वृत्ति।**[1]

संक्षेप में रूढ़ अर्थों में रीति-वृत्ति चाहे कुछ भी अर्थ व्यक्त करे किन्तु उनका सच्चा अर्थ वाल्टर पेटर के शब्दों में 'राइट सेन्स आफ़ वकेब्यूलरी' होगा, अर्थात् अपने भाव को व्यक्त करने के लिए रचनाकार रम्य, चुस्त एवं उपयुक्त वर्ण-योजना की सहायता से कौन-सा शब्द कहाँ रखे। इन दोनों आवश्यक बातों का अन्तर्भाव शब्द-चयन और काव्य गुणों में हो जाता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से आधुनिक काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द एवं संकुचित पुराने अर्थ को त्यागकर व्यापक 'अर्थ' शैली के पर्याय में प्रयुक्त होता है। इन सब कारणों से हम रीति-वृत्ति को अभिव्यंजना के उपादानों में पृथक् रूप में परिगणित नहीं करेंगे।

इस प्रकार ऊपर हमने अभिव्यंजना के सौन्दर्य-विधायक उन उपादान तत्वों का संक्षिप्त निरूपण किया जो भाव को रमणीयता प्रदान करते हैं, उसमें प्रभावोत्पादक गुणों का सन्निवेश करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप साहित्य का निर्माण होता है।

----------

१. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यावाम्याताः एताः वृत्योद्विविधा स्मृताः।। --ध्वन्यालोक



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० व० प० लिपेरोवस्की (मास्को)

# हिन्दी भाषा में संदेहार्थ

श्री कामताप्रसाद गुरु और श्री दुनीचन्द अपने हिन्दी भाषा व्याकरणों में लिखते हैं—कि आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में क्रिया के पांच अर्थ (moods) हैं अर्थात् निश्चयार्थ, आज्ञार्थ, संभावनार्थ, संकेतार्थ और संदेहार्थ। हमारे देश में भी भाषातत्वज्ञों का मत है कि हिन्दी में क्रिया (verb) के ऐसे अर्थ विदित हैं जिनमें से हरेक का विवरण अर्थ (meaning) और रूप विचार संबंधी विशेषताओं (morphological peculiarties) के आधार पर दिया जा सकता है। उन विद्वानों में से बहुत लोग एकादमीशियन अ० प० बरान्नकोव के उसी दृष्टिकोण को मानते हैं जिस के अनुसार हिन्दी में पांच नहीं, केवल चार अर्थ हैं। बात यह है कि क्रिया के वे रूप, जो वर्तमानकालिक या भूतकालिक कृदन्त तथा सहायक क्रिया 'होना' के भविष्यकाल से बने हुये हैं (उदाहरणतः—'बोलता होगा', 'बोला होगा') और जिनका संबंध सर्वश्री कामताप्रसाद गुरु और दुनीचन्द द्वारा संदेहार्थ से रखा जाता है। अ०प० बरान्नकोव के अनुसार निश्चयार्थ के विशेष भविष्यकालिक रूप हैं। यही कारण है कि यह छोटा निबंध लिखने का उद्देश्य क्रिया के उन रूपों पर प्रकाश डालने का है जिनको उपरोक्त भारतीय वैयाकरण संदेहार्थ के भीतर सम्मिलित करते हैं।

उन रूपों का अर्थ ध्यान में रखते हुये श्री कामताप्रसाद गुरु लिखते हैं कि "संदेहार्थ क्रिया से किसी बात का संदेह जाना जाता है"[1] अगर यह ठीक है तो हम कह सकते हैं कि उन रूपों से वह संभावना (potentiality) सूचित होती है जो संभावनार्थ के रूपों के द्वारा सूचित की गई संभावना से अधिक है अर्थात् उन रूपों से क्रिया के विषय में ऐसा अनुमान या अनिश्चय जाना जाता है जो विश्वास की ओर झुका हुआ है। इस अर्थ (meaning) को हम अनुमानात्मक अर्थ कह सकते हैं और यह उस बात का प्रतीक मालूम होता है कि दोनों उपरोक्त रूप क्रिया का एक अलग अर्थ (mood) बनाते हैं। सारांश यह कि उन रूपों को अलग अर्थ (mood) मानने के लिये भाषा संबंधी सामग्री ही विद्वानों को प्रेरित करती है।

परन्तु दूसरी ओर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जब उन रूपों का भविष्यकालिक

---

१: कामताप्रसाद गुरु, हिन्दी व्याकरण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४ वि०, पृष्ठ २६५।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



क्रिया सूचित करने के लिये या प्रश्नवाचक वाक्यों में प्रयोग होता है तो उनका अनुमानात्मक अर्थ नियमतः लुप्त हो जाता है।

क्रिया के उन दो वियोगात्मक रूपों को संदेहार्थ के रूप मानने से एक प्रश्न उत्पन्न होता है--क्रिया "होना" के भविष्यकाल को भी संदेहार्थ का एक रूप क्यों न माना जाय? वास्तव में उन दोनों रूपों की जो अर्थ संबंधी (semantical) विशेषतायें हैं वे "होना" के भविष्य-कालिक रूप की विशेषतायें भी हैं। विशेषकर क्रिया "होना" के भविष्यकाल का प्रयोग उस अनुमान को सूचित करने के लिये हो सकता है जिसका संबंध वर्तमान काल या भूतकाल से है, जैसे "आओ उठो, खाने के कमरे में आओ, वहां पिता जी के सिवा इस समय और कोई न होगा—" (यशपाल), "मैं उदास रहने लगा। उस समय मेरी उमर बारह वर्ष के लगभग होगी" (सुदर्शन)। फिर क्रिया "होना" का भविष्यकालिक रूप भविष्यकाल के अर्थ के सूचित किये बिना प्रश्न वाचक वाक्यों में पाया जा सकता है, जैसे--"उसने पूछा, मान्डू में क्या बहुत स्त्रियों के पास होंगे ऐसे गहने-कपड़े ?" (वृन्दावनलाल वर्मा)।

और यही नहीं, बल्कि क्रिया "होना" की उपस्थिति के कारण ही उपरोक्त वियोगात्मक रूपों को अनुमानात्मक अर्थ मिलता है। इस बात का प्रमाण निम्नलिखित उदाहरण में स्पष्ट है--

सुरती ने कहा, "अंतिम समय तक अपने पति का नाम उसकी जबान पर रहा। क्यों मिस साहब, खन्ना साहब भी उससे इतना ही प्यार करते होंगे।" "होंगे क्या, करते हैं" सुलताना ने रशीदा की कलाई छोड़ कर कहा, "लक्ष्मी को तो मरना ही इसीलिये सुगम हो गया" (अश्क)। "करते होंगे" और "करते हैं" के बीच में जो अर्थ संबंधी अन्तर है वह इन दो रूपों की तुलना के आधार पर स्पष्ट दिखाई देता है।

ऐसे उदाहरण इस बात का प्रमाण हैं कि क्रिया "होना" के भविष्यकालिक रूप पर उन वियोगात्मक रूपों से, जो वर्तमान कालिक या भूतकालिक कृदन्त तथा "होना" के भविष्य-कालिक रूप से बने हुये हैं, अलग विचार करना भ्रम होगा। ऐसे रूप जैसे "हो" "बोलता हो" और "बोला हो" कामताप्रसाद गुरु के अनुसार संभावनार्थ के रूप हैं और इसलिये तर्कसंगत विचार यह होगा कि "होगा", "बोलता होगा" और "बोला होगा" एक दूसरे से अलग किये बिना माने जायें। परन्तु कामताप्रसाद गुरु के अनुसार "होगा" निश्चयार्थ का भविष्यकालिक रूप है तथा "बोलता होगा" और "बोला होगा" संदेहार्थ के रूप हैं।

यदि "होगा' के संबंध में ऐसा पृथक्करण ठीक नहीं हुआ तो उन तीनों उपरोक्त रूपों के ढंग की समस्या को हल करने के तीन अलग-अलग रास्ते दिखाई देते हैं:--(१) तीन उपरोक्त रूप निश्चयार्थ के रूप हैं, (२) यह तीन रूप उस अर्थ (mood) के रूप हैं जो निश्चयार्थ नहीं है। (३) इन तीनों रूपों में दो अर्थों (moods) की व्याकरण संबंधी समानता अभिव्यक्त है जिनमें से एक निश्चयार्थ है और दूसरा अर्थ निश्चयार्थ नहीं है।

लेकिन यह विचार कि इन तीनों रूपों में से हरेक रूप में दो भिन्न रूप सन्निहित हैं, अस्वी-करणीय प्रतीत होता है क्योंकि इस बात का पता चलाना कठिन नहीं है कि निश्चयार्थ के भविष्य-



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कालिक अर्थ (meaning) तथा वर्तमान काल और भूतकाल के अनुमानात्मक अर्थ के बीच में घनिष्ठ मेल है।

इस संबंध में सामान्य भाषा विज्ञान के तर्कों का उल्लेख करना अनावश्यक न होगा। विशेषकर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि निश्चयार्थ के रूपों में से भविष्यकालिक रूप को अन्य अर्थ (जैसे—अनुमान, संभावना आदि) सुगमता से प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि भविष्यकालिक क्रिया ऐसी क्रिया है जो अभी तक अस्तित्व में नहीं आई और इसीलिये वह अपनी वास्तविकता के संबंध में संदेह पैदा कर सकती है। लेकिन जहां तक उन वियोगात्मक रूपों का संबंध है, जो कृदन्त और सहायक क्रिया के भविष्यकाल से बने हुये हैं,—उपरोक्त तर्क हमारी व्याख्या के लिये पर्याप्त नहीं है। उनकी बनावट और ढंग पर विशेष रूप से प्रकाश डालना चाहिये।

ऐसे वियोगात्मक रूप दो स्वावलंबी शब्दों (कृदन्त और क्रिया का वैधेयिक रूप) के मेल से विकसित हैं। इस प्रकार के मेल में भूतकालिक कृदन्त से ऐसी क्रिया का बोध होता है जो वैधेयिक रूप द्वारा सूचित किये गये काल तक पूर्ण हो गई है और वर्तमानकालिक कृदन्त से ऐसी क्रिया का बोध होता है, जो वैधेयिक रूप द्वारा सूचित किये गये काल में होती है। इसलिये कृदन्त और भविष्यकालिक रूप के मेल में वह क्रिया, जो कृदन्त से सूचित है, भविष्यकाल से संबंधित है चाहे ऐसी क्रिया भविष्य में न हो। किसी भाषा में ऐसे मेल का अर्थ भविष्यकालिक हो सकता है। उदाहरणतः पोलिश भाषा में भूतकालिक कृदन्त और "होना" जैसे अर्थ की क्रिया के भविष्यकालिक रूप के मेल से वियोगात्मक रूप बनता है, जिसका प्रयोग भविष्यकाल सूचित करने के लिये होता है।

परन्तु हिन्दी भाषा की विशेषता यह है कि इस प्रकार के मेल में वर्तमानकालिक कृदन्त और भूतकालिक कृदन्त से ऐसी क्रिया सूचित होती है जिसकी घटना वर्तमान काल की या भूतकाल की है। लेकिन उसके साथ-साथ यह क्रिया भविष्य से संबंधित भी रहती है क्योंकि भविष्य ही में इस क्रिया की घटना की बात प्रत्यक्ष बात हो सकती है। फलस्वरूप वह अनुमानात्मक अर्थ आकर निकलता है जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया था। स्पष्टीकरण के लिये हम एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—"मैं कई दिन से मुहल्ले में गई भी नहीं, अब (वह) अच्छा हो गया होगा" (अश्क)। यह वाक्य कहते हुये वक्ता एक ओर मानों इस बात का निरूपण करता है कि "वास्तव में वह अच्छा हो गया" लेकिन दूसरी ओर वह जानता है कि इस बात की पुष्टि केवल भविष्य में हो सकती है।

स्पष्ट है कि इस वाक्य की ऐसी व्याख्या इस बात पर अवलंबित है कि सहायक क्रिया भविष्यकालिक रूप में है, निश्चयार्थ के वर्तमानकालिक या भूतकालिक रूप में नहीं, और यह क्रमानुकूल इस बात का प्रतीक है कि उपरोक्त तीनों रूपों के भिन्न अर्थ (जैसे—निश्चयार्थ का भविष्य और अनुमान) एक दूसरे से समकालीन स्तर पर (synchronically) संबंधित हैं। इसलिये यह विचार कि उपरोक्त तीनों रूपों में से ("होगा", "बोलता होगा", "बोला होगा")



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हरेक रूप में दो अर्थों (moods) के रूप सन्निहित हैं, ठीक नहीं होगा। वास्तव में ये तीन रूप एक ही अर्थ (mood) के रूप हैं।

इस संबंध में एक प्रश्न उत्पन्न होता है—उन रूपों का व्याकरण संबंधी क्या अर्थ है जिसके कारण वे क्रिया के उन रूपों से भिन्न हैं जो सब वैयाकरणों द्वारा निश्चयार्थ के रूप माने जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर केवल उन रूपों के समस्त प्रयोगों के साधारणीकरण के आधार पर दिया जा सकता है। साधारणीकरण से हमारा तात्पर्य यह है कि उन रूपों से ऐसा अर्थ संबंधी तत्त्व निकाला जाये जिसका बोध उन रूपों के समस्त प्रयोगों में होता है चाहे वे प्रयोग भिन्न क्यों न हों। हमको प्रतीत होता है कि हरेक वाक्य में उपरोक्त रूप इस क्रिया को सूचित करते हैं जिसकी वास्तविकता प्रत्यक्ष नहीं है। इस संबंध में उन तर्कों को ध्यान में रखना चाहिये—(१) वर्तमानकाल और भूतकाल में ऐसी अप्रत्यक्षता अनुमान के रूप में अभिव्यक्त है, (२) भविष्यकालिक क्रिया की घटना प्रत्यक्ष नहीं हो सकती है, जिसके कारण इस दशा में अनुमानात्मक अर्थ प्रायः अनावश्यक है, (३) प्रश्न भी इस विषय में किया जाता है जो प्रत्यक्ष नहीं मालूम होता है और इसलिये इस दशा में भी अनुमानात्मक अर्थ लुप्त हो जाता है।

उसके अतिरिक्त यह भी कहना है कि ऐसी अप्रत्यक्षता के अर्थ का निष्कर्ष ऐसे वाक्यों की विवेचना के आधार पर किया जा सकता है जिसमें अनुमान का बोध होता है, जैसे—"जरूर वहां आदमी रहते होंगे" (प्रेमचन्द), "भाईजान शायद अभी लाहौर ही में होंगे" (कृष्णचन्द्र) "शोक, खीज और बेबसी की ऐसी करुण मूर्ति शायद ही किसी ने देखी होगी" (सुदर्शन)।

हम देखते हैं कि जिन रूपों की हम छानबीन कर रहे हैं उनका प्रयोग ऐसे शब्दों के साथ (उदाहरणतः—"जरूर, "शायद", "शायद ही") हो सकता है जो क्रिया की वास्तविकता के संबंध में "निस्संदेह" से "कम संभावना" तक इतने विस्तार के भिन्न-भिन्न अर्थों के प्रतीक हैं। इसका आशय यह है कि उन रूपों का जो अर्थ है वह उन शब्दों के अर्थों से भिन्न या निस्पृह है? लेकिन भाषा में उपरोक्त रूपों का अस्तित्व क्रिया के उन रूपों के साथ ही है जो बिना किसी संदेह निश्चयार्थ के रूप माने जाते हैं और दो प्रकार के उन रूपों के बीच में अन्तर तो है। इसलिये मानना पड़ता है कि जिन रूपों की हम यहां छानबीन कर रहे हैं वे किसी क्रिया की वास्तविकता के संबंध में अप्रत्यक्षता प्रकट करते हैं।

अस्तु क्रिया की वास्तविकता के संबंध में अप्रत्यक्षता (non-evidence of the action expressed by the verb)—यही क्रिया "होना" के भविष्यकालिक रूप और दोनों वियोगात्मक रूपों (जैसे—"बोलता होगा", "बोला होगा") का मौलिक अर्थ है। क्या अप्रत्यक्षता का यह अर्थ (meaning) इसलिये पर्याप्त है कि उन रूपों को एक विशेष अर्थ (mood) माना जाये, जो निश्चयार्थ से अलग हो? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये यह तय करना चाहिये कि अगर यह अलग अर्थ (mood) हो तो हिन्दी भाषा के दूसरे अर्थों के बीच में इसका स्थान क्या होगा? अनुमान कीजिये कि उपरोक्त तीन रूप एक ऐसे विशेष अर्थ के रूप हैं जो निश्चयार्थ से भिन्न हैं। तब इस बात का पता चलाना कठिन न होगा कि यह अर्थ निश्चयार्थ की ओर झुका



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हुआ है क्योंकि इससे क्रिया की वास्तविकता ही के संबंध में अप्रत्यक्षता का बोध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि निश्चयार्थ और दूसरे अर्थों के बीच में जो अर्थ संबंधी अन्तर है उसी प्रकार का अन्तर इस विशेष अर्थ और उन अर्थों के बीच में भी है। फलतः इस अर्थ को शेष सब अर्थों के बीच में समानाधिकार का स्थान प्राप्त नहीं होता। अर्थात् इस अर्थ को वह स्थान नहीं प्राप्त होता जो शेष सब अर्थों को मिलता है। इसी प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अर्थ विज्ञान की दृष्टि से उन रूपों को, जिनकी छानबीन हम कर रहे हैं, एक विशेष अर्थ मानने के लिये पर्याप्त आधार नहीं है। यह मानना अधिक उचित होगा कि ये रूप निश्चयार्थ के ऐसे रूप हैं जो क्रिया की वास्तविकता के संबंध में अप्रत्यक्षता सूचित करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। स्मरण रहे कि वह अनुमानात्मक अर्थ, जिसके कारण अनुसंधानकर्ता इन रूपों को अलग अर्थ (mood) मानने के लिये प्रेरित होते हैं, निश्चयार्थ के भविष्यकालिक अर्थ से समकालीन स्तर पर व्युत्पन्न प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त एक रूप विचार संबंधी तथ्य भी इस धारणा के विरुद्ध है कि उपरोक्त तीन रूप एक अलग अर्थ (mood) के हैं। अगर "होगा" निश्चयार्थ का रूप न हो तो शेष सब क्रियाओं के भविष्यकालिक रूप को निश्चयार्थ का रूप नहीं मानना चाहिये। लेकिन यह विचार कि सब क्रियाओं का भविष्यकालिक रूप (जैसे—"बोलेगा", "पढ़ेगा", हँसेगा", "चलेगा" आदि) निश्चयार्थ के रूप नहीं हैं, निरर्थक प्रतीत होता है। वास्तव में केवल "होना" का भविष्यकालिक रूप वर्तमानकालिक या भूतकालिक अनुमान सूचित करने के लिये प्रयुक्त होता है और इस बात का भाव यह है कि भविष्यकालिक रूप का यह अनुमानात्मक अर्थ किसी भी क्रिया का व्याकरण संबंधी मौलिक अर्थ नहीं है। अगर क्रिया "होना" का भविष्यकालिक रूप निश्चयार्थ के बाहर नहीं है, तो यही दशा इस रूप की सहायता से बने हुये वियोगात्मक रूपों की भी है, क्योंकि क्रिया "होना" के भविष्यकालिक रूप पर ऐसे वियोगात्मक रूपों से अलग विचार करना ठीक नहीं है।

फलस्वरूप हिन्दी भाषा में एक अविकारपूर्ण विशेष अर्थ का, जिसको हम संदेहार्थ कह सकें, अस्तित्व मानने के लिये न अर्थ विज्ञान संबंधी आधार पर्याप्त है, न रूप विचार संबंधी। प्रस्तुत समस्या को हल करने का यह परिणाम हो सकता है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर प्रेमसागर जैन

# कवि बनारसीदास

मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में बनारसीदास का नाम सबसे पहले आता है। उनका जन्म वि० सं० १६४३ और दिवावसान वि० सं० १७०० में हुआ था। उनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि वे एक जन्मजात कवि थे। व्यापारी खान्दान में जन्म लेने के नाते उन्हें जीवन भर व्यापार करना पड़ा, किन्तु उसमें उनका मन नहीं लगा, असफलता ही मिली। उनके अन्तरमानस की आध्यात्मिक प्रवृत्ति निरन्तर उभर-उभर कर काव्य के रूप में प्रस्फुटित होती रही है। उनकी कृतियां उत्तम कोटि के काव्य की निदर्शन हैं।

## पारिवारिक जीवन[1]

कवि बनारसीदास जी के पितामह श्री मूलदास जी हिन्दी और फारसी के विद्वान थे। नरवर के नवाब ने उन्हें अपना मोदी नियुक्त किया था। वि० सं० १६०८, सावन सुदी ५, रविवार के दिन मूलदास के घर पुत्र-जन्म हुआ। उसका नाम खड़गसैन रक्खा गया। वि० सं० १६१३ में मूलदास का स्वर्गवास होगया। उनकी धन-सम्पत्ति नवाब ने ले ली। माँ-बेटे जौनपुर में आकर रहने लगे। वहाँ खड़गसैन की ननसाल थी। नाना मदनसिंह चिनालिया जौनपुर के प्रसिद्ध जौहरी थे। उस समय का जौनपुर अधिक समृद्धिशाली था। वहाँ हीरे और जवाहिरात का बहुत ऊँचा व्यापार होता था। वह चार कोस में बसा हुआ था। उसमें ५२ बाजार थे। इस नगर को पठान जौनसाह ने बसाया था। बनारसीदास के समय में जौनपुर का नवाब कुलीचरण था, जिसके अत्याचार से पीड़ित होकर जौहरी इधर-उधर भाग गये थे।

खड़गसैन जी बड़े होकर आगरा आये और सुन्दरदास जी के साथ व्यापार करने लगे। इसके पूर्व ये कुछ समय तक बंगाल के सुल्तान लोदीखां के पोतदार भी रहे थे। सुन्दरदास के साझे में व्यापार खूब चला। उसी समय इनका विवाह मेरठ के सूरदास श्रीमाल की पुत्री के साथ हो गया। प्रथम पुत्र के स्वर्गवासी होने पर उन्होंने, रोहतक के पास की 'सतीमाता' की जात की। दो बार जात करने पर उनके वि० सं० १६४३, माघ सुदी एकादशी रविवार के दिन, एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम विक्रमाजीत रक्खा गया। छः माह के बालक को लेकर वे भगवान

---

१. बनारसीदास का लिखा हुआ 'अर्ध कथानक' है, जिसके आधार पर यहाँ उनका जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पार्श्वनाथ की पूजा करने के लिये बनारस गये। वहाँ उनकी प्रार्थना पर पुजारी ने आशीर्वाद दिया, "भगवान पार्श्वप्रभु के यक्ष ने मुझसे प्रत्यक्ष हो कर कहा है कि इस बालक की कोई चिंता नहीं रहेगी, यदि पार्श्वप्रभु के जन्म के स्थान के नाम पर इसका नाम रक्खा जायेगा।" उसके निर्देशानुसार विक्रमाजीत बनारसीदास हो गये।

ग्यारह वर्ष की उम्र में, अर्थात् वि० सं० १६५४, माघ सुदी १२ को, खैराबाद के कल्याणमल की पुत्री के साथ उनका विवाह हुआ। जिस दिन पुत्र-वधू घर में आई, उस दिन खड़गसैन की दूसरी पुत्री का जन्म और नानी का मरण हुआ। तीनों काम एक साथ किये गये। बनारसीदास जी के तीन विवाह हुए, जिनमें से प्रथम दो स्त्रियाँ क्रमशः स्वर्गवासिनी हो गईं। बनारसीदास के ९ बालक जन्मे, सभी काल-कवलित हो गये। उनमें दो लड़कियाँ और सात लड़के थे। उस पर बनारसीदास जी ने यह कह कर सन्तोष धारण किया.—

**तत्त्वदृष्टि जो देखिये, सत्यारथ की भाँति।**
**ज्यौं जाकौ परिगह घटै, त्यौं ताकौं उपसांति॥**

## शिक्षा-दीक्षा

आठ वर्ष की उम्र में बनारसीदास, पाठशाला में विद्या ग्रहण करने जाने लगे। वहाँ गुरु के पास वे, एक वर्ष में ही लिखना-पढ़ना सीख गये। इसके पश्चात् १४ वर्ष के होने पर, उन्होंने पं० देवदत्त के पास विद्याभ्यास किया और नाममाला, अनेकार्थ, ज्योतिष, अलंकार, कोकशास्त्र और चार सौ फुटकर श्लोक पढ़ें। इसी समय जौनपुर में उपाध्याय अभयधर्म जी आये, उनके साथ भानुचन्द और रामचन्द नाम के दो शिष्य भी थे। मुनि भानुचन्द से बनारसीदास का स्नेह हो गया; और वे उनके पास विद्याध्ययन करने लगे। मुनि जी से उन्होंने पंचसंधि, छन्द, कोश जैनस्तवन; सामायिक तथा प्रतिक्रमणादि पाठ सीखे। इनके प्रति बनारसीदास जी की अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने अपनी प्रत्येक रचना में, यहाँ तक कि नाटक 'समयसार' में भी, उनका स्मरण किया है। बनारसीदास की कवि-प्रतिभा जन्मजात थी। उन्होंने १५ वर्ष की अल्पायु में एक नवरस रचना लिखी, जिसमें आसिखी का 'विसेस वरनन' था। उसमें एक हजार दोहा-चौपाई थे। श्रेष्ठ ज्ञान होने पर उन्होंने यह रचना गोमती में प्रवाहित कर दी। इससे उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय तो मिलता ही है।

बनारसीदास का वंश श्रीमाल और गोत्र बीहोलिया था। इनकी उत्पत्ति के विषय में बनारसीदास ने लिखा है —रोहतक के पास बिहोली नाम का गांव था, जिसमें राजवंशी राजपूत रहते थे। वे सब एक जैन गुरु के उपदेश से जैन हो गये। णमोकार मंत्र की माला पहनने के कारण उनके कुल का नाम श्रीमाल पड़ा। वहाँ के राजा ने उनके गोत्र का नाम बिहोलिया रख दिया।[1] इस पर टिप्पणी करते हुए पं० नाथूराम प्रेमी ने लिखा है, "इसमें इतना तो ठीक मालूम होता है कि बिहोली गांव के कारण इनका गोत्र बीहोलिया हुआ, जैनों के अधिकांश गोत्रों के नाम स्थानों

**१. अर्ध कथानक, संशोधित संस्करण, दोहरा ८-१०, पृ० २।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के कारण ही रक्खे गये हैं, परन्तु समग्र श्रीमाल जाति के उत्पत्ति स्थान के विषय में वे कुछ नहीं कहते।"[१] प्रेमी जी की दृष्टि में श्रीमाल जाति की उत्पत्ति, श्रीमाल स्थान से हुई, जो अब भिन्न-माल कहलाता है। इसके खण्डहर अहमदाबाद से अजमेर जाने वाली रेलवे लाइन पर, पालनपुर और आबू स्टेशन से लगभग ५० मील दूर, गुजरात की ओर अवस्थित हैं। हुएनसांग के समय में यह नगर गुर्जरदेश की राजधानी थी।

## दो संतों से मिलन

कहा जाता है कि बनारसीदास जी की भेंट महात्मा तुलसीदास से हुई थी। तुलसीदास जी ने रामायण की एक प्रति बनारसीदास जी को दी थी और उन्होंने "विराजै रामायण घट माहिं"[२] पद की रचना कर रामायण के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की थी। तुलसीदास जी का स्वर्गवास वि० सं० १६८० में हुआ था, उस समय बनारसीदास जी की अवस्था ३७ वर्ष की थी। दोनों की भेंट होना असंभव तो नहीं है। पं० नाथूराम जी प्रेमी का कथन है—यदि गोस्वामी तुलसीदास से साक्षात् होने की बात सच होती, तो उसका उल्लेख अर्धकथानक में अवश्य होता।[३] हो सकता है कि इस घटना को गौण समझ कर ही उन्होंने अपने जीवन-वृत्त में कोई स्थान न दिया हो। यह सच है कि तुलसी का यश उनके जीवनकाल में नहीं था। इसके अतिरिक्त वे तुलसी की रामायण की प्रशंसा पहले ही कर चुके थे।

दूसरे संत सुन्दरदास जी हैं, जिनसे बनारसीदास की भेंट हुई थी। सुन्दरदास जी का जन्म वि० सं० १६५३ और मृत्यु वि० सं० १७४६ में हुई।[४] उनका रचनाकाल वि० सं० १६५४ से आरम्भ हुआ था। दोनों समकालीन थे। सुन्दर ग्रन्थावली के सम्पादक पं० हरनारायण शर्मा ने दोनों की भेंट होने की बात लिखी है। उन्होंने यह भी लिखा है कि दोनों में, आपस में पद्यों का आदान-प्रदान भी हुआ था। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इस भेंट को संभव माना है। 'अर्धकथानक' में इस घटना का भी उल्लेख नहीं है। बनारसीदास स्वयं संत थे और उनमें संत समागम की इच्छा स्वाभाविक थी।

## बनारसीदास और उनका सम्प्रदाय

बनारसीदास जी का जन्म श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुआ था, किन्तु न वे श्वेताम्बर थे और

---

**१. वही, परिशिष्ट, पृ० ११८।**

**२. यह पद बनारसी विलास में संकलित है। देखिए, बनारसी विलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० २३३।**

**३. अर्धकथानक, संशोधित संस्करण, भूमिका, पृ० ९२।**

**४. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००८, द्वितीय संस्करण, पृ० २९३-९५।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



न दिगम्बर। उस समय आगरा में 'अध्यातिमयों' की एक सैली या गोष्ठी थी, जिसमें सदैव अध्यात्म-चर्चा हुआ करती थी। बनारसीदास जी उसी के सदस्य थे।

'समयसार' की राजमल जी कृत बालबोध टीका पढ़कर बनारसीदास को अध्यात्मचर्चा में जो रुचि उत्पन्न हुई थी, वह वि० सं० १६९२ में, पाण्डे रूपचन्द जी से 'गोमट्टसार' पढ़ने के उपरांत परिष्कृत हुई। परिणामस्वरूप वे अध्यात्म मत के पक्के समर्थक बन सके। यद्यपि बनारसीदास के पहले ही आगरा में अध्यातिमयों की 'सैली' थी, किन्तु उनके आने के बाद, उसमें स्थायित्व आया।

बनारसीदास जी के पांच साथी थे—रूपचन्द्र, चतुर्भुज, भगवतीदास, कुंअरपाल, और धर्मदास।[1] ये सब दिन और रात अध्यात्म सम्बन्धी केवल चर्चा ही नहीं करते थे किन्तु तदनुरूप साहित्य-सृजन भी करते थे। बनारसीदास और उनके इस साहित्यिक दल ने अध्यात्मवाद को अनुभूतिमय काव्य का रूप दिया, जिससे उसमें स्थायित्व तो आया ही, आकर्षण भी उत्पन्न हुआ। बनारसीदास के बाद का समूचा जैन हिन्दी साहित्य, उनके काव्यों की अन्तश्चेतना से प्रभावित है।

## जीवन की प्रमुख घटनायें[2]

**१. आसिखी**—१४ वर्ष की उम्र में ही बनारसीदास आसिखबाज हो गये। पिता जौहरी थे। उनके मणि-माणिक्य और हीरा-जवाहिरातों को चुराकर वे चन्द्रमुखियों के चरणों पर चढ़ा देते। यह आसिखी का भाव इतना तीव्र था कि मुनि भानुचन्द से धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने पर भी रुका नहीं। दोनों काम एक साथ चले, विद्या प्राप्ति और आसिखबाजी। इसके दो परिणाम हुए—नवरस रचना का निर्माण और 'गर्मी' की बीमारी।

यह बीमारी उस समय हुई, जब वे ससुराल में गौना कराने गये थे। वहाँ छः माह पड़े रहे। अपनी करुण दशा का चित्र उन्होंने स्वयं खींचा है। किन्तु यह बीमारी भी आसिखी के तीव्र प्रवाह को अवरुद्ध न कर सकी। लौटने पर फिर यह कार्य धड़ल्ले से चला। गौना करा लाने पर भी रुका नहीं।

एक दिन शुभ भाव का उदय हुआ। 'नवरस रचना' गोमती में फेंक दी। मित्र हा हा कर उठे। हाथ मलते हुए घर चले गये। इस क्षण ने उनके जीवन को एक नया मोड़ दिया। बनारसीदास ने फिर जीवन भर आसिखी नहीं की।

---

१. **रूपचन्द पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।**
**तृतीय भगौतीदास नर, कौरपाल गुनधाम॥**
**धर्मदास ये पंच जन, मिलि बैठें इक ठौर।**
**परमारथ चरचा करें, इनके कथा न और॥**
**(नाटक समयसार, अन्तिम प्रशस्ति, दोहा २६-२७)**

२. **इन घटनाओं के लिए देखिए अर्ध कथानक, संशोधित संस्करण, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**२. खाट के नीचे शयन**--पुत्र के भले लक्षण देखकर खड्गसैन ने बनारसीदास को जवाहिरात, कपड़ा, घी और तेल देकर आगरा में बेंचने के लिये भेजा। इटावे के पास पहुँचकर घनघोर वर्षा हो उठी। किसी ने बैठने तक को स्थान न दिया। गोपुर के बाहर दो चौकीदारों ने अपनी कुटिया कुछ रुपयों की लालच में बनारसी और उनके दो साथियों को सौंप दी। स्वयं घर चले गये। बनारसीदास लेटे ही थे कि एक 'जोराबर' आदमी आया। उसने कहा, तुरन्त चले जाओ अथवा मेरा चाबुक खाओ। तब बनारसी घबड़ा कर बरसते मेंह में चल पड़े। उसने दयालु बन कर बांह पकड़ ली और छाया में बैठाया। जमीन पर एक टाट बिछाया गया, उस पर खाट। खाट पर वह आदमी सोया और उसके नीचे बनारसी अपने साथियों सहित।

**३. कचौड़ियों का प्रासुक भोजन**--बनारसी ने आगरा में आकर सब कुछ गवाँ दिया। खाने तक को न रहा। उन्होंने बाजार जाना बन्द कर दिया। घर में ही बैठे रहते थे। उनके पास 'मधुमालती' और 'मृगावर्ता' नाम की दो पुस्तकें थीं, जिन्हें वे रात को बाँच कर सुनाते थे। दस बीस सुनने वाले भी आ जाते थे, जो कथा सुनकर आशीर्वाद देते हुए उठ जाते थे। उनमें एक कचौड़ीवाला भी था। बनारसीदास उससे प्रति दिन प्रातःकाल उठ कर सेर भर कचौड़ियां उधार लेते थे, उसी का वे सांझ सबेरे प्रासुक भोजन करते थे।

एक दिन एकांत पाकर बनारसीदास ने कचौड़ी वाले से कहा, तुमने बहुत उधार दिया अब आगे मत देना। मेरे पास कुछ नहीं है। दाम कहाँ से लोगे। कचौड़ी वाले ने कहा--बीस रुपये की कचौड़ियाँ खा जाओ, तुमसे कोई कुछ न कहेगा, जी चाहे जहाँ जाओ। बनारसी चुप हो गये। कोई इस बात को नहीं जानता था। इस भाँति छः सात माह बीत गये।

**४. ब्राह्मण का वेश**--आगरा के सेठ ताराचन्द भोठिया ने बनारसीदास को कुछ सौदा देकर पटना में बेंचने के लिये भेजा। दो मित्र साथ थे। साहिजादपुर के आगे मार्ग भूल जाने से एक चोरों के गांव में जा पहुँचे। जब चोर-चौधरी ने डपट कर पूँछा--तुम कौन हो, तो सब के चेहरे विवर्ण हो गये। बनारसी ने उसी समय एक श्लोक पढ़ कर आशीर्वाद दिया। चौधरी ने उन्हें ब्राह्मण समझा और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। वह तीनों को ससम्मान अपनी चौपाल में ले गया। समय पाकर बनारसी ने सूत निकाल कर जनेऊ बटे और तीनों ने एक एक धारण कर लिया। भूमि से मिट्टी ली और तालाब से पानी, माथे पर तिलक लगा लिया। प्रातः होते ही चौधरी घोड़े पर चढ़ कर आया और उन्हें सुरक्षित मार्ग तक पहुँचा गया।

**५. फाँसी की सजा**--आगरा के सेठ सबलसिंह ने, हिसाब साफ करने के लिये, बनारसी को जौनपुर से बुलाया। वे सब काम छोड़कर चल पड़े। एक दिन वे घाटमपुर के निकट कोररा गांव की सराय में आकर ठहरे। उनके साथ १८ आदमी और थे, जिनमें दो मथुरावासी ब्राह्मण भी थे।

एक ब्राह्मण बाजार गया और एक सराफ से रुपयों की रेजगारी ले आया। कुछ समयोपरांत वह सराफ सराय में आया और उस रुपये को खोटा कहने लगा। कलह हुई, ब्राह्मण ने सराफ



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



को बहुत पीटा। सराफ का भाई मुँह का मीठा और हृदय का नीच था। उसने ब्राह्मण के सब रुपये देखने के लिये मांगे और उन्हें खोटा घोषित किया। उसने कोतवाल के पास जाकर शिकायत की कि यहाँ सराय में ठगों का एक गिरोह ठहरा है। कोतवाल और दीवान जांच के लिये आये। फांसी की १९ टिकठी मंगा ली गई, किन्तु दीवान न्यायप्रिय था। बनारसी के एक साथी महेश्वरी के छोटे भाई की ससुराल उसी गांव में थी। समधी के मिल जाने से बात प्रमाणित हो गई कि वे ठग नहीं हैं। इस भांति छुटकारा मिला, अन्यथा सभी को फांसी पर चढ़ा दिया जाता।

६. **जूत-पैजार का खेल और अध्यात्म-ज्ञान**--चन्द्रभान, बनारसी, उदैकरन और थानसिंह चारों मित्र थे। वे प्रायः जूत पैजार का खेल खेलते थे, अर्थात् एक दूसरे की पगड़ी छीन लेते थे और एक दूसरे को तीन तीन जूते मारते थे।

इस खेल के उपरांत चारों अध्यात्मज्ञान करने के लिये, नग्न होकर एक कोठरी में घूमते हुए कहते थे--हम मुनि हो गये हैं। हमको कुछ भी परिग्रह नहीं रहा। अपने मुख को अपने ही हाथ से पीटते थे और पुकार कर कहते थे कि हमारे "गुमान" पर पैजार। वे गीत सुनते थे, बातें सुनते थे, फिर उनकी मजाक बनाते थे और उनका अध्यात्मिक अर्थ निकालते थे, किन्तु उनकी लौ मिथ्यात्त्व में लगी हुई थी।

## बनारसीदास के समय का सामाजिक जीवन

**विवाह और नारी दशा**--उस समय कम उम्र में ही विवाह कर देने की पृथा थी। गौना तीन चार साल बाद होता था। वधू के घर में प्रविष्ट होते समय की घटनाओं का श्रेय वधू को ही दिया जाता था। ससुराल में दामादों का अधिकाधिक आदर सन्मान होता था। विदा कराने के समय दामादों का ससुराल में एक एक माह बने रहना साधारण बात थी। दामाद को पुत्र से भी अधिक माना जाता था।

बारातों में खूब आमोद-प्रमोद होता था। बारात कई कई दिन तक ठहरती थी। नवयुवक अपने मित्रों के साथ बारातों में जाने के लिये लालायित रहते थे। एक बार बनारसीदास ने तो अपना सामान बेंच कर रुपयों का प्रबन्ध किया और बारात में गये।

घर में पत्नियों की कद्र, पति के धन कमाने पर निर्भर थी। जब बनारसी ने आगरा में बाप का दिया हुआ सब धन गंवा दिया, तो खड़गसैन ने बड़ी हाय-तोबा मचाई। इसके साथ ही उन्होंने बनारसी की बहू को मैके भेज दिया, जो मृत्यु पर्यन्त ससुराल में लौटकर नहीं आई। उसकी मृत्यु के समाचार के साथ ही नाई दूसरी लड़की की सगाई भी लाया, जिसे खड़गसैन ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। बनारसीदास उस समय बनारस में थे। रोये तो बहुत, किन्तु जी कड़ा करके रह गये। दूसरी शादी भी कर ली। उसके भी मरने पर तीसरी कर ली।

पति देवता माना जाता था। पत्नी की इस मान्यता को कोई भी परिस्थिति डिगा नहीं सकती थी। गौना करा लाने पर भी बनारसी की आसिखी चलती रही। धन सम्पत्ति बरबाद



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कर देने पर भी पत्नी की श्रद्धा अटल रही। अपितु उसने अपनी मां से कहकर दो सौ रुपये पतिदेव को पुनः व्यापार करने के लिये दिलवाये। इसके प्रतिकूल नारी को ताड़न का अधिकारी माना जाता था। इटावा की वर्षा में जब एक नारी ने, पानी में भीगते बनारसी को आश्रय स्थान देना चाहा, तो उसका पति उसको पीटने के लिये बांस लेकर उठा।

उस समय वैश्या-पृथा जोरों पर थी। कुलीन खान्दानों में भी उनके नृत्य-गायन का रिवाज था। आगरा के सेठ सबलसिंह की महफिल के कलावंतों में वैश्याओं का प्रमुख स्थान था।

**अंध विश्वास और धर्म**--सत्तरहवीं शताब्दी में अंध विश्वासों को ही धर्म कहा जाता था। व्यक्ति किसी भी जाति अथवा धर्म का हो, अंध विश्वासों में अवश्य ही विश्वास करता था। यदि यह कहा जाये कि अन्ध विश्वासों ने सभी धार्मिक मतभेदों को दूर कर दिया था, तो अत्युक्ति न होगी। जैन होते हुए भी खड़गसैन ने पुत्र-प्राप्ति के लिये सती माता की जात की थी। बनारसी दास ने मोक्ष की लालच में शंखरूप महादेव की वर्षों पूजा की और एक वर्ष तक संडास में बैठकर प्रति दिन दीनार दिलाने वाले मंत्र का जाप किया। एक बार वे अपने दो मित्रों के साथ कोल गये, दो और प्रतिमा के सम्मुख श्रद्धावनत होकर प्रार्थना की थी, "हे नाथ हमको धन दो, यदि लक्ष्मी दोगे तो हम फिर तुम्हारी जात्रा करेंगे।"

**बादशाहों की धार्मिक उदारता**--बनारसी ने अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का शासनकाल देखा था। उस समय धार्मिक उत्पीड़न नहीं था। आगरा के प्रसिद्ध जैन जौहरी हीरानन्द मुकीम पर, अकबर के पुत्र सलीम का विशेष कृपा भाव था। उन्होंने मुकीम को शिखर जी के लिये यात्रा-संघ निकालने में सहायता की थी। इसी भांति सेठ धन्नाराय, एक पठान सुल्तान की सहायता से यात्रा-संघ ले जा सका था। जौनपुर के नवाब के बड़े बेटे चीनी किलिच ने बनारसी से नाममाला, छन्द कोश और श्रुतबोध आदि पढ़े थे। शिलालेखों से स्पष्ट है कि हीरानन्द और धन्नाराय के समय सैकड़ों जैन मन्दिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई थी। बनारसी ने लिखा है कि नाटक समयसार की रचना शाहजहाँ के काल में निर्विघ्न समाप्त हुई। कोई ईति भीति नहीं व्यापी। अकबर की धार्मिक उदारता जग-प्रसिद्ध थी। उन्होंने अनेक जैन साधुओं का शानदार सन्मान किया था।[१] अकबर की मृत्यु का समाचार सुन कर बनारसी बेहोश होकर गिर गये थे।[२]

---

१. सम्राट् अकबर ने वि० सं० १६३९ में श्री हीरविजय सूरि को दो बार आमन्त्रित किया था। उनका अलौकिक स्वागत हुआ और उन्हें जगतद्गुरु की पदवी दी गई। सम्राट् ने श्री विजयसेन सूरि को भी वि० सं० १६५० में निमन्त्रण दे कर बुलाया था। उन्हें सवाई हीर विजय की उपाधि से विभूषित किया गया था। देखिए, मोहनलाल दुलीचन्द देशाई, जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, १९२६ ई०, पृ० २४१ व ३००।

२. अकस्मात् बानारसी, सुनि अकबर कौ काल।
सीढ़ी पर बैठ्यौ हुतो, भयौ भरम चित चाल॥



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कुछ नवाबों के अत्याचार की बात 'अर्ध कथानक' में कही गई है, किन्तु उनका उद्देश्य जौहरियों से धन प्राप्त करना भर था। उनके अत्याचार धर्मान्धता से अनुप्राणित नहीं थे।

**ब्राह्मण और साधु**--हिन्दुओं में चतुर्वर्णी प्रथा मौजूद थी, जिसमें ब्राह्मण का शीर्ष स्थान था। जनता के मध्य उसकी पूजा-अर्चा देव की भांति होती थी। चोरों के चौधरी ने बनारसी के आशीर्वादात्मक श्लोक को सुनकर, उन्हें ब्राह्मण समझा, और उद्धत भाव को एक ओर रखकर तुरन्त साष्टांग प्रणाम किया। जनेऊ और तिलक ब्राह्मण के मुख्य चिन्ह माने जाते थे। जनेऊ पहनने का तो अधिकार केवल ब्राह्मण को ही था।

जैनों में श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम के दो सम्प्रदाय थे। उनके साधु इधर उधर घूम घूम कर धर्मोपदेश करते थे। वे चातुर्मास में एक स्थान पर चार माह तक रहते थे। उपाध्याय अभयधर्म अपने दो शिष्यों सहित जब जौनपुर आये, तो उनके स्थान पर दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती थी। खड़गसैन भी अपने पुत्र सहित उनके दर्शन करने गये थे। ये साधु जब तक रहते थे, शिक्षक का काम भी करते थे। उनके उपासरों में शिक्षार्थियों का जमघट रहता था। इन साधुओं को यदि चलते फिरते 'स्कूल' का नाम दिया जाय तो उचित ही होगा।

**शिक्षा**--शिक्षा प्रदान करने के लिये प्रत्येक स्थान पर पाठशालायें बनी हुई थीं। ऐसी ही एक पाठशाला में खड़गसैन ने शिक्षा पाई थी। बनारसीदास की प्रारम्भिक शिक्षा भी उसी में हुई थी। उसमें मुख्य विषय थे—अक्षर ज्ञान और गणित। व्यापारी का लड़का घर पर रेजगारी गिनना और रुपया परखना सीखता था।

माध्यमिक शिक्षा के लिये स्कूल नहीं थे। प्रत्येक नगर में एक दो विशेष पंडित होते थे, जिनके घर ही माध्यमिक शिक्षा के केन्द्र स्थान थे। वहाँ कोश, ज्योतिष, साहित्य और धर्म के साथ-साथ कोकशास्त्र भी अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाता था। ऐसे ही एक पं० देवदत्त से बनारसीदास ने इन सभी विषयों में शिक्षा पाई थी। वे मुनि भानुचन्द के पास भी पढ़े थे। यहाँ प्रारम्भिक धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन ही मुख्य था।

उस समय उच्च शिक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। नालन्दा और तक्षशिला का युग तो बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था। अब तो 'टेम्पलकालिजों' का युग भी नहीं रहा था। जैनों में स्वाध्याय का विशेष रिवाज था। गोष्ठियों में आध्यात्मिक चर्चायें होती थीं। आगरा

---

आइ तवाला गिरि पर्‌यौ, सक्यौ न आपा राखि।
फूटि भाल लोहू चल्यौ, कह्यौ 'देव' मुख-भाखि॥
लगी चोट पारवान की, भयौ गृहांगन लाल।
'हाइ हाइ' सब करि उठे, मात तात बेहाल॥
(अर्ध कथानक, दोहरा २४८-२५०, पृ० २८-२९।)



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में भी अध्यात्मियों की 'सैली' थी। बनारसी का ज्ञान उसी में विकसित हुआ था। अपने जीवन के अन्तिम समय में बनारसीदास 'पंडित' कहलाते थे।

**व्यापार**––अर्ध कथानक में लिखा है कि उस समय पटना, बनारस, जौनपुर, प्रयाग और आगरा व्यापारिक केन्द्र के रूप में विख्यात थे। इन नगरों में बड़े बड़े जौहरी रहते थे। हीरा, जवाहिरात, और मणि-माणिक्यों की बिक्री अधिक होती थी। स्वर्ण एक गौण पदार्थ माना जाता था।

एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिये, व्यापारी लोग काफिलों में ही चलते थे। ग्रामीण और नागरिकों का उनके प्रति व्यवहार अच्छा होता था, किन्तु चोर डाकुओं का भय भी कम नहीं था। अपेक्षाकृत दृष्टि से इस समय शान्ति थी और मार्ग में सुरक्षा का प्रबन्ध था। छोटे-छोटे सामन्त और जमींदार व्यापारियों के काफिलों से कर वसूल करते थे। हुण्डियाँ खूब चलती थीं।

धन की आवश्यकता पड़ने पर नवाब लोग व्यपारियों को ही पकड़ते थे। एक बार जौनपुर के नवाब कुलीचखां ने जौहरियों को कोड़ों से पिटवाया था। उन्होंने फिर भी रुपया नहीं दिया और जौनपुर छोड़कर भाग गये। किन्तु मुगल बादशाहों का दृष्टिकोण व्यापक था। वे जब कभी व्यापारियों के प्रपीड़न की बात सुनते तो नवाबों को दण्ड देते थे। जौनपुर के सूबेदार के उपर्युक्त अचारण की शिकायत जब बादशाह के पास पहुंची, तब उसे वापिस बुला लिया गया और यदि वह रास्ते में न मर जाता, तो अवश्य कड़ा दण्ड दिया जाता।

## साहित्यिक रचनायें और उनका परिचय–

बनारसीदास ने नवरस रचना, नाममाला, नाटक समयसार, बनारसी विलास, अर्धकथानक, मोहविवेक युद्ध, मांझा और कुछ फुटकर पदों की रचना की थी। नवरस रचना का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

**नाममाला**––इसकी रचना वि० सं० १६७०, आश्विन सुदी १० को जौनपुर में हुई थी। यह एक छोटा सा शब्दकोश है। इसमें १७५ दोहे हैं। यद्यपि इसका मुख्य आधार धनञ्जय नाम माला थी, किन्तु उसमें हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत तीनों भाषाओं के शब्दों का समावेश हुआ है। यह एक मौलिक कृति है। इसका प्रकाशन वीर सेवामन्दिर दिल्ली से हो चुका है।

**नाटक समयसार**[1]–नाटक समयसार बनारसीदास की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इस का निर्माण आगरा में, वि० सं० १६९३, आश्विन सुदी १३ रविवार के दिन हुआ था। उस समय बादशाह शाहजहाँ का राज्य था।

---

**१. नाटक समयसार का प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है, जिनमें जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित नाटक समयसार प्रामाणिक है।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नाटक समयसार में ३१० सोरठा-दोहे, २४५ सवैया-इकतीसा, ८६ चौपाई, ३७ तेईसा सवैया, २० छप्पय, १८ कवित्त, ७ अडिल्ल, और ४ कुंडलियां हैं।

नाटक समयसार का मुख्य आधार है—आचार्य अमृतचन्द्र (९वीं शताब्दी विक्रम) की आत्मख्याति टीका, जो आचार्य कुन्द-कुन्द के प्राकृत में लिखे गये समयसार पाहुँड़ पर संस्कृत कलशों में लिखी गई थी और राजमलजी पांडे (१६वीं शताब्दी विक्रम) की बालबोधिनी टीका जो हिन्दी गद्य में रची गई थी किन्तु नाटक समयसार केवल अनुवादमात्र नहीं है, उसमें पर्याप्त मौलिकता है। आतमख्याति टीका में केवल २७७ कलशे हैं जब कि नाटक समयसार में ७२७ पद्य हैं। अंत का १४वां गुण स्थान अधिकार तो बिलकुल स्वतंत्ररूप से लिखा गया है। प्रारम्भ और अंत के १०० पद्यों का भी आतमख्याति टीका से कोई सम्बन्ध नहीं है जिनका सम्बन्ध है, वे भी नवीन हैं। 'कलश' का अभिप्राय तो अवश्य लिया गया है, किन्तु विविध दृष्टान्तों उपमा और उत्प्रेक्षाओं से ऐसा रस उत्पन्न हुआ है, जिसके समक्ष कलश फीका जँचता है। नाटक समयसार साहित्यिक ग्रन्थ है, जब कि समयसार पाहुड़ और उसकी टीकायें दर्शन से सम्बन्धित हैं। नाटक समयसार में कवि की भावुकता प्रमुख है, जब कि समयसार पाहुड़ में दार्शनिक का पाण्डित्य है।

अपने स्वभाव व गुणपर्यायों में स्थिर रहने को समय कहते हैं। छहों द्रव्य अपने गुण-पर्यायों में स्थिर रहते ही हैं। अतः वे सब समय कहलाते हैं। उन सब में आत्म-द्रव्य ज्ञायक होने के कारण सारभूत है, और उसका ही मुख्यतया कथन करने के कारण इसका नाम समयसार है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार को नाटक नहीं कहा था, किन्तु अमृतचन्द्राचार्य ने अपने संस्कृत-कलशों में उसे नाटक की संज्ञा प्रदान की। बनारसीदास ने भी उसे नाटक कहा है। इसमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व अभिनय करते हैं। उनमें प्रधान होने के कारण जीव नायक है और अजीव प्रतिनायक। दोनों के प्रतिस्पर्द्धी अभिनय विभिन्न रूपकों के द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं। आत्मा (जीव) के स्वभाव और विभाव को नाटक के ढंग पर बतलाने के कारण इसको नाटक समयसार कहते हैं।

इस नाटक में एक से एक उत्तम रूपक हैं। एक स्थान पर आत्मा और पातुरी का रूपक बनाया है। एक नटी वस्त्र और आभूषणों से सज कर, रात के समय नाट्यशाला में पट आडा करके आती है, तो किसी को दिखाई नहीं देती। किन्तु जब दोनों ओर के शमादान ठीक करके पट हटाया जाता है, तो सभा के सब लोग उसको भलीभांति देख लेते हैं। ठीक ऐसे ही आत्मा, जो मिथ्यात्त्व के पर्दे में ढका हुआ था, जब ज्ञान के शमादान के उजाले में प्रकट होता है, तो सभी जीव उसे देख सकते हैं। आत्मा को इस रूप में देखने वाले जीव संसार के सायक बनते हैं—

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, पटना, दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ (मारवाड़,) फरवरी १९५३, दूसरी गाथा, अमृतचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका, पृ० ८-९।

पौष-फाल्गुन १८८२ शक]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकैं।
दुहूं ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजे,
सकल सभा के लोग देखैं दृष्टि धरिकैं।।
तैसें ज्ञानसागर मिथ्याति ग्रन्थि भेदि करि
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूं लोक भरि कैं।
ऐसो उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता संभारै जग-जाल सौं निसरिकैं।।[1]

**बनारसी विलास**—[2]यह बनारसीदास की फुटकर रचनाओं का संग्रह है। आगरा के दीवान जगजीवन ने वि० सं० १७०१, चैत्र सुदी २ को उनकी बिखरी रचनाओं को एक स्थान पर संकलित कर दिया था और उस संकलन का नाम रक्खा था 'बनारसी-विलास'।

बनारसीविलास में बनारसीदास की ५० रचनायें संग्रहीत हैं। उनमें 'कर्म प्रकृति विधान' नाम की अन्तिम कृति भी है, जो फागुन सुदी ७, वि० सं० १७०० को समाप्त हुई थी। सूक्त मुक्तावली संस्कृत के सिन्दूर प्रकरण का पद्यानुवाद है। इसमें कुछ पद्य बनारसीदास के मित्र कुंवरपाल के रचे हुए हैं। ज्ञान बावनी पीताम्बर नाम के किसी कवि की रचना है। उस में बनारसीदास का गुणकीर्त्तन किया गया है। अवशिष्ट रचनाओं में जिनसहस्रनाम, शिवमंदिर, शिवपच्चीसी, भवसिन्धु चतुर्दशी, शारदाष्टक, नवदुर्गाविधान, अष्टप्रकारी जिनपूजा, दसबोल, अजितनाथ के छंद, शांतिनाथ स्तुति, साधुवंदना और फुटकर पद्य पंचपरमेष्ठी और देवियों की भक्ति से सम्बन्धित हैं। ध्यान बत्तीसी, अध्यातमफाग, अध्यात्मगीत, अध्यातमपद पंक्ति और पर-मार्थ हिंडोलना, आतम, ब्रह्म अथवा सिद्धि की वंदना में रची गई कृतियां हैं।

बनारसीविलास की रचनायें केवल भक्ति और आध्यात्मिकता की दृष्टि से ही नहीं, अपितु उत्तम काव्य की दृष्टि से भी खरी हैं। बनारसीदास को शब्दों के प्रयोग का उपयुक्त ज्ञान था। उनके काव्य में अलंकारों की भी छटा है, किन्तु नैसर्गिकता उसका मूल प्राण है। बनारसी दास रस को काव्य की आत्मा मानते थे। कवि ने आत्मा को 'पिया' बनाया है। उसके दर्शन होते ही जीव की लज्जा दूर हो जाती है। पिय को प्राप्त करने के लिये जीव रूपी पत्नी ने बड़े-बड़े प्रयत्न किये हैं। अन्त में शारदा और गुरु की कृपा से वह प्राप्त हो ही गया—

---

१. नाटक समयसार, बम्बई, वि० सं० १९८६, ७।६१, पृ० २१५।

२. बनारसीविलास का प्रकाशन जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई और नानूलाल स्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर से हो चुका है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



बालम तुहुं तन चितवन गागरि फूटि।
अँचरा गौ फहराय सरम गै छूटि॥
हूं तिक रहूँ, जे सजनी रजनी घोर।
घर करकेउ न जानै चहुँ दिसि चोर॥
पिउ सुधियावत वन में पैसिउ पेलि।
छाडत राजडगरिया भयउ अकेलि॥
संवरी सारद सामिनि औ गुरु भान।
कछु बलमा परमारथ करौ बखान॥ (अध्यातम-पद-पंक्ति, १-४)

**अर्ध कथानक**––अर्ध कथानक की रचना वि० सं० १६९८ में हुई थी। इसमें बनारसीदास के जीवन के ५५ वर्ष की आत्मकथा है। यह नाम स्वयं बनारसीदास का दिया हुआ है। उन्होंने अपनी १०० वर्ष की आयु मान कर, ५५वर्षों को आधी आयु में शामिल किया, और इसका नाम अर्धकथानक रक्खा। किन्तु इस रचना के दो वर्ष उपरान्त ही उनका स्वर्गवास होगया। अतः बनारसीपद्धति में आगे का जीवन होगा, एक अनुमानमात्र है।

अर्धकथानक में ६७५ दोहे-चौपाइयां हैं। उनमें बनारसीदास के जीवन के मर्मस्पर्शी घटनाओं के साथ साथ तत्कालीन भारत की सामाजिक अवस्था का भी यथार्थ परिचय अंकित है। इसके अध्ययन से ३०० वर्ष पहले के भारतीय जीवन का पूर्ण परिचय मिल जाता है।

अर्धकथानक एक सफल आत्म-कथा है। इसमें जो कुछ कहा गया है संक्षेप में और निष्पक्षता के साथ। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि––अपने को तटस्थ रख कर अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों पर दृष्टि डालना, उनको विवेक की तराजू पर बावन-तोले पाव रत्ती तौलना, सचमुच एक महान कलापूर्ण कार्य है।[1] डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है––कभी-कभी यह देखा जाता है कि आत्म-कथा लिखने वाले अपने चरित्र के कालिमापूर्ण अंशों पर एक आवरण सा डाल देते हैं, किन्तु यह दोष प्रस्तुत लेखक में बिलकुल नहीं है।[2] डा० मोती-चन्द ने लिखा है––इसमें सन्देह नहीं कि भाषा, भाव, सहृदयता और उपयोगी विवरणों से भरा अर्धकथानक न केवल हिन्दी साहित्य का ही वरन् भारतीय साहित्य का एक अनूठा रत्न है।[3]

अपने अन्तिम काल में बनारसीदास अध्यात्मियाँ सम्प्रदाय के सामर्थ्यवान सदस्य थे। वे अन्ध-विश्वासों के विशृंखलमार्गों से होकर आध्यात्मिकता तक पहुँचे थे, अतः उसकी

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी, हिन्दी का प्रथम आत्म चरित, अनेकांत, वर्ष ६, किरण पृ० २१।

२. देखिए अर्ध कथा, डा० माताप्रसाद गुप्त सम्पादित, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्व-विद्यालय, १९४३ ई०, भूमिका, पृ० १४।

३. डा० मोतीचन्द, एक असफल व्यापारी की आत्मकथा, अर्ध कथानक, बम्बई के संशोधित संकरण में संकलित, पृ० १८।

पौष-फाल्गन १८८२ शक]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वास्तविकता से भली भांति परिचित थे। उन्होंने अर्धकथानक में अपने विगत जीवन पर मार्मिक व्यंग किये हैं। कतिपय इस प्रकार हैं–

**वह प्रदेस उठि गयौ स्वतंत्र, सठ बनारसी साधै मंत्र।**
**बरस एक लौं कीनौं खेद, दीनौं नाहिं और कौं भेद ॥२१५॥**

\+ + +

**संख रूप सिव देव, महासंख बनारसी।**
**दोऊ मिले अबेव, साहिब सेवक एक से ॥२३७॥**

प्रथम पत्नी की मौत का समाचार पाकर, बनारसी और उनके मित्र नरोत्तम दोनों ही ने रुदन किया था। अब आध्यात्मिकता की परिपक्वता के समय, उन्हें वह रुदन भी मिथ्यात्व प्रतिभासित होता है, अतः उसके वर्णन में हल्के व्यंग की झलक है ––

**यह चीठी बांची तब दुहूँ। जुगल मित्र रोए करि उहूं ॥४४४॥**

**मोह विवेक युद्ध**[१]––यह एक रूपक काव्य है। इसमें विवेक को नायक और मोह को प्रतिनायक माना गया है। दोनों में युद्ध होता है और जीत विवेक की होती है। इसमें ११० पद्य हैं, दोहा-चौपाइयों का प्रयोग किया गया है। मोह की ओर से काम और विवेक की ओर से विचार नाम के दो सेनापति परस्पर युद्ध कर रहे हैं। विचार ने ज्ञान-वाण से काम के पंचवाणों को व्यर्थ कर दिया, तब काम ने 'त्रिया शक्ति' चलाई। इस अवसर पर हुए विवाद की कतिपय पंक्तियां इस भांति हैं ––

**पांचौ बाण जब खाली गया, काम बिचार और तब किया।**
**त्रिया शक्ति काम कर लई, जाय बिचार सौं सनमुख भई।**
**काम कहै तू यासौं लागि, कहै विचार याहु प्रतसि आगि।**
**काम कहै गोरी तन चाहि, कहै बिचार यहु नागिन आहि ॥४१॥**
**काम कहै तू रूपहि राचि, कहै विचार विष फल करि बाचि।**
**काम कहै देखौं छवि गात, कहै विचार पापी यह मात ॥४२॥**

**मांझा––**यह एक आध्यात्मिक रचना है। इसमें केवल १३ पद्य हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुर के दीवान वधीचन्द जी के मन्दिर में मौजूद है। इसका एक पद्य देखिए ––

**नर भौ हार अकारज की तो समझ न षेल्यो पासा।**
**मानष जनम अमोलक हीरा हार गवायौ षासा॥**
**चलो होय दुषदा भाजन बाद सुषादी आसा।**
**दसै दष्टा ते मिलन दुहेला नर भव गत विचवासा॥**

---

**१. यह रचना श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल को जयपुर के बड़े मन्दिर के शास्त्रभंडार की सूची बनाते समय उपलब्ध हुई थी। अब इसका प्रकाशन 'वीर पुस्तक भण्डार, मनिहारों का रास्ता, जयपुर' से हुआ है।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर मोहन अवस्थी

# खड़ीबोली के काव्य में मुहावरे

वाक्य की प्रभावोत्पादन शक्ति जिस प्रकार क्रिया के प्रयोग में है, उसी प्रकार उसका आकर्षण और मार्मिकता मुहावरों पर निर्भर है। जीवित भाषा की एक पहचान है उसके प्रचलित मुहावरे। जब तक भाषा जन-सम्पर्क में रहती है, उसमें लोक के अनुभव भी घुलते रहते हैं। भाषा के इस मुक्त प्रवाह को ये अनुभव नूतन रंग देते हैं। जिन भाषाओं की गति रुक जाती है उनमें मुहावरों की संख्या सीमित हो जाती है। उर्दू भाषा का जन्म ही जनता से सम्पर्क स्थापित करने के लिए हुआ था; इसीलिए वह बड़ी मुहावरेदार है। यदि प्रथम चार दशकों के खड़ीबोली के काव्य का परीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि संस्कृतादर्शों में पली अतीतोन्मुखी हिन्दी-काव्य-भाषा लोक से दूर थी। अस्तु, जब खड़ीबोली में कविता आरंभ हुई तो उसमें मुहावरों का प्रयोग नहीं के बराबर था।

ब्रजभाषा शताब्दियों से मँजती चली आ रही थी। मुहावरे, लोकोक्तियाँ उसके काव्य का शृंगार था। ऐसे जो मुहावरे खड़ीबोली में स्वाभाविकता से समाविष्ट हो गए उनसे कविता में चमक आ गई––

**शंख जो बराबरी की घोषणा सुनावेगा तो**
**नार कट जायगी उदर फट जायगा।**
**'शंकर' कली की छवि कदली दिखावेगा तो**
**ऐंठ अँट जायगी छवाड़ छट जायगा॥**

परन्तु न तो ब्रजभाषा के सभी मुहावरे खड़ीबोली-काव्य की स्वसम्पत्ति हो सकते थे और न यह आवश्यक था कि प्रत्येक कवि ब्रजभाषा का अनन्य प्रेमी हो। अतएव अधिकांश रचनाएँ या तो मुहावरेहीन हैं या उनके प्रयोग में प्रयत्नशीलता स्पष्टतः झाँकती है। 'हरिऔध' के चौपदों में मुहावरे सहजरूप में नहीं आए, प्रत्युत बलपूर्वक बिठाए गए हैं। उनकी कविता मुहावरे याद कराने का कोष है, मुहावरेदार काव्य नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मुहावरों की भरमार करने पर तुला हुआ है:—

**हैं पड़े भूल के भुलावों में**
**कब भरम ने भरम गँवा न ठगा।**
**क्या कहें हम अभाग की बातें**
**आज भू-भाग-भूत भवन भगा।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



क्यों न रहती सदा फटी हालत
पास सुख किस तरह फटक पाता।
करतबों से फटे रहे जब हम
भाग कैसे न फूट तब जाता?

हिन्दी-कविता लोक-जीवन से जितनी अधिक सम्पृक्त होती गई मुहावरों की संख्या में उतनी ही वृद्धि होती गई। भाषा की सरलता के साथ-साथ मुहावरे भी सहजरूप से आने लगे। इस विषय में प्रेरणा उर्दू से मिली। जो कवि उर्दू का अध्ययन करके हिन्दी में उतरे उनकी कविताओं में एक नवीन फड़क के दर्शन हुए। हिन्दी गद्य में जो शैली प्रेमचन्द जी ने दी कविता में वैसी ही चलती हुई मुहावरेदार शैली पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' 'त्रिशूल' द्वारा प्राप्त हुई। उनकी कविताओं में हिन्दी-उर्दू दोनों के मुहावरे सहजतया आ जाते हैं:—

आँखों में डालो डेरा, हो जाए दूर अँधेरा।

× × ×

मेरे नयनों के तारे, जीवन के एक सहारे।
अब चले प्राण बेचारे, चरणों के निकट तुम्हारे।

इन दशकों के प्रथम चरण में कवि भाषा के विषय में अधिक सतर्क थे। उनकी कविता हृदय का उद्गार होने पर भी मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित होकर निकलती थी। जो मुहावरे समाज में जिस रूप में प्रचलित हैं उन्हें उसी रूप में वे अपनी कविता में रख देते थे:—

जब लगीं ठोकरें शीश पर
निकल पड़े मैदान में
जीवन की कुछ आशा बँधी
पड़ी जान कुछ जान में।[1]

मुहावरे वस्तुतः सामाजिक वस्तु हैं, किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं। उनका एक शब्द इधर से उधर करना समाज के हृद्स्पन्दन को बदलने की चेष्टा करना है। इस तथ्य को न समझकर जिन कवियों ने निरंकुशता दिखाई उनकी काव्यश्री धूमिल पड़ गई। 'कमर टूट जाना' मुहावरा है। इसको 'कटि टूटी'[2] लिखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच कमर टूट गई हो। यह तो शब्दानुवाद मात्र का फल है, किन्तु ऐसे उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं जिनमें कवि ने शब्दों को इधर-उधर करके या बिलकुल बदलकर भाव का मात्र नाश ही नहीं किया वरन् एकदम विरोधी भाव भी सामने रख दिए गये हैं—

१. माधुरी, नवम्बर १९२८, पृ० ५६८
२. सिर पर अनंत सा आ टूटा।
कटि टूटी और भाग्य फूटा॥ —गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० १५४



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रक्खी गर्दन तलवारों पर
ये कूद पड़े अंगारों पर।
उर ताने शर बौछारों पर।
धाए बरछी की धारों पर।[1]

'राजपूत दुश्मनों से भिड़ गए', यह कवि का अभिप्रेत अर्थ है। लेकिन 'रक्खी गर्दन तलवारों पर' में आत्मसमर्पण का भाव है, कायरता की ध्वनि है। होना चाहिए 'झेलीं तलवारें गर्दन पर'। शर-बौछारों के आगे छाती तानी जाती है, बौछारों पर नहीं। 'अंगारों में कूद पड़ना' कार्य-काठिन्य की जो व्यंजना करता है वह अंगारों पर कूद पड़ने से प्रकट नहीं होता और तलवार की धार पर चलने में जो साहस है वह बरछी की धार में नहीं।

तात्पर्य यह कि चाहे शब्दानुवाद हो, तद्भव के स्थान पर तत्सम का प्रयोग हो, अथवा शब्द-परिवर्तन हो[2]; किसी भी प्रकार के रंच विकार से मुहावरे का भाव विनष्ट हो जाता है। 'ताली पीटना' (ताली बजाना) की जगह ताली ठोंकना कहना या 'बाँये हाथ का खेल' के बदले बाँये कर का खेल कहना[3] समान रूप से विघातक हैं। अभीप्सित भावाभिव्यक्ति के लिए 'जंगल में मंगल' के स्थान पर न तो वन में मंगल कहा जा सकता है और न 'सुग्गे पढ़ाना' के लिए शुक-अध्यापन। ये प्रयोग जब अक्षुण्ण रहेंगे तभी भावोत्कर्ष में सहायक होंगे।[4]

हिन्दी-कविता में मुहावरों के उपर्युक्त असाधु प्रयोगों के अतिरिक्त ऐसे व्यवहार भी मिलते हैं जिनमें न केवल एक दो शब्द, प्रत्युत मुहावरे में आई क्रिया को ही कवि ने परिवर्तित कर दिया है। 'आँतें निकल पड़ना' के स्थान पर 'आँतें गिर पड़ना' में क्रोध की व्यंजना मंद पड़ जाती

-----------

१. श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दीघाटी, १९४९, पृ० १४

२. यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की।
वारि पीकर पूछता है घर सदा।।
—पंत : ग्रंथि, सरस्वती, फरवरी १९२६, पृ० १८९

३. अप्सराएं नाच रही होंगी वहाँ ताली ठोक।
—रामचन्द्र शुक्ल, हृदय का मधुर भार, माधुरी, मार्च १९२५, पृ० १९५
मान कर क्या मेरा अनुरोध करोगे एक चित्र तैयार।
तुम्हारे बांये कर का खेल मुझे होगा संतोष अपार।।
—श्रीरत्न शुक्ल : मेरे प्रेम, सरस्वती, फरवरी १९२४, पृ० २४६

४. यदि अपना आत्मिक बल है, जंगल में भी मंगल है।
—गुप्त : साकेत, पृ० १०१
और भी तुमने किया है कुछ कभी, या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी।
गुप्त : साकेत, – पृ० १७



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है।[१] और कभी-कभी तो क्रिया-परिवर्तन से मुहावरे का कोई अर्थ ही नहीं निकलता—

**पहुँचे जहाँ वे अज्ञता का द्वार मानो रुक गया।[२]**

मुहावरा विचार को मूर्त कर देता है, क्रिया को अधिक स्पष्ट बनाता है। देखना और आँखें फाड़कर देखना, अलग-अलग दो भाव प्रकट करते हैं। एक में यांत्रिक क्रिया है, दूसरे में क्रिया के साथ आँखों की उत्सुकता भी जुड़ी हुई है—

**शुक भर-भर आँखें मौन हो देखता है।[३]**

'भर-भर आँखों' में शुक के हृदय की मौन व्यथा छलकती है। मुहावरे अपनी लाक्षणिकता के बिन्दु में अपार भाव-सिन्धु समेटे रहते हैं। उनका अभिधात्मक प्रयोग भाव का अवक्षय है। 'तारे गिनना' का अर्थ है निराश हो प्रतीक्षा में रात काटना। लेकिन यदि कोई कहने लगे कि अमुक की प्रेमिका ने कल दो घंटे तारे गिने या वह १५००० तक गिन पाई थी कि सबेरा हो गया; तो न वह भाव व्यंजित होगा, न अर्थ से ही उसका कुछ सम्बंध लगेगा—

**हाय! न आया स्वप्न भी और गई वह रात**
**सखि, उडुगण भी उड़ चले अब क्या गिनूँ प्रभात।[४]**

जान पड़ता है कि नक्षत्र-गणन-कार्य वास्तव में उर्मिला के सुपुर्द था। सबेरा हो जाने पर उसके सामने एक समस्या उत्पन्न हो गई कि अब वह क्या गिने ? कुछ कवियों ने अभिधा को अपसारित कर न केवल भाव को आपजात किया, वरन् उद्दिष्ट भावना को ही मिट्टी में मिला दिया—

**मैं पी लूँगा अभी रक्त थाल[५]**

'थाल पी लेना' कोई मुहावरा नहीं। सुराही, प्याला और गिलास पीते लोग देखे गए हैं थाल पीते नज़र नहीं आये। मुहावरा है 'खून पीना'। इसमें खून की मात्रा निश्चित न होने से ही लक्षणा है। मैं आध पाव खून पी लूँगा या थाल भर खून पी लूँगा में अभिधा की भी हत्या हो गई है।

---

१. ठाकुर ने त्योरियाँ के साथ तलवार भी
खींच ली तुरत और क्रोध कर यों कहा।
पार कर दूंगा अभी आंते गिर जायँगी।
—गुप्त : मंगलघट, १९२७, पृ० २०५

२. गुप्त : भारतभारती, १९३७, पृ० ७

३. हरिऔध – प्रियप्रवास, द्वि० सं०, पृ० ७२

४. गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २६८

५. हल्दीघाटी, पृ० २०



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जब मुहावरे का एक शब्द भी इधर-उधर करना भाव को अवाङ्मुख बनाना है, तब उसका आविष्कार असंभव-सा प्रतीत होता है। परन्तु ऐसी बात नहीं। जो कवि लोक-भावनाओं को आत्मसात् कर चुके हैं, जिन्हें सामाजिक वाणी के उतार-चढ़ाव का परिज्ञान है उनका अनुभव जब भाषा में ढलकर निकलता है तो वह मुहावरा बन जाता है। आधुनिक काव्य में ऐसे मुहावरे यद्यपि बहुत ही कम संख्या में प्राप्त होते हैं, फिर भी उनका नितान्त अभाव नहीं है।

इस प्रकार के मुहावरे दो वर्गों में रक्खे जा सकते हैं—सादृश्य पर आधारित तथा एकदम नवीन। सादृश्य तथा नवीनता दोनों ही में कवि का निरीक्षण कार्य करता है, किन्तु नवीनता में उसके निजी अनुभव का अंश अधिक रहता है। सादृश्य तो किसी न किसी रूप में नवीन के भीतर भी छिपा रहता है, परन्तु वह सरलतया दृष्टिगोचर नहीं होता। आधुनिक हिन्दी-कविता ने दोनों प्रकार के मुहावरे प्रदान किए हैं—

ज्वर-सा ताप चढ़ा था जग पर नहीं उतरता था पारा।[1]

× × ×

बहुत दिनों पर एक बार तो सुख की बीन बजाऊँ।[2]

'पारा उतरना' 'पारा चढ़ने' के सादृश्य पर और 'सुख की बीन' 'चैन की वंशी' के आधार पर निर्मित हुए हैं। पारा उतरते हुए कवि ने देखा है, बीन के स्वर में उसने सुख का अनुभव किया है। फिर भी इस मुहावरे के शब्द 'चैन की वंशी' के ही आश्रित कहे जाएँगे। किन्तु जब परिचित पद के विशेष न्यास से भाव-चारुता उत्पन्न होती है तो चमत्कार का ओप प्राचीन को भी नितांत नवीन रंग में रंजित करता है—

अभी भूख से रोते-रोते लाल हमारा सोया है।
धूल भरे हीरा ने मेरे घर भर मुक्ता बोया है।[3]

'मुक्ता बोना' स्वयं नया मुहावरा है, लेकिन 'हीरे का मुक्ता बोना' नवीनता में नवीनता है। यहाँ प्राचीन दर्पण में नवीन प्रकाश परिवर्तित होकर इन्द्रधनुषी बन गया है। दूसरे प्रकार के मुहावरों में नवीनता के अवदात आलोक से भाव को उदात्तता प्राप्त होती है—

कानन में कोकिल सुराग सरसावेगा तो
होड़ हट जायगी घमंड घट जायगा।
कोई कंठ कंठी इस कंठ की बँधावेगा तो
हुंडी पट जायगी प्रसाद बँट जायगा।[4]

---

१. भक्त : वर्षा, माधुरी, आश्विन १९२९, पृ० ५४९
२. प्रसाद : कामायनी, नवम् स०, पृ० ११२
३. भक्त : धरोहर, विशाल भारत, अक्टूबर १९३७, पृ० ४७६
४. शंकर : वसंतसेना-विलास, सरस्वती, मई १९०७, पृ० ८५



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'कंठी बाँधना' और 'प्रसाद बँट जाना' एकदम नए मुहावरे हैं। 'प्रसाद बँट जाना' 'प्रसाद बँटना' या 'प्रसाद बाँटना' दोनों ही से नितांत भिन्न है। 'कंठी बाँधना' पद साधारण क्रिया-रूप में तो सदियों से प्रचारित था, किन्तु यहाँ अपनी व्यंजना से उसने जो नूतन अर्हता प्राप्त की है, वह उसे कभी नहीं मिली थी। कवि ने अपने कौशल से दो निर्जीव शब्दों में नए प्राण फूँक दिए हैं।

ऐसे मुहावरे भी मिलेंगे जो न नवीन हैं, न तो प्राचीनों के मेल से बने हैं, प्रत्युत जो एक साथ दोनों हैं। मुहावरों में अधिकतर भाषा की लक्षणाशक्ति काम करती है, अभिधा प्रायः गौण रहती है। किन्तु जब एक ही मुहावरा अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों के दो स्वाद प्रदान करता है तब ऐसा प्रयोग प्राचीन भी होता है और नवीन भी——

**उठता शरीर मानो अंग में न आता था**
**वक्षःस्थल देख के कपाट खुल जाते थे।**

'कपाट खुल जाना' लक्ष्यार्थ है, लेकिन इसका अभिधेयार्थ भी द्रष्टव्य है कि सवाईसिंह का वक्षःस्थल देखकर डचोढ़ी पर किसी को उसे रोकने का साहस नहीं होता था और पौर द्वार उसके लिए उन्मुक्त कर दिए जाते थे। यहाँ लाक्षणिक अर्थ प्राचीन है किन्तु उसे अभिधेयार्थ की भांति प्रयोग करना नितांत नवीन है।

सारांश यह कि हिन्दी-कविता बीसवीं शताब्दी के आरंभ में यद्यपि मुहावरों से उतनी सम्पन्न नहीं थी जितनी ब्रजभाषा, लेकिन धीरे-धीरे उसमें मुहावरों का प्रयोग बढ़ रहा है। मुहावरों के नूतन प्रयोग बराबर सामने आ रहे हैं। यदि कविगण इस दिशा में सजग रहकर अंग्रेजी या अन्य भाषाओं के शब्दानुवादों से बचते रहें तो हिन्दी सक्षम होकर सरलतया मार्मिक एवं सूक्ष्म भाव अभिव्यक्त करने में अधिकाधिक समर्थ होती जाएगी।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर देवीदत्त शर्मा

# मीराबाई के काव्य में लोकजीवन

मीरा के गीतों में लोकतत्वों का विश्लेषण करने से पूर्व यदि हम लोकगीतों के स्वरूप और टेकनीक का भी कुछ परिचय प्राप्त कर लें तो अनुचित न होगा। साथ ही हमें शिष्टकाव्य और लोककाव्य के उस अन्तर को भी स्पष्ट करना होगा जिसके आधार पर मीरा का समस्त काव्य अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आ सके। यों तो मीरा की गिनती सदा से सन्त परम्परा में होती आई है और उसका काव्य भी शिष्टकाव्य का अंग बना हुआ है किन्तु जब हम उसके काव्य को लोककाव्य की कसौटी पर कसते हैं तो वह उसमें इतना खरा उतरता है कि उसे शिष्टकाव्य नहीं अपितु लोककाव्य ही कहने को बाध्य होना पड़ता है।

यहां हम लोकसाहित्य सम्बन्धी केवल दो विद्वानों के विचार उद्धृत करेंगे। प्रथम का सम्बन्ध है लोकसाहित्य की परिभाषा से और दूसरे का सम्बन्ध है लोकसाहित्य और शिष्टसाहित्य के अन्तर से। लोकगीतों की परिभाषा देते हुए डा० सदाशिव लिखते हैं—"शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द-तरंग में जो छन्दोवद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।" इस लोक मानस सम्भूत साहित्य का अलंकृत साहित्य से मुख्य अन्तर क्या है, इस विषय पर प्रकाश डालते हुए भारतीय लोकगीतों के पिता महापंडित रामनरेश जी त्रिपाठी लिखते हैं—"ग्रामगीत और महाकवियों की कविता में अन्तर है। ग्रामगीत हृदय का धन है और महाकाव्य मस्तिष्क का। ग्रामगीत में रस है महाकाव्य में अलंकार। रस स्वाभाविक है और अलंकार मनुष्य-निर्मित।" (क० कौ० भाग० ५ पृ०९)। एक स्थान पर अन्यत्र वह लिखते हैं—"ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं। इनमें अलंकार नहीं केवल रस है, छन्द नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य है।" (वही पृ० १)

कहना न होगा कि मीरा के गीत इन दोनों ही कसौटियों पर इतने खरे उतरते हैं कि उन्हें लोकगीत कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। किन्तु किसी रचना को लोकगीत के सिंहासन पर ला बिठाने के लिए शायद इतना कह देना ही पर्याप्त न होगा। इसके लिए तो हमें विस्तार के साथ लोकगीतों की उन विभाजक विशेषताओं पर पृथक् पृथक् रूप से विचार करना होगा जो उसे अलंकृत अथवा शिष्ट साहित्य से भिन्न सिद्ध करती है।

भारतीय तथा वैदेशिक विद्वानों ने लोकगीतों या गाथाओं की जिन प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत किया है वे निम्न लिखित हैं—

(१) रचयिता का अज्ञात होना, (२) प्रामाणित मूल पाठ का अभाव, (३) संगीत



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और नृत्य का अभिन्न साहचर्य, (४) स्थानीयता की प्रचुर पुट, (५) मौखिक प्रवृत्ति, (६) उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव, (७) अलंकृत शैली का अविधामूलक प्रवाह, (८) रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव, (९) टेक पदों की पुनरावृत्ति, (१०) लम्बा कथानक।

मीरा के काव्य पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उसमें लोकगीतों की उपर्युक्त विशेषताओं की मात्रा इतनी अधिक है कि उन्हें लोकगीत कहने में भी कोई सन्देह नहीं रह जाता।

यद्यपि मीरा के गीत सीमित रूप में लोकगीत की उस परिभाषा को पूरा नहीं करते जिसमें कहा गया है कि लोककाव्य में काव्य के निर्माता का व्यक्तित्व सर्वथा अज्ञात रहता है किन्तु इधर कुछ ऐसी बातें प्रकाश में आ रही हैं जिनके आधार पर मीरा के कुछ गीत लोकगीतों की इस शर्त को भी पूरा कर सकते हैं। लोकसाहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ श्री के० एम० झावेरी जी गुजरात में प्रचलित गर्बा गीतों में से वहुतों को मीराबाई की ही रचना मानते हैं। यदि उनका यह अनुमान ठीक है तो हमें कहना होगा कि मीरा के वे गीत अवश्य ही 'रचयिता के अज्ञात' होने की शर्त को पूरा करते हैं।

प्रामाणिक मूल पाठ का अभाव तो मीरा के गीतों की एक प्रमुख विशेषता है ही। इतना कुछ अनुसन्धान होने के उपरान्त भी अभी तक 'मीरा पदावली' का कोई प्रामाणिक एवं सर्वमान्य पाठ स्थिर नहीं हो सका है। अभी तक पूरी तरह से यह भी निश्चित नहीं हो सका है कि मीरा के नाम से प्रचलित सभी गीत उसी के हैं या किसी और के भी? यहां तक कि कई विद्वान् उन अनेक गीतों को भी मान्यता देने को तैयार नहीं जिनमें मीरा की परम्परा पर ही गीत के अन्त में 'मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर' जैसी पदावली आती है और दूसरी ओर श्री झावेरी जी जैसे अनेक विद्वान् ऐसे भी हैं जो उन अनेक प्रचलित गीतों को मीरा के ही नाम से मान्यता देने के लिए प्रयत्नशील हैं जिनमें कि उसके नामादि का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। पाठ-भेद तो इन गीतों में इतना अधिक है कि एक संकलन का पाठ दूसरे संकलन के पाठ से अनेक अंशों में भिन्न पाया जाता है। एक पाठ यदि 'सास कहे मीरा भई री बावरी, ससुर कहे कुलनासी' कहता है तो दूसरा 'लोग कहें मीरा भई री बावरी, सास कहे कुलघाती' का रूप प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार एक संकलन में 'खोल मिली तन गाती' पाठ मिलता है तो दूसरे में 'खोल मिली हरि से माती' या 'कलम धरत मेरो कर कंपत हिरदो रहा घर्राई' एवं 'कलम भरत मेरो कर कंपत हियड़ो रहा थर्राई।' कहने का अभिप्राय यह है कि मीरा के इन गीतों में लोकगीतों के समान ही अपनी आत्मा के अक्षुण्ण रहते हुए शब्द परिवर्तन का तत्व विद्यमान है। इसीलिए भिन्न भिन्न गायकों द्वारा इसकी शब्दावली में परिवर्तन सम्भवतः होता रहा है जिससे कि प्रमाणिक मूल पाठ अनिश्चित हो गया है।

लोकगीतों की तीसरी विशेषता संगीत और नृत्य के अभिन्न साहचार्य के विषय में तो यहां अधिक कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। मीरा के गीत लोकजीवन में तो कई शताब्दियों से नृत्य और संगीत में प्रमुख स्थान पाते आ ही रहे थे किन्तु अब हमारा चित्रपट भी इनकी इन



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



विशेषताओं से दूर नहीं रह पा रहा है। वस्तुतः यही तो मीरा के गीतों की आत्मा है, उनका जीवन है जिसने उन्हें लोक का कण्ठहार बनाया है।

लोककाव्य की चौथी विशेषता, स्थानीयता का प्रचुर 'पुट' है जो मीरा के काव्य में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। विषय और स्वरूप दोनों ही दृष्टियों से इसकी सत्ता इन गीतों में पाई जाती है। स्वरूप में राजस्थानी भाषा की शब्दावली इतनी प्रचुर है कि उससे ही स्थानीयता की छाप स्पष्ट झलकने लगती है—

**'आप बिना म्हारो कूँण धनी है,' 'राम मिलण रो घणो उभावो।'**
**'जो सुणि पावली विरहिणी रे, थारीं राखली पाँख मरोड़।'**
**'ज्यां देसां म्हारो पिव बसै रे,' 'मेरा प्राण निकस्या जात री।'**
**'प्रेम भगति को पैंड़ो ही न्यारो,' 'हम कूं गैल बता जा।' आदि**

इसी प्रकार विषय की दृष्टि से भी इन के गीतों में स्थानीय पुट काफी उभर आया है। उनकी सन्तवाणी में एक राजस्थानी रमणी के वाह्य श्रृंगार का रूप देखिए--

**ओढ़ण लज्जा चीर धीरज जो घाँघरो।**
**छिमता काँगण हाथ, सुमति को मून्दड़ो।**
**दिल दुलड़ी दरियाव, सांच को दोवड़ो।**
**उबटण गुरु को ज्ञान, जुगत को झूटणो।**
**बेसर हरि को नाम, चूड़ो चित ऊजलो।**
**जीहर शील संतोष, निरत को घूँघरो।**

इस गीत में प्रयुक्त सभी वस्त्र-भूषणों से राजस्थानी जीवन सम्बन्धित अलंकरणों का जो प्रयोग केवल उसके स्थानीय पुट के ही कारण हुआ है किसी अन्य प्रदेश का गीतकार निश्चय ही इससे भिन्न अलंकरणों का रूप प्रस्तुत करेगा।

लोकगीतों के समान ही ये पद भी अधिकतर मौखिक परम्परा पर ही जीवित रहे हैं। मुद्रित एवं संकलित पदों के अतिरिक्त अब भी अनेकों पद ऐसे हैं जो केवल मौखिक परम्परा पर ही चलते हैं और अभी तक इनका पूर्ण संकलन एवं मुद्रण नहीं हो पाया है। इसीलिए मीरा के पदों की जीवित संख्या अभी तक अनिश्चित है। एक ओर तो अब तक के मुद्रित पदों के आधार पर इनकी संख्या २०० के लगभग मानी जाती है और दूसरी ओर पुरोहित हरिनारायण जी अपने व्यक्तिगत संग्रह के आधार पर इसे ५०० के लगभग मानते हैं। इन दोनों संख्याओं के मध्य में आती है श्री झावेरी जी की संख्या जो कि कुछ गुजराती भाषा के गीतों को भी मीरा के ही गीतों का रूपान्तर मान कर इनकी संख्या २५० के लगभग मानते हैं। अतः ये गीत मौखिक परम्परा वाली कसौटी पर भी उतने ही खरे उतरते हैं जितने कि अन्य लोककाव्य। आधुनिक संकलनों से पूर्व कई शताब्दियों तक के गीत जनता के कण्ठ में ही जीवित रहे और अनेक गीत अब भी जन-कण्ठ में ही जी रहे हैं, यही इन्हें लोक गीतों की कोटि में रखने के लिए पर्याप्त है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'रचयिता के व्यक्तित्व के अभाव' की बात तो जितनी इन गीतों पर लागू होती है उतनी और किसी भक्त कवि की रचनाओं पर नहीं। 'मीराबाई की पदावली' की भूमिका में (पृ० १५) आचार्य परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"वास्तव में मीराबाई के अनेक पदों की भी, कबीर साहब आदि के पदों की भाँति ही, बहुत कुछ दुर्दशा हो गई है। जिस जिस ने गाया उसने उन्हें अपने रंग में रँगने की चेष्टा की है और अपने विचारानुसार, मीरां के ढर्रे पर कितने ही स्वरचित पद प्रचलित कर दिए हैं; जो बिना ध्यानपूर्वक देख-भाल किए मीरा रचित ही जान पड़ते हैं।"

वस्तुतः यही तो है मीरा के गीतों का लोकतत्व जिसे चतुर्वेदी जी दुर्दशा कहते हैं। यह तो लोककाव्य की विशेषता ही है कि वह किसी विशेष व्यक्तित्व के अभाव में जनसम्पर्क के अनुसार अपना वाह्य स्वरूप बदलता रहता है। शास्त्रीय कवियों की रचनाओं में यह गुण नहीं पाया जा सकता। वहां तो प्रत्येक शब्द और अक्षर का अपना विशेष महत्व होता है। उनमें परिवर्तन को सह सकने की क्षमता नहीं होती। वे तो वाह्य परिवर्तन के साथ ही अपना अस्तित्व खो बैठते हैं जब कि लोककाव्य इस शाब्दिक परिवर्तन के बावजूद भी रसास्वादन की दृष्टि से अक्षुण्ण रहता है।

उसके ढर्रे पर अन्य गीत बन गए यह भी उनके लोकतत्वात्मक होने का एक प्रमाण है। लोकगाथाओं एवं लोकगीतों में प्रायः देखा जाता है कि भावाभिभूत गायक यत्र-तत्र अनेक पद जोड़ देता है पर गीत फिर भी सर्वथा अविकृत बना रहता है। उसमें केवल हृदय पक्ष की प्रधानता रहती है जो कि रचयिता, गायक और श्रोता के पृथक् पृथक् व्यक्तित्व को विलीन करके उन्हें एकाकार कर डालती है। यह तत्व मीरा के गीतों में विशेष रूप से पाया जाता है। व्यक्तित्व निरपेक्षता तो इतनी है कि यदि उनमें से मीरा का नाम हटा कर किसी और का नाम रख दिया जाय तो भी गीत के रसास्वादन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यही तो वस्तुतः ग्रिम का 'जनता का जनता के लिए लिखा गया काव्य' का अभिप्राय है। लोककवि का हृदय जनता के हृदय का प्रतिनिधि होता है और उसके द्वारा रचित काव्य तुरन्त ही लोकमानस में स्थान पा लेता है। वह लोक का कण्ठहार बन जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वरूप और आत्मा दोनों ही दृष्टियों से मीरा के गीत ऐसे हैं जो कि सरलता से लोक-गीतों में घुल-मिल जाते हैं और उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है।

स्मरण रहे कि केवल भक्ति-भाव के ही कारण जनता ने इन्हें नहीं सँजो रखा था अपितु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण इनका गुण था लोकात्मकता जो इनके संरक्षण में प्रधान कारण माना जा सकता है। अन्यथा बड़े बड़े दार्शनिक भक्तों और कवियों के काव्य-कलापों के बीच इनकी स्थिति कठिन थी। फिर भी यह गीतमालिका सर्वाधिक प्रचलित रही, इसका रहस्य इनमें पाये जाने वाले लोकतत्वों के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

शुद्ध 'उपदेशात्मकता का अभाव' भी मीरा के काव्य की अन्यतम विशेषता है। इसमें उस दार्शनिक उपदेशात्मकता का सर्वथा अभाव है जो कि मध्यकाल के अन्य साधकों, नाथपन्थियों और सिद्धों की वाणियों में मिलती है। मीरा के गीत आध्यात्मिक होते हुए भी लौकिक हैं क्योंकि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



इन गीतों का नायक कृष्ण परब्रह्म भी है और वृन्दावनविहारी वासुदेव भी। इनका विधान, इनके प्रतीत सब लौकिक हैं, लोकजीवन के अति निकट है।

कबीर भी अपने पदों में 'दुलहन बनने' और 'नैहर जाने' की बात कहते हैं किन्तु उनमें वह हृदय-स्पर्शिता नहीं जो कि मीरा के—

**"नैहरवा हम को नहिं भावै।**
**साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहँ कोई आवै न जावै॥"**

जैसे पदों में पाई जाती है। इस पद के साथ तो कूर्माञ्चल के उस विदाई-गीत की पंक्तियां याद हो आती हैं जिनमें कि ससुराल जाती हुई कन्या अपने बाबुल से कहती है कि 'अब तो आपका देश बड़ा रूखा और उदास लगता है और स्वामी का देश मन को लुभाने वाला है।' कबीर के एक अन्य पद 'रहना नहि देश विराना है' की यह प्रथम पंक्ति तो ऐसी लगती है जैसे कि किसी लोक-गीत की विदाई-गीत की पंक्ति हो किन्तु इसके आगे बढ़ते ही उनका वह कोरा उपदेश शुरू हो जाता है जिसमें लोकगीत का माधुर्य समाप्त होकर सधुक्कड़पना सामने आ जाता है। किन्तु मीरा में कहीं भी यह उपदेशात्मकता अपने कोरे रूप में सामने नहीं आई है।

मीरा ने कहीं भी अपनी बात को अलंकारों के आवरणों से ढकने का प्रयत्न नहीं किया है। जो कुछ कहना चाहा सीधी सरल भाषा में कह डाला। स्वाभाविकता, सरलता और अकृत्रिमता तो मीरा के पदों में कूट-कूट कर भरी पड़ी है। उसके इसी गुण ने उसके गीतों को कोटि कोटि कण्ठों का हार बना दिया है। और तो और ये गीत लोकगीतों के ही समान पिंगल शास्त्र के बन्धनों को भी स्वीकार नहीं करते। श्री चतुर्वेदी जी ने उनके विषय में ठीक ही कहा है कि "पदावली के अन्तर्गत आए हुए पदों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि मानों उनकी रचना पिंगल के नियमादि को सामने रखकर नहीं की गई थी अथवा उनके विशेष रूप से गाये जाने योग्य होने के कारण, पीछे से उनमें संगीत की सुविधाओं के अनुसार परिवर्तन कर दिए गए हैं। पिंगल की दृष्टि से नाप-जोख करने पर पदावली का कदाचित् कोई भी पद नियमानुसार बना हुआ प्रतीत नहीं होता। किसी में मात्राएं बढ़ती हैं, तो किसी में घट जाती हैं। किसी में दो तीन तक शब्द बढ़ जाते हैं तो कहीं यति भंग का दोष आ जाता है और कहीं कहीं पर नियमादि की उपेक्षा के कारण यह कहना कठिन हो जाता है कि किसी पंक्ति अथवा किन्हीं पंक्तियों की किन लक्षणों को दृष्टि में रख कर परीक्षा की जाय' (मीराबाई की पदावली पृ० ४१–४२)। किन्तु यहां इतना स्मरण रखना चाहिए कि जहां चतुर्वेदी जी इसे संगीत की सुविधानुसार बाद में किया गया परिवर्तन मानने को तैयार हैं वहां हम इसे ही मूल एवं स्वाभाविक मानते हैं। वस्तुतः यही तो इनकी लोकात्मकता है। जिस प्रकार लोकगीत शब्द-शास्त्र की एवं पिंगल-शास्त्र की परवाह किए बिना ही अपनी लय के आधार पर चल पड़ते हैं वैसी स्थिति मीरा के गीतों की भी है।

लोकगीतों के ही समान इनमें सादगी है, स्वाभाविकता है। इनमें न शब्द-जंजाल है और न भावों की जटिलता। जो कुछ कहना है वह सीधे-सादे शब्दों में लोकभाषा में कह दिया गया है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


यदि कहीं प्रतीकों की आवश्यकता पड़ी है तो वह भी हमारे दैनिक व्यवहार की वस्तुओं से लिये गए हैं। मीरा को न तो कबीर आदि की भांति 'त्रिकुटी' 'शून्य' आदि को समझाने की आवश्यकता है और न कल्पना लोक में भ्रमण की। उसने न दर्शनशास्त्र ही पढ़ा है और न काव्य-शास्त्र। इसीलिए उसके पदों में न कहीं दार्शनिक शब्दावली है, न उलटवासियां ही हैं और न मधुर एवं अलंकृत कल्पनाओं की छटा ही। उसके पास तो है एक निश्छल भोला-भाला नारी हृदय जो तर्क नहीं समर्पण जानता है। उसमें मस्तिष्क के लिए इतना अवसर नहीं जितना कि हृदय के लिए। यदि कहीं आवश्यकता पड़ी तो ऐसे प्रतीकों का सहारा लिया गया है जो इसी लोक के लिए थे। जीवन की निःसारता बतलानी थी तो कह गई—"बन्दगी मत भूल। चार दिना की करले खूबी, ज्यूं दाड़िम का फूल ॥"१९९॥ या जीवन मृत्यु का संदेश देना था तो वृक्ष के पत्ते के प्रतीक को सामने रख कर कहा—बिरछ के ज्यूं पात टूटे, बहुरि न लागे डार ॥१९५॥ या राम नाम की महत्ता की बात चली तो कह दिया—कनक कटोरे इम्रित भरियो, पीवत कौन टरैं ॥२००॥

लोककाव्य का प्रमुखतम अलंकार है स्वभावोक्ति और रीति है वैदर्भी। मीरा की रचनाओं में ये दोनों अपने सुन्दर एवं निखरे हुए रूप में सामने आते हैं। मीरा के निम्नलिखित पद में रसिकवर नटवर का कितना स्वाभाविक चित्र कितनी सरल एवं स्वाभाविक भाषा में प्रस्तुत किया गाय है—

**मेरो मन बसिगो गिरधरलाल सौं ॥टेक॥**
**मोर मुकुट पीताम्बर हो गल वैजन्ती माल।**
**गउवन के संग डोलत हो जसुमति को लाल।**
**कालिन्दी के तीर हो कान्हाँ गउवां चरायं।**
**शीतल कदम्ब की छाहियां हो मुरली बजाय ॥६॥**

बिलकुल इसीसे मिलता-जुलता एक पछांही लोकगीत देखिए—

**सुन सखि कान्हां को मोरे ढूढ़ ला, हां हां कान्हा को मोरे०**
**जब देखूं तब जमना किनारे, गइयां चराय रहा री–वही तो मोरा सांवरा ॥सुन०॥**
**जब देखूं तब कदम्ब की छइयां मुरली बजाय रहा री–वही तो मोरा सांवरा ॥सुन०॥**

या श्याममनोहर की रूप-माधुरी पर मुग्ध मीरा का एक पद और देखिए—

**बसो मोरे नैनन में नन्दलाल ॥टेका॥**
**मोहनि मूरत सांवरि सूरति नैणां बने विसाल।**
**अधर सुधारस मुरली राजति, उर वैजन्ती माल,**
**छुद्र घंटिका कटितट शोभित, नूपुर शब्द रसाल ॥**

इन समस्त वर्णनों में न कहीं रूपक है और न कहीं उत्प्रेक्षा। क्या कोई शास्त्रीय कवि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



छैलछबीले कृष्ण के वर्णन का अवसर पाकर अपनी कल्पना-चातुरी का प्रदर्शन किए बिना रह सकता था ? सूर और तुलसी भी अपने इष्टदेव के सौन्दर्य-वर्णन के लिए उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं इकट्ठा करते नहीं अघाते। किन्तु मीरा ! वह तो सीधे ही कह जाती है–'मोहिनी मूरति सांवरि सूरति।'

वस्तुतः इस अनलंकृत वर्णन में भी एक अद्‌भुत आकर्षण है, सौन्दर्य है। इन शब्दों में वही जादू है जो लोककाव्य की सरलता में पाया जाता है और पाया जाता है लोकनायिका के भोलेपन में। इस में तथा अन्य रीति-काव्यों में यही अन्तर है जो नगर की चतुर छैलछबीलियों और मुग्धा ग्रामवधूटियों में। लोकजीवन के सरल हृदय में इतना अवसर शब्द-जाल के लिए कहाँ है ? जो दिल को भाया उसे कह डाला, बिना किसी प्रकार के नमक-मिर्च मसाले के ही। यही तो वह लोकतत्व है जिसकी झलक मीरा में सर्वत्र पाई जाती है। मीरा के काव्य में हम चाहे शिष्ट काव्य की रसालंकारादि विशेषताओं को ढूंढ़ निकालें किन्तु उसकी कविता इनमें से किसी की चेरी नहीं।

लोकगीतों में पाई जाने वाली पदों की पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति भी मीरा में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। यह आवृत्ति कभी तो केवल टेक पद तक ही सीमित रहती है जैसे—जोगी मत जा, मत जा, मत जा इत्यादि में और कभी कभी अनेक पदों की भावात्मक पुनरावृत्ति, यथा—

**कंकर हीरा एक सार सा, हीरा किस कूँ कहिए रे।**
**हीरापण तो जद ही जाणूं महंगा मोल बिकइये रे।**
**कोयल कागा एक सरीखा, कोयल किसकूं कहिए रे।**
**कोयलपण तो जद ही जाणूं मीठा वचन सुनइये रे।**
**हंसा बगला एक सरीखा, हंसा किस कूं कहिए रे।**
**हंसापण तो तद ही जाणूं चुग चुग मोती खइए रे॥**

उक्त लोककाव्य की विशेषताओं में लम्बे कथानक वाली बात केवल लोकगाथा पर ही लागू होती है। मीरा-रचित 'नरसी रो माहेरो' के किंचित् उपलब्ध अंशों को देखने से पता चलता है कि उसकी यह रचना लोककाव्य-शैली का ही एक गाथा-ग्रन्थ है। इसका कथानक अवश्य ही लम्बा होगा, इसका प्रमाण इस पर आधारित अन्य लोकगीतों एवं गाथाओं से सहज ही किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा के काव्य में वे सभी विशेषताएं पूर्ण रूप में पाई जाती हैं जो कि किसी रचना को लोककाव्य की परिधि में लाने के लिए आवश्यक मानी गई हैं। हम मीरा के पदों में उन तत्वों को दर्शाने का यत्न करेंगे जिन्हें कि हम लोकसाहित्य में प्रमुख एवं रूढ़ि रूप से पाते हैं या जिन्हें हम लोकसाहित्य की रूढ़ियों के नाम से भी पुकार सकते हैं।

सर्वप्रथम यदि हम मीरा के जीवन को ही देखें तो वह स्वयं लोकाख्यान के तत्वों से परिपूर्ण है। उसके जीवन में स्वयं किसी लोकनायिका का जीवन प्रतिविम्बित होता है। बचपन में कृष्ण



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


की मूर्ति से लेकर अन्त में श्री रणछोड़जी की मूर्ति में विलीन होने तक की सभी घटनायें आश्चर्य और चमत्कार से परिपूर्ण हैं। विष को पीकर भी न मरना, सांप को माला की भांति गले में डाल लेना आदि अनेकों ऐसी घटनाएं हैं जो केवल लोककथाओं में ही सम्भव मानी जाती हैं। प्रेमी नायक-नायिकाओं के मार्ग में आने वाली जिन कठिनाइयों का वर्णन हमें लोकगाथाओं में मिलता है, मीरा के पदों में भी हमें उनका बिल्कुल वैसा ही रूप मिलता है। यदि उनमें से 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' जैसे पदों को निकाल दिया जाये तो फिर यह कहना कठिन हो जाता है कि ये पंक्तियां मीरा की हैं या किसी अन्य लोकगाथाकार की। उदाहरण रूप में निम्नस्थ पद को लीजिए——

**हे ली म्हासूँ हरि बिन रह्यौ न जाय॥टेक॥**
**सास लड़ै मेरि ननद खिजावै, राणा रह्या रिसाय।**
**पहरो भी राख्यो चौकी विठार्‌यो, तालौं दियो जड़ाय।**
**पूर्व जन्म की प्रीत पुराणी सो क्यूं छोड़ी जाय।**
**मीरा के प्रभु गिरधर नागर, और न आवै म्हारी दाय॥४६॥**

यद्यपि 'मीरा की पदावली' कोई सम्बद्ध काव्य-ग्रन्थ नहीं, वरन् आन्तरिक अनुभूतियों का विभिन्न गीतों के रूप में अभिव्यक्त एक संकलन मात्र है, किन्तु फिर भी ये अनुभूतियां इतने व्यापक रूप में व्यक्त की गई हैं तथा उनमें प्रेमी जीवन के हृद्‌गत भावों की इतनी विस्तृत एवं विविध रूपात्मक अभिव्यंजना है कि इन्हें समुचित ढंग से सजाने पर यह सहज ही एक प्रेमाख्यानक लोककाव्य की रूप-रेखा प्रस्तुत कर देते हैं। प्रथम दर्शन में ही प्रिय के रूप पर मोहित हो जाना, बार बार उसे देखने के लिए लालायित रहना, प्रेम की पीर का निरन्तर बढ़ता जाना, वियोग-व्यथाओं की अभिव्यक्ति, विविध अभिलाषाओं की सृष्टि, प्रिय से मिलन की चेष्टा, परिवार एवं संबंधियों द्वारा मिलन-मार्ग में बाधा, कष्ट सहन, प्रिय को पाने के लिए गृहत्याग, जोगन बन जाना, अन्त में प्रिय से मिलन एवं संयोगजन्य आनन्द का वर्णन सभी कुछ तो है इसमें जो कि एक लोकगाथा या लोककाव्य के वर्णन का प्रमुख विषय होता है। इन गीतों के समान ही लोकगाथाओं के प्रकरण भी इस प्रकार जुड़े होते हैं कि उन्हें आसानी से विश्रृंखलित किया जा सकता है। लोककाव्य की विशेषता ही है कि वह शिथिल बन्ध होता है, उसकी प्रत्येक घटना और अभिव्यक्ति एक मुक्ता के समान होती है जो कि कथासूत्र में पिरोये जाने पर हार का अंग बन जाता है साथ ही अपना पृथक् स्वतंत्र मूल्य भी रखता है।

हम जानते ही हैं कि मीरा अपनी कौमार्यावस्था में ही श्री 'गिरधर गोपाल' की माधुरी पर मुग्ध हो गई थी और उससे उसका 'नेह' लग गया था। यह 'बालपने का नेह' कितना मधुर तथा कितना दृढ़ होता है यह हमारी लोकगाथाओं में, लोककाव्यों में सर्वत्र पाया जाता है। 'हीर रांझे' की प्रेमगाथा भी कुछ ऐसी ही है। किसी अन्य से स्नेह कर किसी अन्य से विवाही जाने वाली लोकनायिका के समान ही मीरा का भी विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध कुंवर भोजराज से कर दिया



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जाता है किन्तु वह तो अपना हृदय पहले ही किसी और को दे चुकी थी। विवाह उसके सच्चे स्नेह में बाधक न बन सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा के जीवन में स्वयं ऐसे अनेक तत्व हैं जो उसे लोकगाथाओं की नायिका की कोटि में ले जाते हैं। वे आश्चर्य, वह प्यार, वे बाधाएं और वह लगन सभी कुछ तो लोकतत्व से भरपूर हैं। इसीलिए तो एक लोकगीत में उसे ही नायिका बना लिया गया है—

मीरा है मोरा नाम, मीरा है मोरा नाम,
मोरा मन लागा हरि चरनन में।।टेक।।
साधु संगति छोड़ दे मीरा, अरे दोऊ कुल आवै लाज।
साधू संगति छूटे ना राणा, मोरे जावै क्यों न कुल की लाज।।मोरा०।।
जहर का प्याला भेजा पापी, मीरा को देहु पिलवाय।
कर चरणामृत पी गई रे, हो गई अमृत की घूंट।।मोरा मन०।।
सर्प पिटारी भेजिया जी, मीरा को दो कटवाय।
न्हाय धोय मिरा खोलिया जी, झट हो गए सालिग्राम।।मोरा मन०।।
कोठे चढ़ के देखियो रे कि मीरा मरी है कि नाय।
मुख सें बजावै मीरा बांसुरी, रे वह गावै गिरधर लाल।।मोरा मन०।।

इतना ही नहीं, इस गीत में स्वयं मीरा के अनेक पदों के भाव सम्मिलित हो गए हैं।

सन्त परम्परा की कवियत्री होते हुए भी मीरा ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए सन्तों की प्रतीकात्मक भाषा का बहुत कम प्रयोग किया है। यद्यपि उसका प्रियतम भी 'गगन मंडल' में रहने वाला है और उसके महल का मार्ग 'ज्ञान' की 'गली' में होकर जाता है। मीरा उसे 'त्रिकुटी' महल के झरोखों से झांका करती है। उसीके आने की प्रतीक्षा में सारी रात 'सुरत' 'निरत' का 'दिवाला संजोकर' (पद २०) एवं 'सुख की बहुरंगी सेज' बिछाकर 'सोलह शृँगार किए' बैठी रहती है (१२९) किन्तु ऐसे स्थल उसमें नगण्य हैं और इन प्रकरणों की भी यदि इस रहस्यात्मक प्रतीक भाषा को हटा दिया जाय तो यह भी शुद्ध रूप में किसी लोकनायिका का रूप प्रस्तुत करने लगेगा।

केवल आध्यात्मिक रूप में ही नहीं अपितु लौकिक रूप में भी मीरा ने अपने उस प्रियतम का तथा अपनी विरह-मिलन की दशाओं का खूब गान किया है। उस प्रियतम की 'माधुरी मूरत' उसके चित्त पर ऐसी 'चढ़ी' और उर में ऐसी 'अड़ी' है कि भुलाए नहीं भूलती। हर समय याद आती रहती है (पद ११)। वह तो उसका रूप वर्णन करते नहीं अघाती (पद २३, ३४, ३८, ४५ आदि) और उसे रिझाने के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाती है।

मैं गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



रैण पड़े तब ही उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ।
रैण दिना वाके संग खेलूं, ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊँ।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ।
जहाँ बैठावे तितही बैठूं, बेचे तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ।।

उसे मनाने के लिए 'पायन' तक में पड़ जाती है (१४६)। उसके सामने हर प्रकार से आत्मसमर्पण कर डालती है :—

बाल्हा मैं वैरागिण हूंगी हो।
जीं जीं भेष म्हारो साहिब रीझै सोई-सोई भेष धरूँगी हो।।१५२।।

या—

चालाँ वाही देश प्रीतम चालाँ वाही देश।
कहो कसूमल साड़ी रँगवाँ, कहो तो भगवाँ भेष।
कहो तो मोतियन माँग भरावाँ कहो छिटकावाँ केस।।१५३।।

मीरा के सम्बन्ध में एक विशेष स्मरणीय बात यह है कि उसके 'प्रिय' में तथा अन्य सन्तों के 'प्रिय' में एक बहुत बड़ा अन्तर है। वह यह कि जहां अन्य सन्त कवियों या भक्तों का 'प्रिय' अमूर्त, रहस्यात्मक या सर्वथा आध्यात्मिक रूप में सामने आया है वहां मीरा का 'प्रिय' इससे कुछ भिन्न भी है। उसका नारी हृदय अपने 'पिया' के उस विश्वविमोहन सौन्दर्य को निराकार रूप में कम और साकार रूप में अधिक देखता है। इसीलिए जहां इतर सन्त-काव्य साधु-सन्तों, भक्तों एवं विद्वानों की सीमा में ही परिसीमित रहा, वहाँ मीरा के काव्य ने अधिकतर लोक-मानस को अपना आश्रय बनाया।

वह अलौकिक होते हुए भी लौकिक तत्वों से इतना सराबोर है कि हम कभी कभी उसके अलौकिक रूप को भूल ही जाते हैं और उसके लौकिक पक्ष में ही पूर्णतया रम जाते हैं। 'घायल की गति घायल जाने जो कोई घायल होई' के द्वारा अपनी मार्मिक व्यथा को अभिव्यक्त करने वाला लौकिक प्रेमी यह सर्वथा भूल ही जाता है कि मीरा ने इसे किसी और संदर्भ में कहा था। यही तो है वह लोकतत्व जो सीधे ही लोकमानस को अपना लक्ष्य बनाता है।

जब वह अपने को 'सुहागण नार' कहती है और 'सोलह सिंणगार' की बात करती है तो हम क्षण भर के लिए यह भूल ही जाते हैं कि वह आध्यात्म लोक की बातें कर रही है। ये दोनों ही शब्द हमारे लोक साहित्य के इतने परिचित हैं कि इनकी ध्वनि-मात्र ही हमें उस लोक में ले जाती है जहां कोई मुग्धा ग्रामवधूटी या तो 'पिया मिलन को जा रही है' या उसकी प्रतीक्षा में 'पलक पाँवड़े बिछाए बैठी है।'



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


यहां एक और प्रतीक को भी स्पष्ट कर देना उचित होगा। मीरा ने स्थान स्थान पर इस बात का संकेत किया है कि प्रियतम से मिलन में जहां जहां भी उसके मार्ग में बाधा पड़ी या कठिनाई उपस्थित हुई वहां वहां 'सतगुर' ने उसकी सहायता की जिससे उसका मिलन सरल हो गया। (१९७)। ठीक इसी रूप में लोककाव्य में इसकी स्थानापन्न होती है 'दूती'। जिसका कार्य होता है 'प्रियमिलन' की दिशा में नायिका की सहायता करना, उसकी विघ्न-बाधाओं को दूर करना, आदि।

मीरा के गीतों में प्रेमाख्यानक काव्य के 'पूर्वराग', 'विरह' और 'मिलन' के वे सभी रूप मिलते हैं जिनका कि उसमें प्रधान रूप से वर्णन होता है। पूर्वराग के रूप में मीरा ने बार बार अपने प्रिय 'गिरधरलाल' के 'नखशिख' का ऐसा साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है कि लगता है उसका प्रेमी हृदय वर्णन करते हुए अघाता ही नहीं। वस्तुतः बात भी कुछ ऐसी ही है। भला ऐसी कौन प्रेमिका होगी जो अपने प्रेमी के रूप-माधुर्य का वर्णन कर तृप्त हो जायगी? प्रेम की पराकाष्ठा तो देखिए; उस प्रियतम को पुकारने लगती है 'निरमोहिया' कह कर। यह 'निरमोहिया' शब्द लोक साहित्य का कितना परिचित तथा भावाभिव्यंजक शब्द है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। कभी वह उस 'निरमोही' को लोकभाषा में ही 'ओ जोगी' कह कर सम्बोधित करती है—मत जा, मत जा, मत जा जोगी पाव पड़ूँ मैं तोरे—और फिर उसे पाने के लिए स्वयं भी जोगन बन जाने की बात कहने लगती है (९४, ११८)। प्रियजन की खोज में जोगी बन जाने की बात भारतीय लोककथाओं एवं लोकगीतों में बराबर पाई जाती है। मीरा के पदों में इस भाव की अनेक बार पुनरावृत्ति हुई है—

**तोरे कारण जोगण बनूंगी, दूंगी नगर बिच फेरी॥९४॥**
**माला मुंदरा मेखला रे बाला खप्पर लूंगी हाथ।**
**जोगणि होय जुग जुग ढूंढ सूं, रे म्हारा रावलियारी साथ॥११८॥**

सहसा याद हो आती है हिन्दी लोकगीत की उन पंक्तियों की जब कोई नायिका अपने 'जोगिया' प्रियतम को पाने के लिए कहती है—"सैयां तोरे कारन जोगन बन जाऊँगी।"

वस्तुतः मीरा के काव्य में सबसे अधिक लोकतत्व उभरा है, उसके विरह-गीतों में। जरा इस गीत की शब्दावली देखिए—

**राम मिलण रो घणो उमावो, नित उठ जोऊँ बाटड़ियाँ।**
**दरसण बिन मोहि पल न सुहावै, कल न पड़त है आँखड़ियाँ।**
**तलफ तलफ के बहु दिन बीते, पड़ी विरह की फाँसड़ियाँ।**
**अब तो वेगि दया कर साहिब, मैं हूँ तेरी दासड़ियाँ।**
**नैन दुःखी दरसण को तिरसैं, नाभि न बैठे साँसड़ियाँ।**
**रात दिवस तह आरत मेरे, अब हरि राखे पासड़ियाँ।**
**लगी लगन छूटण की नाहीं, अब क्यों कीजै आटड़ियाँ।**
**मीरा के प्रभु गिरधर नागर, पूरो मन की आसड़ियाँ।**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


इसमें प्रयुक्त बाटड़ियाँ, साँसड़ियाँ, आसड़ियाँ, आदि शब्द कितने प्यारे तथा लोकवाणी के कितने निकट हैं यह तो स्वयं संवेदन हैं। इसी प्रकार के एक और गीत की पंक्ति देखिए —

**प्रभुजी कहाँ गयो नेहड़ो लगाय।**
**छोड़ गयो विश्वास संगाती, प्रेम की बाती बराय॥**

इस पद में 'नेहड़ो' और 'विश्वाससंगाती' शब्द केवल मधुर भाव-व्यंजक नहीं हैं अपितु हमारे लोककाव्य के उन इने-गिने शब्दरत्नों में से हैं जो कि लोकसाहित्य पर छाये हुए हैं। 'नेहड़ो' जैसा शब्द सुनते ही कानों में किसी लोकगीत की ध्वनि सी झंकृत हो उठती है और 'विश्वास-संगाती' शब्द तो अनुपम है, इस गीत की जान है। इसी प्रकार के कुछ अन्य घरेलू सम्बोधन जो मीरा के पदों में यत्र-तत्र सुनाई देते हैं वे हैं—सैयां, साजन, पिया, राजा, जोगी, धणी, भवन, पति आदि, लोकगीतों की नायिकाओं द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले ये सभी सम्बोधन क्या लोक साहित्य की अमूल्य निधि नहीं हैं ? क्या शिष्ट साहित्य में इन अनगढ़ हीरों को भी स्थान मिला ! हम कह सकते हैं कि मीरा के काव्य की आत्मा ही नहीं अपितु उसका एक एक शब्द बोलता है कि वह शिष्ट काव्य की नहीं अपितु लोककाव्य की निधि है, भले ही शिष्ट काव्य उस पर अपने छाप लगाने का कितना ही व्यर्थ प्रयास करे।

लोक और शिष्टकाव्य में एक विशेष अन्तर यह भी है कि लोककाव्य में अभिव्यक्त भावों का वक्ता के साथ तादात्म्य होता है, जब कि शिष्टकाव्य में वे काल्पनिक भी हो सकते हैं। अर्थात् लोककाव्य में अभिव्यक्त किसी नारीगत भावना या उक्ति का उद्‌गम अवश्य ही कोई नारी हृदय होगा, जिन्हें उसने किसी तीव्र अनुभूति के क्षणों में अनुभव कर तदनुकूल शब्दावली में अभिव्यक्त किया होगा, और इसी प्रकार पुरुषगत उक्ति का मूल भी कोई पुरुष हृदय ही होगा, इसीलिए लोककाव्य की अभिव्यक्तियों में अधिक स्वाभाविकता, अनुभूति की तीव्रता एवं अन्तस्तल तक पैठने की क्षमता होती है। किन्तु शिष्ट काव्य में प्रायः ऐसा नहीं होता। इसीलिए शिष्ट काव्य में जहां नारीगत भावों के चित्रण का अवसर आता है वहां वे या तो अतिरंजित हो जाते हैं या न्यून। क्योंकि पुरुष कभी तो मातृत्व की श्रद्धा में और कभी कामिनीत्व की वासना में यथार्थ को भूल जाता है, यही कठिनाई मधुर भाव के अन्य उपासकों के विषय में भी देखने में आती है। जहां पुरुष भक्त कवियों को माधुर्य भाव की उपासना में कृष्ण या परमात्मा को पति मानकर अपने ऊपर स्त्रीभाव का काल्पनिक आरोप करने एवं तद्वत् काल्पनिक अनुभूतियों का प्रदर्शन करने की कठिनाई रही तथा इसी कारण उसमें कुछ कृत्रिमता की गन्ध भी आई, वहां मीरा को स्वयं स्त्री होने के कारण अपने आपको किसी विशेष अवस्था में रखने का प्रयत्न नहीं करना पड़ा। वह माधुर्य भावगत सभी स्त्री-सुलभ बातों की स्वाभाविक अनुभूति कर लेती थी और तदनुकूल शब्दावली में स्वाभाविक रूप से उसे अभिव्यक्त कर डालती थी। इसीलिए तो उनके गीतों में लोकगीतों की सी स्वाभाविकता, सजीवता एवं हृदयतल तक पैठने की क्षमता है।

मीरा के इन गीतों में कहीं कहीं उन कथा-गीतों का भी स्वरूप मिलता है जिनमें बताया



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जाता है कि कोई नायिका कहीं किसी खेत या कुएं आदि पर एकाकी खोई सी खड़ी है और वहां से गुजरने वाला कोई परदेशी उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करता हुआ उससे पूछता है—तू कौन है, किसकी स्त्री है, यहां क्यों अनमनी सी खड़ी है ? क्या तुझे पीहर की याद सता रही है या तेरी सास ने तुझसे कुछ बुरा-भला कहा है ? इत्यादि । और प्रायः होता यह है कि प्रथम वह उस बटोही को यह कह कर झिड़क देती है 'ए बटोही तू जा अपने रास्ते, तुझे मेरे दुःख सुख से क्या लेना?' (बाद में वही या तो उसका प्रियतम निकल आता है या उसकी दुःखगाथा को सुनकर उसे कुछ उपाय बता देता है।) इस प्रकार के एक लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए —

**बड़े घरां दी धीय, गली बिच क्यों खड़ी ।। हाय राम ।।**
**क्या तेरा पिया परदेश, क्या तेरी सास बुरी,**
**चला जा रे असल गँवार तुझे मेरी क्या पड़ी ।। हाय राम ।।**
**ना मेरा पियां परदेश ना मेरी सास बुरी ।। हाय राम ।।**

और बिल्कुल इसी की परछाईं लिए हुए देखिए मीरा का एक पद—

**इण सरवरिया री पाल, मीरा बाई साँपड़े ।**
**साँपड़ किया असनान, सूरज सामी जब करे ।**
**होय विरंगी नार डगरा बिच क्यूं खड़ी ।**
**काँई थारो पीहर दूर, घराँ सासू लड़ी ।**
**चल्यो जा रे असल गँवार तन्ने मेरी के पड़ी ।**
**गुरु म्हारा दीनानाथ हीराँ रा पारखी ।।१२०।।**

लोकगीत परम्परा का एक महत्वपूर्ण अंग है बारहमासा । इसमें प्रायः विरहिणियाँ प्रत्येक महीने में होने वाली अपनी विभिन्न वियोग-व्यथाओं का वर्णन करती हैं, मीरा के भी निम्न पद से इसी की ध्वनि निकल रही है—

**पिया मोहि दरसण दीजै हो ।**
**जेठ महीने जल बिना पंछी दुःख होई हो ।**
**मोर असाढ़ कुरलहैं घन चालग सोई हो ।**
× × × ×
**चैत चित ऊपजी दरसण तुम दीजै हो ।**
**वैसाख बन राई फूलवै, कोइल कुरलीजै हो ।।११६।।**

सास ननद के शिकवे भी लोकगीतों का एक प्रिय विषय है। जब नायिका अपने नायक के रंग में रंग जाती है और रात दिन उसी के प्रेम में मस्त रहने लगती है तो सास ननद ही उसके मिलन-मार्ग में बाधक रूप में चित्रित की जाती हैं, वे उससे बुरा-भला भी कहती हैं—



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सास लड़ै मरि ननद खिजावै, राणा रह्या रिसाय,
लोग कहें मीरा भई री बावरी सास कहै कुलघाती।

इसी प्रकार लोकगीतों की वधुओं को यह भी शिकायत करते सुना जाता है कि 'वहां मेरे जेठ बैठे हैं, वहां ससुर बैठे हैं, मैं साजन से मिलने कैसे जाऊँ' इत्यादि। जैसे एक हिन्दी गीत की पंक्तियां हैं—

मेरे राजा की अलग अटरिया, मिलन जनै कब होगा।
आधी सी रात, पहर का तड़का, मिलने चली अटरिया।।मिलन०।।
जैसे ही मैंने पैर बढ़ाया तो आ गई सास बुढ़रिया।
ललना दे मैंने सासू जी भेजी, तो आ गई जुलम जेठनिया।।मिलन०।।

कुछ इसी प्रकार की मिलन-बाधा की बात मीरा के गीतों में भी पाई जाती है। एक गीत में वह कहती हैं—

गगन मंडल में सेज पिया की किस विध मिलणा होय।

तथा एक दूसरे गीत में कहती हैं—

गली तो चारों बन्द हुई मैं हरि से मिलूं कैसे जाइ।
ऊँची नीची राह लपटीली पाँव नहीं ठहराय।।
सोच सोच पग धरूँ जतन ते बार बार डिग जाइ।
ऊंचा नीचा महल पिया का हम से चढ्या न जाइ।।१९३।।

परदेश को जाते हुए प्रियतम से प्रथम तो रुक जाने की अनुनय-विनय तथा पुनः न मानने पर अपने हाथ से वियुक्त होने से पूर्व प्राणों से वियुक्त कर जाने की विनती लोकसाहित्य के परिचित रूपों में से है। जैसे एक हिन्दी लोकगीत में देखिए—

सुन या नीके भरतार, छोड़ के मत जइयो।
या मैंने जइयो जान से मार, फेर मत अइयो।।

ठीक ऐसी ही एक झाँकी मिलती है मीरा के इस कथन में भी—

मत जा, मत जा, मत जा, जोगी पाँय परूँ में तोरे।
प्रेम भगति को पैड़ो ही न्यारो, हम कूँ गैल बता जा।
अगर चन्दन की चिता बनाऊं, अपणे हाथ जला जा।।
जल बल भई भसम की ढेरी अपणे अंग लगा जा।।५०।।

इस पद में 'अगर चन्दन की चिता' जैसी शब्दावली शुद्ध लोककाव्य की शब्दावली है। जिस प्रकार लोकगीतों में भोजन के लिए थाली सोने की ही होगी और सोने के गड़वे में गंगाजल



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



होगा उसी प्रकार वह घर के किवाड़ भी चन्दन की ही लकड़ी के होंगे और यदि चिता के लिए लकड़ी की जरूरत पड़ेगी तो वह भी अगर या चन्दन की ही होगी।

मीरा अपने जीवन में इन लोकगीतों से भली-भांति परिचित रही ही होगी। इसलिए अवसर आने पर उसने उन्ही प्रतीकों एवं उसी शैली के सहारे अपने अलौकिक स्नेह की भी अभिव्यक्ति कर डाली।

किसी लोकगीत की 'गोरी' के द्वारा अपने परदेशी 'पिया' को पत्र लिखने और उत्तर न पाने का शिकवा मीरा के इन गीतों में देखिए—

**लिख लिख पतियाँ संदेशा भेजूं, कब घर आवै म्हारो पीव॥१२३॥**

× × × ×

**आप नहि आवै लिख नहि भेजे, बाण पड़ी ललचावण की॥१२२॥**

× × × ×

**मेरे प्रियतम प्यारे राम कूं लिख भेजूं रे पाती॥**
**स्याम सनेहो कबहुँ न दीन्हौं जानि बूझ गुझवाती॥१४२॥**

और दूसरी ओर अपने हृदय में ही अपने 'साजन' की मूर्ति को लिए फिरने वाली एक लोकनायिका यदि—

**पाती ताको भेजिए, जो होवे परदेस।**
**जो निशि दिन दिल में रहे, ताको कहा संदेस॥**

कहती है तो मीरा भी उसी के स्वर में स्वर मिला कर कहती है—

**जिनके पिया परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजें पाती।**
**मेरे पिया मेरे हीय में बसत हैं, यह सुख कह्यो न जाती॥**

ध्यान देने की बात है कि इनमें से एक अभिव्यक्ति का सम्बन्ध लौकिक स्थूल प्रेम से है और दूसरी का अलौकिक प्रेम से किन्तु अभिव्यक्ति की समता दोनों में ऐसी है कि कोई अन्तर ही नहीं दिखाई देता।

अब इसके साथ ही लगे हाथ लोककाव्य की नायिकाओं तथा मीरा के पत्र-लेखन की समता भी देख लीजिए, उधर एक ग्राम दोहे में एक नायिका की दशा देखिए—

**कागज भीजत नैन जल, कर काँपत मसि लेत।**
**पापी विरहा मन बसो, विथा लिखन नहि देत॥**

और इधर मीरा की भी सुनिए, क्या कहती है—

**पतियां कैसे लिखूं लिख ही न जाय॥टेक॥**
**कलम भरत मेरो कर कंपत, हियड़ो रहा धर्राई।**
**बात कहूँ मोहि बात न आवै, नैण रहे झर्राई॥७७॥**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



वियोगिनी नायिकाओं द्वारा 'काक उड़ाना' पंडितों को प्रियतम के आने के बारे में पूछना आदि बातें भी लोकगीतों के प्रिय विषय हैं। किसी ग्रामगीत की एक नायिका कहती है—

**कोरा सा कागद मेरे हाथ पंडित पूछन मैं चली, मेरे राम।**
**कहो तो पंडत कुछ मन की बात, कब घर आवें मेरे लसकरी—मेरे राम॥**

तो दूसरी कहती है—

**स्याम दरस को नैन तरस गए, पल पल युग सम बीत रहे।**
**काक उड़ावत दिवस कटत हैं, गिन गिन तारे रैन कटे॥**

और इन दोनों रूपों को एकत्र देखिए मीरा में—

**काग उड़ावत दिन गया, बूझ पिंडत जोसी हो।**
**मीरा विरहिण व्याकुली, दरसण कब होसी हो॥११६॥**

इसी के साथ उसी लोकस्वर में प्रिय के झूठे वायदे के प्रति एक शिकायत मीरा के शब्दों में सुन लीजिए—

**सावण आवण कह गया बाला, कर गया कौल अनेक।**
**गिणता गिणता घिस गई रे म्हारा आँगलियाँ री रेख॥**

प्रिय के वियोग के दिनों को गिनते गिनते अंगुलियों के पोरुओं की रेखाएँ घिस जाने की कल्पना लोकगीतों की चिर-परिचित कल्पना है। मीरा ने इसे सीधे वहीं से लिया है।

लोकगीत परम्परा का एक बहुत ही प्रचलित रूप है पक्षियों द्वारा अपने परदेशी बालम के पास संदेश भेजना। अपनी विरह-व्यथा कहलवाना और इस सेवा के पुरस्कार में उनकी चोंच सोने से और पंख चांदी से मढ़वाने का प्रलोभन देना। मीरा के गीतों में लोककाव्य का यह रूप भी इसी रूप में उभरा है, एक गीत में वह कौवे से कहती है—

**प्रीतम कों पतियां लिखूं कउवा तू ले जाई।**
**जाइ प्रीतम जी सूं यूं कहे रे, थारी विरहिणि धान न खाई॥८४॥**

और पपीहे से कहती है:—

**थारा शबद सुहावण रे, जो पिव मेले आज।**
**चाँच मढ़ागी थारी सोवनी, तू मेरे सिरताज॥८४॥**

प्रिय वियोग में वियोगिनी को कोयल की कूक, मोर की केका और पपीहे की पीउ, पीउ



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सभी कुछ पीड़ा देने वाली लगती है। यह भाव यद्यपि शिष्ट साहित्य एवं लोकसाहित्य दोनों में ही समान रूप से पाया जाता है किन्तु इसकी जितनी सफल एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक साहित्य में हुई है उतनी शिष्ट साहित्य में नहीं। मीरा भी एक स्थान पर पपीहे को सम्बोधित करके कहती है—

**रे पपइया प्यारे कब को बैर चितार्‌यौ॥टेक॥**
**मैं सूती छी अपणे भवन में, पिव पिव करत पुकार्‌यौ।**
**दाध्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़ो करवत सार्‌यो॥८३॥**

इसी प्रकार 'अमुवाँ की डारी में कोयलिया बोलै' जैसी लोकगीतों की प्रतिध्वनि उनके निम्न गीत में सुनाई देती है —

**डारि गयो मन मोहन पासी।**
**आँबा की डारि कोइल इक बोले, मेरो मरण अरु जग केरी हांसी॥६७॥**

विरहिणी लोक नायिकाओं के स्वर में एक कारुणिक भावना जो यत्र-तत्र देखने को मिलती है वह है कौवे को अपना मांस खिलाने की बात। एक प्रसिद्ध लोक दोहा है—

**कागा सब तन खाइयो, चुन चुन खाइयो मास।**
**ये दो नैना मत खाइयो, पिया मिलन की आस॥**

इसी भावना से युक्त मीरा के एक गीत की पंक्ति हैं—

**काढ़ि कलेजो मैं धरूं रे कौवा तू ले जाई।**
**ज्याँ देसाँ म्हारो पीव बसै, रे वे देखें तू खाई॥७४॥**

इस प्रकार की उक्तियां लोक-भावना की ही प्रतीक हैं।

मीठी मीठी बातों में फंसा कर प्रेम का रोग लगाकर चले जाने वाले परदेशी के प्रति किए जाने वाले उलाहने के स्वर भी मीरा में वही हैं जो कि साधारणतया लोकगीतों में पाए जाते हैं—

**जोगियारी प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल॥टेक॥**
**हिल मिल बात बणावत मीठी, पीछे जावत भूल।**
**तोड़त जेज करत नहिं सजनी, जैसे चँपेली के फूल।**
**मीरा कहे प्रभु तुमरे दरस बिन, लागत हियड़ा में सूल॥५८॥**

और तो और मीरा के गीतों में वह स्वर भी नहीं छूटने पाया है जो कि नायक को किसी अन्य नायिका के प्रति आकर्षित होते देख उसे सहन न कर सकने वाली नायिका में देखा जाता है, कहीं तो वह आमने सामने उलाहना देती है—



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**जावो निरमोहिया जाणों तेरी प्रीत।**
**लगन लगी अदि प्रीत और ही, अब कुछ और ही रीत ॥६०॥**

तो कहीं इस बात की शिकायत की जाती है कि आजकल तो कन्हैया किसी और के ही चक्कर में घूम रहे हैं। इस प्रकार उस गोपी के प्रति सौतिया डाह की ईर्ष्या प्रकट की जाती है जिसे कि स्याम का प्यार प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। इन पंक्तियों में मीरा का कौन सा रूप झलकता है —

**स्याम म्हासूँ एड़ो डोले हो, औरन सूं खेले धमाल।**
**म्हासूं मुखहि न बोले हो, स्याम म्हासूं मुखहि न बोले।**
**म्हारी गलियां ना फिरे, वाके आगण डोले, हो।**
**म्हारी अगुली ना छुवै, बाकी बहियाँ मोरे, हो।**
**म्हारो अँचरा ना छुवै, वाको घूघट खोले, हो।**
**मीरां के प्रभु साँवरो रंगरसिया डोले, हो ॥१८२॥**

इस गीत से यदि मीरा का नाम हटा दिया जाय तो यह विशुद्ध लोकगीत बन जायेगा। क्योंकि लोकगीतों की नायिका भी रसिकवर कृष्ण और गोपियों के ही रूप में अपने भावों की अभिव्यक्ति करती हैं। जिस प्रकार पंजाब की प्रत्येक लोकगीत की नायिका अपने को 'हीर' और अपने रसिया को 'रांझां' के आवरण में रखना चाहती है वैसे ही हिन्दी प्रदेश की प्रत्येक लोक-गीत की नायिका अपने को 'राधा' और अपने साजन को 'स्याम' के रूप में रखती है।

इतना ही नहीं इस गीत के अन्त में पाई जाने वाली 'हो 'हो' की पुनरावृत्ति इसे विशुद्ध लोकतत्व से युक्त कर डालती है जो कि व्रज या राजस्थान के गीतों में अधिकतर पाया जाता है।

मीरा के गीतों में व्यक्त मरणोपाय भी प्रायः वही है जो कि लोकसाहित्य में पाये जाते हैं। एक स्थान पर वियोगिनी मीरा कहती है—

**लेई कटारी कंठ सारू, मरूंगी विष खाइ।**
**मीरा दासी रामराती, लालच रही ललचाइ ॥६८॥**

प्रिय की प्रतीक्षा की व्याकुलता, उसकी राह देखते देखते आंखों का लाल हो जाना आदि भाव भी मीरा में लोककाव्य की ही पद्धति पर अभिव्यक्त हुए हैं —

**डगर बुहारू पंथ निहारूं, जोइ जोइ अखियां राती।**
**रात दिवस मोहि कल न परत है, हीयो फटत मेरी छाती ॥१४२॥**

मीरा की पदावली में ऐसे गीतों की भी कमी नहीं है जिन्हें कि हम ऋतु गीत के नाम से संकेत करते हैं। इनमें से वर्षा और वसन्त से सम्बन्धित गीत ही अधिकतर पाए जाते हैं। यहां इस विषय में इतना जान लेना आवश्यक होगा कि जहां अलंकृत काव्य अथवा रीति काव्य



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


में छहों ऋतुओं का वर्णन समान रूप से पाया जाता है वहां लोककाव्य में वर्षा और वसन्त का ही। क्योंकि मीरा ने रीति-परम्परा को नहीं अपितु लोक-परम्परा को अपनाया था। अतः उसके ये ऋतु-गीत भी इन्हीं दो विषयों पर केन्द्रित रहे हैं और इनकी वर्णन-पद्धति प्रायः वही है जो कि लोकगीतों की है। जैसे एक वर्षा-गीत में मीरा कहती है—

मतवारो बादर आए रे, हरि को संदेसो कबहु न लाए रे।
दादर मोर पपइया बोले, कोयल शबद सुणाए रे।
कारी अँधियारी बिजली चमकै, विरहिणि अति डरपाए रे।।

इसीका प्रतिरूप देखिए, विभिन्न लोकगीतों की इन पंक्तियों में—

महीना सावन का आया, पिया परदेशों में छाया।
रिमझिम रिमझिम मेघा बरसै, पल भर चैन न आए।।

× × ×

सावन के महीना पपीहा बोले, सूनी मेरी सेज हिया डोले।
भादों में बादर आए गरज के, रैन अंधेरी पिया मर जाऊँ डर के।।

वसन्तगीत या होलीगीत भी लोकगीतों की एक अविच्छिन्न परम्परा है, प्रधानतया वियोग-वर्णन ही इन गीतों का स्वर होता है। नायिका को इस बात की शिकायत करते सुना जाता है कि वसन्त आ गया किन्तु मेरा परदेसी बालम नहीं आया, मैं होली कैसे खेलूं। जैसे—

लागा रंग रंगीला फागुन, मोहन कर गए मुझको त्यागन।
होली खेलें सब बड़भागी, बिरज में गहरी धूम मचाय के।
गावैं और बजावैं खुशी साजन की मनावें।
कौली भरै अबीर उड़ावैं, सोवैं सजनी सेज बिछाय के।
जो घर होते जी गोपाल मैं भी लाती रंग गुलाल।
कपड़े करती सब रंग लाल अब क्या होवे पछिताय के।।

कुछ इसी प्रकार के विरहोद्‌गारों से संवलित हैं, मीरा के गीत भी—

होली पिया बिन लागै खारी, सुनो री सखी हमारी।
सूनो गांव देस सब सूनो, सूनी सेज अटारी।
सूनी विरहिन पिव बिन डोलै, तज दइ पीव पिआरी।।७८।।

× × ×

होली पिया बिन मोहि न भावै, घर आंगन न सुहावै।
दीपक जोय कहा करूं हेली पिव परदेश रहावै।
सूनी सेज जहर ज्यूं लागै, सुसक सुसक जिय जावै।।७९।।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मीरा के मिलन-गीतों में भी वही नायक की 'छेड़छाड़' और वही नायिका का 'कृतक कोप' पाया जाता है जो कि साधारणतया लोकगीतों में पाया जाता है, जैसे—

छाँड़ो लंगर मोरि बहियां गहो ना ।।टेक।।
मैं तो नार पराये घर की मेरे भरोसे गुपाल रहो ना।
जो तुम बहियाँ गहत हो नयन जोर मोरे प्राण हरो ना।
वृन्दावन की कुंज गलिन में रीति छोड़ि अनरीति करो ना ।।१७३।।

अन्त में हम मीरा के गीतों की प्रतिध्वनि लिए हुए उस गीत को भी लिखने के लोभ का संवरण नहीं कर सकते जिसने कि हमारा ध्यान इस विषय की ओर खींचा और प्रेरणा दी प्रस्तुत अध्ययन के लिए। गीत पंजावी भाषा का है—

नी लै दे माइए, कालिआ बागां दी मींहदी।
गली गली मैं पत्तर चुनैंदी, लोक कींहदे मसतानी ।।नीलै दे०।।
ना मैं मसतानी ना मैं दिवानी, लग्ग गई इशक दे कानी।
घोल मींहदी मैं हत्था ते लानीआं, बहुटड़ी बण बण बींहदी ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा, भाव और टेकनीक सभी दृष्टियों से मीरा का काव्य लोककाव्य के अति निकट है। मीरा ने अवश्य ही अपनी आत्मानुभूति का निदर्शन लोकभाषा और लोककाव्य की पृष्ठभूमि पर उसी के आवरण में किया है इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। दोनों के बीच में यदि कोई विभाजक रेखा खींची जा सकती है तो वह है 'रसान्तर', जहां लोकगीतों का आधार स्थूल लौकिक होने से उनमें शुद्ध शृंगार रस पाया जाता है वहां मीरा के गीतों का आधार इन्द्रियातीत अलौकिक होने से 'माधुर्य'। यद्यपि शृंगार भी अपनी पराकाष्ठा पर मधुर रस में ही परिणत हो जाता है।[1]

---

१. इस लेख में उद्धृत--पद तथा संख्या हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'मीराबाई की पदावली' के आधार पर दी गई है।--लेखक



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**श्री प्रशांतकुमार जायसवाल एम० ए०**

# शकों का जातीय परिचय और भौगोलिक स्थिति

भारत-भूमि प्राचीन काल से ही अनेक जातियों के आगमन का लक्ष्य रही है। अनेक जातियां इस देश में संक्रामक अथवा आक्रामक के रूप में आईं और काफी हद तक अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल भी हुईं। पर इस मिट्टी में अपनी एक विशेषता भी रही है और वह है सबको आत्मसात करने की प्रवृत्ति। सब आकर यहां एक ही रंग में रंग गए और पृथकत्व में एकत्व का अपना ऐसा अपूर्व उदाहरण बना गए, जो विश्व के इतिहास में अद्वितीय है। अतः आज की जनता में से शकों को ढूंढ़ निकालना कठिन है।

## शकों का स्रोत

बाहर से आने वाली इन जातियों में शक भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त और जो जातियां विशेष महत्व रखती हैं वह हैं यवन और पह्लव। भारतीय प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में हम इन तीनों का वर्णन पाते हैं। शकों का उल्लेख अधिकतर यवनों के साथ ही है। भारतीय साहित्य में शकों का वर्णन रामायण[1], महाभारत[2], मनुस्मृति[3], वायुपुराण[4], मत्स्यपुराण[5], ब्रह्माण्डपुराण[6],

----------

१. (क) भूय एवासृजद्घोरान् शकान् यवनमिश्रितान्।
तै रासीत्संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ॥बालकाण्ड, ५४, २१
(ख) योनिदेशाच्च यवनाः शकृद्देशाच्छकास्तथा ॥वही, ५५, ३
(ग) काम्बोजान् यवनांश्चैव शकानारट्टकानपि॥ वहीं ४३, १२

२. (क) तुषारा यवनाश्चैव शकाश्च सह चूचुपैः॥ भीष्मपर्व, ७५, २१
(ख) शकास्तुषारा यवनाश्चसादिनः, सहैव काम्भोजवर्रेजिघांसव ॥कर्णपर्व, ९४,१६
(ग) उदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च॥ उद्योगपर्व, १५८, २०

३. वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेनच।
पौण्ड्रकाश्चौड्र द्रविड़ाः काम्बोजा यवनाः शकाः॥मनु० १०, ४३-४४

४. वायुपुराण, अध्याय ८८

५. सप्तगर्दमिला भूयो, मोक्ष्यंतीमां वसुन्धरास।
शतानि त्रीण्डशीतिं च शका ह्यष्टादशैव तु॥मत्स्य०

६. शतानि त्रीण्यशीतिं च मोक्ष्यन्ति वसुधां शकाः। ब्रह्माण्ड
——डाइनेस्टीज आफ दि कलि एज, पृ० ४७, ७२



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पाणिनि[१], कात्यायन[२], पतंजलि[३], नाट्यशास्त्रादि में हम पाते हैं। साहित्य के अतिरिक्त अभिलेखों में भी इनका वर्णन आया है। वासिष्ठीपुत्र श्री पुलोमावी[४] और समुद्रगुप्त[५] की प्रशस्तियों में हम उनका उल्लेख पाते हैं, साथ ही मथुरा-सिंह मस्तक-अभिलेख तथा कदम्ब मयूरशर्मण के चंद्रवल्ली प्रस्तर अभिलेख[६] में भी इनका वर्णन प्राप्त होता है।

मध्य एशिया में निवास करने वाली सीथियन जाति के शाखा-रूप से विद्यमान शकों का वर्णन हम बेहिस्तून, हखमनी साम्राज्य के अभिलेख, पर्सिपोलिस तथा ईरानी सम्राट दारा के अभिलेखों में पाते हैं।[७] हेरोडोटस का इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत है कि सीथियन लोग दारा के पूर्व ही मिड्स को जीतकर एशिया के स्वामी हो गए थे।[८] उनके द्वारा वहां पर निश्चित प्राप्त सूचना का भी उल्लेख किया गया है और वह यह है कि सीथियनों में इस परम्परा की विद्यमानता थी कि उनके प्रथम सम्राट से लेकर ईरानी सम्राट दारा के आक्रमण तक का समय पूर्ण-रूपेण १००० वर्ष का था।[९] दारा के सम्बन्ध में निर्धारित तिथि ५२६-४८६ ई० पू० मानी जाती है।[१०] इस प्रकार यदि हेरोडोटस को प्राप्त तथा उसके द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त सूचना पर हम विचार करें तो इतिहास के रंगमंच पर शकों की स्थिति १५०० ई० पू० से पहले ही हो जाती है।[११]

श्री सत्यश्रव जी ने शकों पर लिखी हुई अपनी पुस्तक में यह विचार व्यक्त किया है कि महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि दुर्योधन की ओर से शक सैनिकों ने भी युद्ध में भाग लिया था।[१२] महाभारत का समय श्री पी० सी० सेनगुप्त महोदय द्वारा निर्धारित २४०० ई० पू० मानते

---

१. अष्टाध्यायी, ४।१।१७५, ४।३।९२, ५।४।३८
२. अष्टाध्यायी के १।१।६४ पर वार्तिक--शकन्ध्वादिषु पर रूपो वाच्यम्।
३. पतंजलि द्वारा व्यवहृत शक--यवन समास--अष्टाध्यायी सूत्र संख्या २-४-१०
४. एपि० इं०, खण्ड ८ नासिक गुहाभिलेख नं० २, पृ० ६०
५. समुद्रगुप्त का इलाहाबाद स्तम्भ लेख, सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन, पृ० २५८
"देवपुत्रषाहि षाहानुषाहिशकमुरुण्डेः।"
६. एपि० इं०, खं० ९, पृ० १३५--"सर्वस सकस्तनस पूयए"।
७. मे० आर्के० सर्वे ए० रि० १९२९, पृ० ५०
कदंबाण मयूरशम्भण विनिम्भि अं
तटाकं (कुट) तेकूड--अमिर-पल्लव-परि
योतिक-सकस्थन सयिन्यक-पुणड-मोकरिण॥
८. सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन, डी० सी० सरकार, सं० १, पृ० ४-११
९. हेरोडोटस अनु० जी० रालिन्सन, भाग १, अनुच्छेद १०४।
१०. वही, भाग २, अनुच्छेद ११०।
११. दि शकाज इन इण्डिया, सत्यश्रव, पृ० २।
११. दि शकाज इन इण्डिया, ,, ,, ४-५।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हुए उन्होंने इस तथ्य को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि भारतीय इतिहास को शकों का ज्ञान २४०० ई० पू० से ही है। पर महाभारत की इस तिथि को सभी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। अतः इस विषय में कुछ निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि महाभारत का काल २४०० ई० पू० है या भारतीय इतिहास को शकों का परिज्ञान २४०० ई० पू० से ही है।

## "शक" नाम पड़ने का कारण

शक, "शक" क्यों कहलाए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। ग्रीक लेखकों द्वारा इस प्रश्न का विवेचन नहीं किया गया है, पर विभिन्न पुराणों के अध्ययन से इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है, जिसका अवधारण अन्य तथ्यों से करना होगा। वायु तथा मत्स्य पुराण में ऐसा वर्णन हम पाते हैं कि शकों का निवास-स्थान नदियों के जाल से अवछिन्न था और उनकी शाखाओं की आकृति शक अथवा साखू के वृक्ष-सदृश थी।[1] भारत में 'शक' के लिए अभी भी सागवान शब्द व्यवहृत होता है और हम स्पष्टतया देखते हैं कि इसकी व्युत्पत्ति मूल "शक" शब्द से है। मत्स्य-पुराण में हम इस विवरण का उल्लेख पाते हैं कि शकों के निवासस्थल में शक नामक एक पर्वत विद्यमान था, अतएव उनका नामकरण शक हुआ।[2] ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि इस पर्वत पर शक वृक्ष भी बहुत रहे हों और इसी से यह पर्वत शक संज्ञक हुआ हो। विभिन्न संस्कृत कोशों में शक शब्द का अर्थ वृक्ष,[3] द्वीप,[4] क्षत्रिय,[5] देश,[6] एक विशेष जाति[7] तथा राजा[8] दिया हुआ है। मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोश में शक का अर्थ एक पशु विशेष लिखा है तथा इसके स्त्रीलिंग का अर्थ एक पक्षी, मक्षिका अथवा लम्बे कान वाला पशु दिया है।[9] हम इससे यह कल्पना तो अवश्य कर सकते हैं कि संभव है कि कान लम्बे होने के कारण ही उनका "शक" नामकरण हुआ हो।

---

**१. वायु पुराण, अध्याय ४९, ८८ तथा ८९।**

**२. मत्स्यपुराण, १२३, ३६।**

**३. विश्वप्रकाश कोश, पृ० ५, श्लोक ३५।**

**४. वही, नानार्थ शब्द कोश, पृ० ३, श्लोक ३६। नानार्थ संग्रह, पृ० ८७, श्लो० ३६, मद्रास संस्करण।**

**५. विश्वप्रकाश कोश, पृ० ४, २५।**

**६. वही।**

**७. नानार्थ शब्द कोश, पृ० ३, श्लोक ३५।**

**८. वही।**

**९. ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ० १०४५।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



## शकों का आदि देश

शक विशाल सीथियन जाति की एक शाखा स्वरूप थे, जिनका कि निवासस्थान मध्यएशिया का भूमिप्रदेश था। शकों के आदिम देश सीथिया के विषय में हेरोडोटस द्वारा दिया हुआ विवरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अनुसार सीथिया आकार में वर्गाकार है और इसके दोनों किनारे समुद्र का स्पर्श करते हैं।[१]

डायडोरस आफ सिसली के अनुसार शकों के पास पहले एक छोटा ही प्रदेश था, पर धीरे-धीरे जैसे-जैसे इनकी संख्या में वृद्धि होने लगी, इन लोगों ने और प्रदेशों पर भी अपना प्रभुत्व जमाना प्रारम्भ कर दिया और अर्क्ष (Arxes) नदी-प्रदेश जो उनका प्रारम्भिक स्थान था, उससे आगे बढ़ते हुए वे काकेशस पर्वत के पास तक पहुंच गए और उसके समय (५७ ई० पू०) तक तो वे भारत के सीमांत प्रदेश तक बस गए थे।[२]

पुराणों में भी शकों के आदि स्थान के विषय में चर्चा है और इस स्थान को वहां शकद्वीप कहा गया है। महाभारत में भी शकद्वीप का उल्लेख है। इसके अनुसार क्षीरोदसागर (कास्पियन सागर) का कुछ भाग शकद्वीप से घिरा हुआ था,[३] तथा दधि (ग्रीकों का Dahae) एवं मण्डोदक (Median?) सागरों का स्पर्श करता था।[४] मत्स्यपुराण में ऐसा उल्लेख मिलता है कि लवणोदधि शकद्वीप से घिरा था।[५] महाभारत में ऐसा भी वर्णन आता है कि शकद्वीप के एक भाग अथवा मगियाना के लोग ब्राह्मण थे और मश्क निवासी क्षत्रिय तथा इसके और भागों में वैश्य तथा शूद्र भी निवास करते थे।[६] महाभारत का यह कथन हेरोडोटस के उस वर्णन से भी मेल खा जाता है, जिसमें यह कहा गया है कि सीथिया के बीच के प्रदेश में पशुपालक तथा कृषक सीथियन निवास करते थे।

शकों के मूल निवास के संबंध में साहित्यिक प्रमाणों के अलावा हमारे पास पुरातात्विक प्रमाण भी हैं। हखमनी-सम्राटों के वृतान्तों से पता चलता है कि शक तीन स्थानों पर बसे थे और वे लोग उनकी प्रजा थे। इस वंश के अभिलेख शकों के वासस्थान की ओर भी पूर्ण संकेत

---

१. भाग, ४।

२. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, भाग, २, पृ० ४३।

३. शाकद्वीपं च वक्ष्यामि यथावदिह पार्थिव।
क्षीरोदो भरतश्रेष्ठ येन सम्परिवारितः॥भीष्मपर्व ११।९।१०

४. क्षीरोदेन समुद्रेण सर्वतः परिवारितः।
शाकद्वीपस्तु विस्तारात्समेन तु समन्ततः॥ वायु० ४९, ९९
परिवार्य समुद्रं स दधिमण्डोदकं स्थितः॥ वायु० ४९।७५

५. तेना वृतः समुद्रो यं द्वीपेन लवणोदधिः॥ मत्स्य० १२२।३

६. भीष्मपर्व ११।३६-३७



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करते हैं--'पर-सुग्दम'। सोग्द की राजधानी हमेशा से समरकंद रही है। 'पर-सुग्द' का ग्रीक अनुवाद ट्रांसियाक्सियाना किया जा सकता है, जो सीर दरिया के विशाल मैदान की ओर संकेत करता है।[1]

इसके पश्चात् द्वितीय तथा पहली शती ई० पू० के बीच इन शकों को उस स्थान को छोड़ना पड़ा और साइगल (वर्तमान सीस्तान) में बसना पड़ा। चीनी स्रोत शकों को अपनी मूलभूमि छोड़ने तथा दूसरे स्थान पर बसने के विषय में महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

चीनीविवरण शी-की तथा शान-हान-शू से ज्ञात होता है कि हूण चि-यू के काशगरिया के सुदुर पूर्व तथा उत्तरी पूर्वी प्रदेश में बसने वाली यहूची जाति को बुरी तरह से परास्त किया। यह घटना संभवतः दूसरी शती ई० पू० के दूसरे चरण में हुई।[2] टार्न के अनुसार यह तिथि १७६-७४ ई० पू० मानी जा सकती है।[3] क्लप्रोथ ने इस घटना का समय संभवतः १६५ ई० पू० निर्धारित किया है, जो स्थिम को भी मान्य है।[4] पर चीनी स्रोतों में इसके तिथि के संबंध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता और वहां केवल यही कहा गया है कि चि-यू के राज्य काल में हुई और यह समय लगभग १७६-१६१ ई० पू० तक का है।[5]

इस युद्ध में यूह्‌ची राजा मारा गया और इसके पश्चात् उनके पैर अपनी मातृभूमि में टिक न सके और उसने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। तदनन्तर यूह्‌चियों की मुठभेड़ वुसुन जाति से हुई और वुसुन राजा मारा गया। यूह्‌ची रुके नहीं, आगे बढ़ते ही गये। इसक्कूल झील पर यूह्‌ची दो शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं। क्षुद्र यूह्‌ची दक्षिण की ओर चले गये और तिब्बत के सीमांत प्रदेश पर बसे। ता-यूह्‌ची पश्चिम की ओर बढ़ते ही गए और अपर इली की घाटी में बसे हुए साई अथवा सेक लोगों से जा टकराये।

कुछ चीनी स्रोतों में यूह्‌ची तथा वुसुन के मुठभेड़ की कोई चर्चा नहीं है तथा ऐसा वर्णन है कि हिंगं-नू (हूण) के आक्रमण के पश्चात् ही यूह्‌ची लोग सीधे बिना वुसुन इत्यादि से मुठभेड़ किये हुए ही सीर दरिया के कांठे में चले गये।[6] अतएव यूह्‌चियों तथा वुसुनों की मुठभेड़ के स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस प्रकार यदि सभी चीनी वृत्तान्तों की ओर हम दृष्टिपात करें तो यही पायेंगे कि हिंग-नू लोगों के द्वारा पूर्णरूपेण विजित किये जाने पर यूह्‌ची लोग पश्चिम की

---

१. मैं० आर्के० सर्वे इण्डिया, ३४।३-४

२. दि शकाज इन इण्डिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० १।

३. ग्रीक बैं० इं०, पृ० २७६।

४. टेबुलेक्सहिस्टोरिका डी ला एशिया, १३२, डा० चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'दि शकाज इन इण्डिया' में इसको उद्धृत किया है। पृ० १।

५. वही, फुट नोट में, पृ० १।

६. 'दि शकाज इन इण्डिया', डा० चट्टोपाध्याय, पृ० २।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ओर बढ़े और उनकी भिड़न्त साई अथवा शक लोगों से हुई। इसका फल यह हुआ कि साई-वांग अथवा शक लोग दक्षिण की ओर मुड़े और की-पिन में जा बसे, तथा साथ ही साथ इनकी कई शाखाएं भी हो गईं और इनके अनेक राज्यों की स्थापना भी हुई।[1] इस साई-वांग शब्द का क्या अर्थ होता है और इनको हम शकों के अर्थ में निर्द्वन्द रूप से ले सकते हैं, अथवा नहीं, इस पर भी अनेक मत विभिन्न विचारकों द्वारा व्यक्त किये गये हैं, जिन पर डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने प्रकाश डाला है।[2] पर इतना तो निश्चित ही सा ज्ञात होता है कि यह शकों के लिए ही प्रयुक्त हुआ और डा० चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक में इस निष्कर्ष की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है।[3]

## भारत की ओर प्रस्थान

अब प्रश्न यह उठता है कि ये साई-वांग अथवा शक की-पिन किस मार्ग का अनुसरण करके आये। हान-शू से हमें केवल यही ज्ञात होता है कि दक्षिण की ओर मुड़कर वे हीन-तू अथवा हिन्दूकुश के रास्ते से आए। फाह्यान ने हीन-तू को स्कर्द से थोड़ा पश्चिम काशगर से दक्षिण-पश्चिम दिशा में सिंधु नदी के पास अवस्थित बतलाया है। पर चीनी वृत्तान्तों में हमें इस संबंध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती कि वे हीन-तू किस मार्ग का अनुसरण करके आए और इसके पश्चात् वे की-पिन कैसे पहुंचे तथा उन्होंने अपनी इस भीषण यात्रा के लिए इस दुर्गम तथा बीहड़ मार्ग को क्यों चुना? पर यदि हम तोलेमी के कथन को ध्यान में रखें तो यह बात पूर्णरूपेण हृदयंगम हो जाती है, क्योंकि उनके अनुसार शकों का विस्तार दक्षिण में बाल्टिस्तान तक हो गया था और इस प्रकार इस प्रदेश की जातियों के लिए इस बीहड़ रास्ते से भारत में प्रवेश करना कोई अत्यन्त दुष्कर कार्य नहीं था।

अतएव यदि हम उपर्युक्त विवरणों पर ध्यान दें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि यूहचियों

---

१. 'की-पिन' का मामला विवादग्रस्त है। हान कुल के वृत्तान्त की-पिन का वर्णन करते हुए कहते हैं---वह स्थान जो नरम हो तथा जो दक्षिण-पश्चिम में वु-ह-शन-लि (आर्कोशिया) द्वारा घिरा हो और उत्तर पश्चिम में ताहिया (बलख) द्वारा। स्तेन कोनो इसकी कापिश से तुलना कर इसकी भौगोलिक स्थिति को बलख में कहीं स्थापित करते हैं। परन्तु यह प्रदेश हिमांचल है, यह गर्म नहीं हो सकता। हुवेन-त्सांग के अनुसार कापिश सर्द प्रदेश है। बहुत से विद्वानों ने 'की-पिन' को काश्मीर बतलाया है, जिसको कि आज की विद्वान-मंडली ने मान भी लिया है। सर आरेल स्टेन ने अपने 'एन्सेंट खोतन' खं० १, पृ० ५३ और स्मिथ महोदय ने अपनी 'अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया' पृ० २५१ में इस सिद्धांत को मान्यता प्रदान किया है।

२. दि शकाज इन इण्डिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० ३।

३. वही।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की भिड़न्त के बाद शकों की एक शाखा ने काश्मीर के मार्ग से भारत में प्रवेश किया और यह काश्मीर (पंजाब क्षेत्र) में जाकर बस गई।[1]

उपर्युक्त धारणा के अतिरिक्त हमारे पास अन्य प्रमाण भी विद्यमान हैं, जो शकों का आगमन स्थान पूर्वी ईरान घोषित करते हैं। हम ऊपर इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं कि यूहचियों के मुठभेड़ स्वरूप शकों की कई शाखायें हुईं तथा उनके अनेक राज्यों की आगे चल कर स्थापना भी हुई, जो लोग की-पिन में जा बसे थे, उनके अतिरिक्त कुछ और कबीले पूर्वी ईरान की ओर मुड़े। संभवतः इन्हीं को जस्टिन ने सीथियन की संज्ञा प्रदान की है।[2] उनकी चपेट में पार्थव तथा बाख्त्री राज्य-कुल आए और इस प्रकार सम्पूर्ण हेलियाक्लीज सपरिवार शकों की चपेट में आगया। युक्रेतिद का ग्रीक राजकुल अपनी गृह-कलह के कारण स्वयं क्षीण तथा दुर्बल हो गया था। वह शक आक्रमणकारियों का सामना न कर सका। बाख्त्री पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके शक और आगे बढ़े। रास्ते में पार्थव पड़ते थे। ई० पू० १२८ में पार्थव राजा फ़ात द्वितीय धराशायी हुआ। उसके उत्तराधिकारी आर्तबानस द्वितीय (१२८-१२३ ई० पू०) ने उनको कुछ कर इत्यादि देकर एक अस्थायी शांति की व्यवस्था की। पर यह बहुत दिनों तक चल न सका और वह भी पांच वर्षों बाद शकों द्वारा युद्ध में मारा गया।[3] परन्तु इसके बाद मिथ्रेडेट द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) ने जो कि शक्तिशाली राजा हुआ, उस संपूर्ण क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करके शकों को आगे बढ़ने से रोक दिया। इसके राजत्वकाल में उसका इतना दबदबा रहा कि शक रंचमात्र भी आगे न बढ़ पाये।

विद्वानों की ऐसी धारणा है कि उपर्युक्त राजा के राजत्व काल के पश्चात् अथवा उसी के काल में ही शक भारत की सीमा की ओर मुड़े। रास्ते में काबुल का राज्य पड़ता था, जो बाख्त्री राजकुल की ही एक शाखा द्वारा शासित होता था। अतएव उनके मार्ग में कुछ बाधा उपस्थित हुई और कुछ समय के लिए जहां थे वहीं पर उन्होंने अपना डेरा डाल दिया। उनकी यह निवास भूमि सीस्तान अथवा शकस्थान कहलाई। कुछ समय पश्चात् कंधार और बलूचिस्तान (बोलन-

---

१. लूजां ने अपनी पुस्तक, सी० पी० इं० हि०, पृ० ३५७ में इसी बात को दूसरे रूप में कहा है--Although it is probable that Sakas from Seistam invaded India at an early time the possibity exists that the makers of the kharosthi insecriptions in North-West India did not invade from the west, but from the north. परन्तु सी० डेबिओई और बनर्जी--शास्त्री ने क्रमशः ए० पी० हि० पा०, पृ० ५८-५९ में तथा इं० हि० क्वा० सं० १३, पृ० २०९ के अपने लेख में शकों के दोनों मार्गों से आने की संभावना व्यक्त किया है।

२. एपिटोम हिस्टोरिकेरम फिलिप्पिकेरम पाम्पेई ट्रांगि, १२।१।२
डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने इसको अपनी पुस्तक में पृ० ६ पर उद्धृत किया है।

३. जस्टिन ४२। १।१



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



दर्रे) के रास्ते से वे भारत पहुंचे और सिंधु नदी के निचले कांठे में जा बसे। उनके इस नवीन स्थान को हिंदू लेखकों ने शकद्वीप और ग्रीक भूगोलविदों ने "इण्डो सीथिया" कह कर पुकारा है।

पाणिनी के ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर अपना वार्तिक ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए कात्यायन ने 'शकन्धु' तथा 'कर्कन्धु' शब्दों का उल्लेख किया है।[१] ऐसा लगता है कि कात्यायन द्वारा वर्णित शक शकस्थान में आकर बसने वाले शकों के पूर्वज थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जब शक लोगों का निवासस्थान अभी मध्य एशिया ही था, तभी ई० पू० चौथी या तीसरी शताब्दी में 'शकन्धु' शब्द का प्रचलन हो गया था। 'शकन्धु' का अर्थ होता है शक लोगों का कुंआ। यह शब्द संस्कृत भाषा के व्याकरण में अपना विश्लेषण रखते हुए यह सिद्ध करता है कि भारत के लोग, शकों के यहां आगमन के पूर्व ही, उनसे परचित हो गये थे और पाणिनी, कात्यायन-परिचित शक, ई० पू० प्रथम शताब्दी में यहां बसने वाले शकों के पूर्वज थे। पाणिनी ने 'कन्था' शब्द का भी उल्लेख किया है। मूल में यह शक भाषा का शब्द था, जिसमें कन्थ का अर्थ नगर होता है। ऐसा ज्ञात होता है है कि उस समय भी मध्य एशिया में कन्थाल नामों का एक तांता था, जो अभी तक विद्यमान है यथा समरकंद, पायकंद। कन्थ शब्द का परिवर्तन सुन्दी भाषा में कंद हो जाता है। इससे भी हम यही संकेत पाते हैं कि पाणिनी से भी पूर्व किसी समय शक जाति का प्रसार और सम्पर्क गजनी कंधार की उपत्यका से उतर कर तोचीगोमल नदियों के मार्ग से रावी और चिनाब के कांठे तक पहुंचा था।[२]

भारतीय शकों के नामकरण में सीथियन, पार्थव और ईरानी तत्वों का सम्मिश्रण है। इससे यह प्रमाणित होता है कि शक भारत में प्रवेश करने से पूर्व ईरानी "शक-स्थान" में पार्थव प्रभाव में रह चुके होंगे। वहीं पर उनका सम्मिश्रण भी हुआ होगा। ईरानी शकस्थान में रह कर शकों पर पार्थव और ईरानी प्रभाव पड़ा। उसी प्रकार भारत में आकर इन पर भारतीय प्रभाव पड़ा। उन्होंने भारतीय नामों को तथा भारतीय धर्म को अपनाया। उन्होंने भारतीय परिवारों (वंशों) से अपना विवाह सम्बन्ध स्थापित किया। इस संबंध में जूनागढ़ और कान्हेरी लेख को उद्धृत किया जा सकता है। जूनागढ़ लेख[३] में कहा गया है कि दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णी से रुद्रदामन का संबंध था। कैसा संबंध था इस बात का प्रमाण कान्हेरी लेख[४] में मिलता है, जहां शातकर्णी को रुद्रदामन का जामाता कहा गया है। एक दूसरा उदाहरण नागार्जुनीकोंडा लेख[५] में मिलता है, जिस से पता चलता है कि इक्ष्वाकु नरेश वीरपुरुष दत्त की

१. ६।१।९३ वा० ४।

२. पाणिनिकालीन भारत––वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८१-८२।

३. "दक्षिणापथपतेः सातकर्णोद्विरपि निर्व्याजनवजित्थावजित्थ संबंधाविदूरत यान्त्सादनप्राप्तयशसा।"

४. आर्के० सर्वे वेस्ट इं० खं० ५, पृ० ७८ नं० ११।

५. एपि० इं० खं० २०, पृ० ४।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पत्नी महादेवी रुद्रभट्टारिका थी, जिसको उजनिका महार-वालिका कहा गया है। इस प्रकार वे भारतीय हो गये।

कालान्तर में शकों ने भारत में कई राजकुल स्थापित किये (१) सिंध और पश्चिमी पंजाब (२) तक्षशिला का शक कुल (३) मथुरा के क्षत्रप, (४) महाराष्ट्र का क्षहरात कुल और (५) उज्जैन के महाक्षत्रप।

## भारतीय शक कौन ?

शक कौन थे और वे भारत कैसे आए, इसी का विवेचन अब तक हम करते रहे। अब हमें यह देखना है कि ये भारतीय शक कौन थे। मथुरा-सिंह शीर्ष अभिलेख इस प्रश्न का उत्तर हमें देता है, इसमें उत्कीर्ण है :--

"सर्वस सकस्तनस पुयए'

यह प्रमाणित करता है कि मथुरा-क्षेत्र के क्षत्रप 'शकस्थान' या सीस्तान से आए थे और जो अब भी अपनी मूल भूमि को भूले नहीं हैं। सभी विदेशी जातियां अपनी मूल भूमि की स्मृति अपने मानस-पटल पर बनाए रहती हैं। वे शताब्दियों तक उसको नहीं भूलती। भारतीय पारसी अपनी मूलभूमि की स्मृति करीब आठ शताब्दियां तक बनाए रहे। प्राचीन इजिप्सियन और फोने-शियन अपनी मूल भूमि की अब तक यादगार बनाए हुए हैं, यद्यपि वे उस स्थान को जहां वे वस्तुतः रहते थे, भूल गए हैं।[1]

कान्हेरी लेख के अनुसार महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री अपने को कार्दमक वंशज कहती है। रेप्सन के मतानुसार कार्दमक कार्द्दम से बना है। कार्द्दम एक नदी है, जो (जरफ़शन) फारस में वहती है। इस प्रैकार शकों की एक शाखा भारत में ईरान से आई। इस बात का अन्य प्रमाण भारतीय शकों का नामकरण है। शक क्षत्रपों में 'दामन' शब्द का प्रचलन था जैसे जयदामन, जीवदामन, रुद्र-दामन आदि। ये सभी उज्जयिनी के चष्टन वंश के हैं। अवेस्तां में 'दामन' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ उत्पत्ति होता है।[2] और पेरिप्लस के अनुसार 'इण्डोसीथिया' तथा 'नम्बनस' के राज्य की राजधानी का नाम मिन नगर था और यह शकस्थान के 'मिन' नगर से निकला है। जिसको कि चौंरक्ष के आईसैडोर ने उद्धृत किया है।

## शकस्थान की भौगोलिक स्थिति

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भारतीय शक 'शकस्थान' के थे। अब हमें यह देखना है कि इस 'शकस्थान' की भौगोलिक स्थिति क्या थी। 'यदि हम नक्शे पर दृष्टिपात करें तो पूर्व

---

१. दि वैदिक एज, तृतीय संस्करण, १९५७ पृ० २१६।
२. दि शकाज इन इण्डिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० ५।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में सिंधु, पश्चिम में हेरात से दक्षिण समुद्र, दक्षिण में समुद्र तथा उत्तर में हेरात से शिकारपुर सिंध होते हुए बोलन दर्रे तक की सीमाओं के बीच की भूमि शकस्थान थी। इसमें वर्तमान कर्मान सीस्तान, ईरानी बलूचिस्तान, केलात आदि जिले थे।[१] कोई बड़े नगर इसमें नहीं थे। इसके मुख्य नगरों में कर्मान, गुआदर बंदर, लाश, वेपुरी, मिरि, इका, तथ्य आदि थे। बाकी छोटे-छोटे गांव थे, जो पहाड़ियों पर स्थित थे।[२]

---

१. वही।

२. एन्सेंट इण्डिया, टी० एल० शाह, खं० ३, पृ० ९८।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विविधा

## साधारणीकरण : क्या और कैसे ?

साधरणीकरण का सूत्रपात भट्टनायक ने किया। अभिनव गुप्त ने उस पर अपने विचार प्रकट किये जिसकी चर्चा मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ ने भी की और उनके टीकाकार अथवा आलोचकों ने उनके भावों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। आधुनिक युग में डॉ० श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० केशवप्रसाद मिश्र, पं० रामदहिन मिश्र, डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित आदि अनेक विद्वानों ने इस विषय का मन्थन किया। डा० नगेन्द्र ने साधारण-जंगल को काट-छाँट कर उपवन का रूप दिया और उसमें, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य अध्ययन की पृष्ठ-भूमि में सुन्दर और नवीन कल्पना-सुमनों का आरोपण किया।

( २ )

साधारणीकरण की समस्या जटिल हो गयी अथवा बना दी गयी थी। डॉ० नगेन्द्र ने उसे बहुत कुछ सुलझा दिया है, तथापि उस पर और अधिक विचार कर लेना अहितकर न होगा ऐसी आशा है। 'साधारणीकरण' शब्द में 'च्वि' प्रत्यय 'अभूततद्भावे' अर्थात् 'जो वैसा नहीं उसे वैसा कर देना,' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार 'साधारणीकरण' 'शब्द का अर्थ है जो साधारण नहीं उसे साधारण कर देना। इस शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता रहा है: मनोविज्ञान-परक 'प्रत्ययीकरण' न्याय-परक 'सामान्यीकरण', धर्मशास्त्र-परक 'साधारणीकरण'। इन तीनों अर्थों का कुछ विवेचन अभीष्ट प्रतीत होता है :—

(क) **प्रत्ययीकरण**—मनोविज्ञान के अनुसार समान वस्तुविशेषों के प्रत्यक्ष, पुनरुत्पादक कल्पना आदि के आधार पर प्रत्यय (कौंसेप्ट) का निर्माण होता है। शिशु अनेक बार अनेक प्रकार के और अनेक स्थानों में, कुक्कुरों को देखकर उन कुक्कुरों के ऐसे गुणों को, जो उन सभी तथा अन्य कुक्कुरों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं; निकालकर कुक्कुरत्व का निर्माण कर लेता है। मनोविज्ञान में सामान्यीकृत यह रूप 'प्रत्यय' कहा जाता है।

(ख) **सामान्यीकरण**—भारतीय न्यायशास्त्र में और पश्चिमी आगमन तर्कशास्त्र में विशेष से सामान्य की ओर प्रवृत्ति को सामान्यीकरण कहते हैं। यथा, बारबार अनेक स्थानों और कालों में धुएं को अग्नि के साथ देखकर यह निष्कर्ष कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः) अथवा विभिन्न लौह-खण्डों को अग्नि में तपाकर और उन्हें बढ़ा हुआ पाकर यह निष्कर्ष कि लोहे के सभी टुकड़े तपने पर बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न धातु-खण्डों को अग्नि में तपाकर और उन्हें बढ़ा हुआ पाकर यह अनुमान कि सभी धातुएं तपकर बढ़ जाती हैं 'सामान्यीकरण' का उदाहरण है। ऐसे सामान्यीकरण में विशेष से



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सामान्य की ओर अथवा संकीर्ण सामान्य से विशाल सामान्य की ओर उज्झम्प (इण्डक्शन) होता है। अभिनव गुप्त, मम्मट आदि काव्याचार्यों ने साधारणीकरण को कभी प्रत्ययीकरण और कभी सामान्यीकरण के रूप में देखा है।

(ग) **साधारणीकरण**--इस शब्द का प्रयोग रामायण, कादम्बरी और राजतरंगिणी में भी हुआ है। इसका अर्थ है संयुक्त उपभोग 'साधारण-धन' को अंग्रेजी भाषा में जोइण्ट प्रौपर्टि कहा जा सकता है। मेरी विनीत सम्मति में काव्य में 'साधारणीकरण' का प्रयोग भी इसी अर्थ में संगत है। उदाहरण लीजिये :—कुछ दिन हुए मैंने एक ग्रन्थ मोल लिया जिसे पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैंने सोचा कि यदि मैं उसे किसी सार्वजनिक पुस्तकालय को भेंट कर दूँ तो अनेक व्यक्ति उससे लाभ उठा सकेंगे। इसी भावना से मैंने उसे एक सार्वजनिक पुस्तकालय को भेंट कर दिया। भेंट करने से पहले वह पुस्तक मेरी थी, अर्थात् मेरी निजी सम्पत्ति थी, किन्तु भेंट करने के पश्चात् वह मेरी निजी सम्पत्ति न रही। अब मैं उसके सम्बन्ध में यह नहीं कह सकता कि वह पुस्तक मेरी ही है, अथवा आपकी ही है, अथवा उसकी ही है; पर मुझे यह कहने का अधिकार है कि वह मेरी भी है, आपकी भी है और उसकी भी। वह मेरी इसलिए है कि पुस्तकालय के सदस्य होने के नाते, आवश्यकतानुसार अन्य सदस्यों की भांति, उसका उपयोग कर सकता हूं, हाँ, भेंट करने के पश्चात् मेरा यह अधिकार नहीं है कि मैं ही उसका उपयोग करता रहूँ। अभिनव गुप्त ने 'साधरणीकरण' का रूप इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

**"ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्ध विशेष-स्वीकार-परिहार नियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतै रभिव्यक्तः"।**

'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने इस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

**"परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।**
**तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥३, १२॥"**

संस्कृत के इन दोनों उद्धरणों से साधारणीकरण की ध्वनि निकलती है, यद्यपि सीता को कामिनीत्व के रूप में देखने की प्रवृत्ति मनोविज्ञान-परक है पर यदि 'सीता' का साधारणीकरण अभीष्ट है तो 'कामिनीत्व, पर ही क्यों रुका जाय 'प्राणित्व' अथवा उससे भी अधिक व्यापक सामान्य पर क्यों न रुका जाय, ऐसी आपत्ति सम्भव है। अतएव काव्य में भी साधारणीकरण का उक्त तीसरा अर्थ ही अपेक्षित है।

( ३ )

प्राचीन आचार्यों ने 'विभावादि' का साधारणीकरण माना है। पं० रामचन्द्र शुक्ल केवल 'विभाव' का (विशेषतः आलम्बन का) साधारणीकरण मानते हैं। आचार्यों का मत अधिक ठीक था, यद्यपि वे भी 'विभावादि' से कुछ अधिक लिप्त हो गये। डॉ० नगेन्द्र का सुझाव है कि साधारणीकरण 'विभावादि' का नहीं होता, वह तो कवि की अनूभूति का होता है। कवि की अनभूति में विभावादि का समावेश होता ही है अतएव प्रत्न आचार्य तथ्य के निकट आते-आते रह



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



से गये; तथ्याप्राप्ति का कारण उनका नैयायिक दृष्टिकोण प्रतीत होता है। एबर क्रौंबे जैसे पश्चिमी काव्य-शास्त्रियों ने भी काव्य को 'प्रेषणीय अनुभूति' समझा है, अतएव डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है सर्वथा युक्ति-संगत है।

मैं भी ऐसा ही समझता हूं। पर मेरी विनीत मति में कवि की अनुभूति व्यक्तिगत है, उसकी अनुभूति में विशेष बातें हैं। विशिष्ट भाव है और उसकी अनुभूति सरस भी है। मैं समझता हूँ कि कवि अपनी ऐसी निजी और आनन्दमयी अनुभूति को सर्वसाधारण के लिए उपस्थित कर देता है। वास्तव में वही कवि सफल है जो अनुभूति को, अपने पाठक (अथवा सामाजिक) के लिए, उसी रूप में उपस्थित कर सके जिसका अनुभव वह स्वयं कर चुका है। साधारणीकरण के पश्चात् कवि की अनुभूति उसकी ही नहीं अपितु उसकी भी एवं औरों की भी होती है।

( ४ )

भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण भावकत्व शब्दशक्ति के द्वारा होता है, जिसके दो साथी हैं—अविधा और भोजकत्व। मेरे विचार से शब्द शक्ति एक ही है, यद्यपि त्रिगुणात्मक है। वह उसी प्रकार त्रिविध है जिस प्रकार विद्युच्छक्ति—पौजेटिव, निगेटिव और इन दोनों का समन्वय (मैं लक्षणा और व्यंजना को शब्दशक्ति मानकर डाक्टर श्यामसुन्दर दास की भांति, अर्थ-प्रकार ही समझता हूँ) शब्द-शक्तिरूपी नदी की धारा अभिधा है; भावकत्व उसका चट्टानी तट है जो धारा को गतिशील बनाता है; और भोजकत्व उसका रमणीक सुमन-संकुल-तट है जो धारा को सरसता प्रदान करता है। जिस प्रकार विद्युत के द्वारा एक व्यक्ति की वार्त्ता दूसरे व्यक्ति तक पहुंच जाती है, उसी प्रकार कवि की अनुभूति भी इस त्रिगुणात्मिका शक्ति के माध्यम से पाठक-श्रोता के हृदय को यथावत् प्राप्त हो जाती है। दृश्य-काव्य में कवि अपनी अनुभूति अभिनेताओं को प्रसारित (ब्रौडकास्ट) करता है और अनुकर्तृ-गण उसे सामाजिकों को 'रिले' कर देता है। कवि की मूल अनुभूति में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् वह जितनी विशिष्ट है (अथवा विशेष गुणों से जितनी सम्पन्न है) उतनी बनी रहती है। कवि की अनुभूति में रस की निष्पत्ति एवं तज्जन्य आनन्द भी विद्यमान रहता है; और यह सब कुछ प्रायः उसी रूप में पाठकों अथवा दर्शकों को प्राप्त होता है।

( ५ )

'सहृदय' शब्द में 'समनाः' का अर्थ भी निहित है। हृदय और मन प्रायः पर्याय समझे जाते हैं। हृदय की कल्पना मन की अपेक्षा अधिक व्याप्त रही है। यजुर्वेद के अनुसार मन 'हृत्प्रतिष्ठं' है। काव्य का प्रधान सम्बन्ध 'भाव' से है जिसका अनुवाद 'थॉट' और 'फीलिङ्' दोनों से होता है, यद्यपि अधिकतर दूसरे से। 'हृदय' शब्द का प्रयोग उचित ही है। काव्य सहृदयों के लिए होता है, इस उक्ति का तात्पर्य यह नहीं कि काव्य-विशेष के पात्र अथवा अधिकारी पठित, अपठित, बाल-वृद्ध सभी हों, । हाँ, यह भी ठीक है कि काव्य का विषय वे साधारण भाव हैं जो मनुष्य-मात्र में समान होते हैं। इस दृष्टि-कोण से काव्य-श्रवण के अधिकारी मोटे तौर पर



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



सभी लोग हो सकते हैं। साधारणीकरण के पश्चात् कोई भी सहृदय व्यक्ति काव्य का उपयोग उसी प्रकार कर सकता है जिस प्रकार प्रसारित वार्त्ता (ब्रौडकास्ट) की प्राप्ति 'रिसीविङ् सेट' ही कर सकता है। यह 'सेट' जितना उत्कृष्ट होगा प्रसारित वार्त्ता भी उतनी ही सुस्पष्ट और प्रभावोत्पादक होगी।

( ६ )

आचार्य विश्वनाथ ने साधारणीकरण के फलस्वरूप आश्रय के साथ तादात्म्य माना है। डॉ० नगेन्द्र आश्रय के साथ इस तादात्म्य को अस्वीकार करते हैं क्योंकि उनके अनुसार यह तादात्म्य कवि के भाव से होता है। इस विषय में, मैं 'तादात्म्य' शब्द की अपेक्षा 'तन्मयता' को अधिक अच्छा समझता हूँ। मेरे विनम्र विचार में पाठक, श्रोता या द्रष्टा किसी भी काव्यानुभूति से महत्तर होता है। अतएव इस अनुभूति से उसका तादात्म्य बताना उचित नहीं। अभिनव गुप्त समझते हैं कि काव्य, सामाजिकों के प्रसुप्त 'भावों' को जाग्रत कर, रस की निष्पत्ति कर देता है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या किसी कवि का काव्य सामाजिक के जन्मजन्मान्तर-प्राप्त प्रसुप्त 'विचारों' को उद्बुद्ध नहीं कर देता, क्योंकि वेदान्त के इस सिद्धान्त के अनुसार कि 'जीव ब्रह्म ही है, अन्य नहीं', सभी सामाजिक ब्रह्म होने के नाते पूर्ण हैं, उनके लिए कोई भी बात नितान्त नवीन नहीं। अतएव यह कहना कि सामाजिकों में केवल स्थायीभावों का जागरण होता है, मेरी विचारधारा में असंगत और अनावश्यक है। इसलिए जीव के पारमार्थिक रूप की चर्चा न कर यदि हम व्यवहार-जगत् की चर्चा के लिए जीव के व्यावहारिक रूप पर ही अधिक ध्यान दें तो अधिक ठीक हो। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह माना जा सकता है कि जीव में दोनों ही शक्तियाँ विद्यमान हैं—काव्य को प्रसारण करने की, और उसे ग्रहण करने की। वस्तुतः श्रोता कवि की उस अनुभूति को (सहानुभूति अथवा सिम्पथी के द्वारा) ग्रहण करता है जिसमें भाव, विचार, रसादि पहले से ही विद्यमान हैं। उस रस की निष्पत्ति श्रोता या सामाजिक के मन में नहीं होती। पर इसमें सन्देह नहीं कि उसमें रस को ग्रहण करने की शक्ति विद्यमान है, और वह अपनी शक्ति-सौष्ठव के अनुसार ही उस रस का अनुभव करता है जो काव्यानुभूति के साथ प्रसारित किया जाता है।

( ७ )

संक्षेप में, मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि साधारणीकरण शब्द के तीन अर्थ हैं: मनोविज्ञानपरक, न्यायपरक, धर्मशास्त्रपरक। काव्यजगत् के लिए मैं उसका तृतीय अर्थ ही सम्मत समझता हूँ। इस प्रकार काव्य के साधारणीकरण का अर्थ है कि कवि, व्यक्ति के द्वारा, अपनी अनुभूति को सर्वसाधारण के लिए उपस्थित कर देता है। साधारणीकृत काव्यानुभूति कवि की निजी सम्पत्ति होते हुए भी औरों की भी है; केवल उसीकी नहीं न केवल औरों की। अर्थात् काव्यानुभुति सर्वसाधारण की होती है, जो वक्ता की है और श्रोता की भी। साधारणीकरण शब्द-शक्ति के द्वारा होता है जिसके तीन रूप हैं—अभिधा, भावकत्व, और भोजकत्व। साधारणीकरण के द्वारा कवि की अनुभूति की यथावत् प्राप्ति उस पाठक श्रोता अथवा द्रष्टा को हो जाती है



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जिसके मन और हृदय, अनुभूति को ग्रहण करने के निमित्त, समान होते हैं। अनुभूति-ग्रहण के समय सामाजिक के हृदय की तन्मयता कवि की अनुभूति से होती है।

—(डॉ०) रामदत्त भारद्वाज

० ० ०

## रीतिकालीन कवि-परिपाटियों के प्रतीक

रीतिकालीन कवि-परिपटियों के दो प्रमुख वर्ग हैं—एक वनस्पति संसार का और दूसरा जीवधारियों का। यहां प्रथम वर्ग पर ही विचार अपेक्षित है।

कवि-प्रसिद्धियों का आदितम रूप हमें आदिम जातियों के वृक्ष तथा पौदों के पूजा-भाव अथवा पवित्र-भावना में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दूसरा तत्त्व 'वृक्ष-दोहद' की भावना का भी है। इन दोनों तत्वों का समाहार कवि प्रसिद्धियों के उद्गम तथा विकास में प्राप्त होता है। दूसरी ओर केवलमात्र 'वृक्ष-दोहद' की भावना को ही इन परिपाटियों का स्रोत नहीं माना जा सकता है जैसा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है।[1] इसके अतिरिक्त, कवि-परिपाटियों का उद्गम तथा विकास पौराणिक तथा धार्मिक स्रोतों से भी हुआ है। इन सभी तत्त्वों का एक समन्वित रूप हमें इन परिपाटियों में दृष्टव्य होता है।

आदिम जातियों में जड़ पदार्थों में भी सचेतन-क्रिया का आरोप प्राप्त होता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वृक्ष तथा पौदों की भावना से सचेतन-क्रिया का आरोप किया गया। वैसे तो ये प्रथायें तथा विचार अंधविश्वास ही थे, पर उनके अंतराल में प्रतीक-सृजन का स्रोत एक सत्य है। फ्रेजर[2] ने अपने अत्यंत खोजपूर्ण ग्रंथ में इस ओर संकेत किया है। इन अंध विचारों ने ही जिज्ञासा कों जन्म दिया और क्रमशः जड़-प्रकृति में मानवीय स्पंदन को देखा गया। आदिम जातियों ने वृक्षों तथा पौदों के उत्पन्न होने में और मानवीय प्रजननक्रिया में एक धूमिल समानता का अनुभव किया। इसी विश्वास ने वृक्ष को उर्वरता का प्रतीक बनाया। यही कारण है कि अनेक परिपाटियों में मिथुनपरक अर्थ की भी अवतारण प्राप्त होती है। ऐसे कुछ उदाहरण हैं—श्रीफल, अशोक तथा प्रियंगु। इस मिथुन भाव में दोहद (पुष्पोद्गम) का भी अर्थ समाविष्ट है। यह एक यौनपरक (sexual) क्रिया है।

प्रश्न है कि दोहद की प्रवृत्ति का आरोपण नारी की क्रियाओं पर क्यों किया गया? इसका उत्तर हमें आदिम जातियों (आर्येतर) के विश्वासों में मिलता है। अनेक आदिम जातियों में प्रजनन क्रिया के प्रथम अनेक वृक्षों से नारी के प्रजनन अंगों के स्पर्श करने की प्रथा का संकेत

---

१. हिंदी साहित्य की भूमिका——डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २२३

२. गोल्डन बॉउ द्वारा फ्रेजर—ए स्टेडी इन मैजिक एंड रिलीजन, पुस्तक २, भाग १, अध्याय २, ३



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मिलता है। इससे यह समझा जाता था कि स्त्री की उर्वरा शक्ति का विकास उस विशिष्ट पौदे या वृक्ष के स्पर्श से सम्भव है। फलतः इस अंधविश्वास के कारण वृक्षों की उर्वरा शक्ति से स्त्री का उत्तरोत्तर सम्बन्ध बढ़ता गया, और अंत में, स्त्री के अंगों के स्पर्श से पौदों तथा वृक्षों का पुष्पित तथा विकसित होना, एक प्रकार से, कवि प्रसिद्धि में परिवर्तित हो गया ।

वृक्ष की इस उर्वरा शक्ति से पुराणों में वर्णित यक्षों, गंधर्वों तथा अप्सराओं का भी अपरोक्ष सम्बंध है। नागों तथा यक्षों का देवता 'वरुण' है। वरुण जल का अधिपति है। वरुण से सम्बंधित यक्षि तथा यक्षणियां भी अपदेवता के रूप में रामायण तथा महाभारत में भी मान्य रहे।[१] अतएव इनका सम्बन्ध वृक्ष की उर्वरा शक्ति तथा जल से माना गया। अत: यक्ष को उर्वरता का प्रतीक माना गया। दूसरी ओर गंधर्व और अप्सरायें भी उर्वरता के प्रतीक हैं। इनका घनिष्ट सम्बंध इंद्र से रहा। गंधर्व जल या सोम का रक्षक है[२]। ऋग्वेद में सोम को देवताओं के पिता का सृजनकर्ता भी कहा गया है। यह सोम वृक्ष पर्वतों पर प्राप्त होता है जहां गंधर्व वास करते हैं[३]। दूसरी ओर, गीता तथा उपनिषद् में गंधर्व को अमानवीय जीव भी कहा गया है। यहां तक कि कृष्ण ने अपने को गंधर्वों में चित्ररथ की संज्ञा प्रदान की है[४]। इस प्रकार गंधर्व शब्द एक विस्तृत क्षेत्र की व्यंजना करता है। इसी प्रकार अप्सरायें भी जल से सम्बंधित हैं जो उर्वरता की प्रतीक हैं। निरुक्तिकार ने अप्सरा की व्याख्या 'अपस्' अर्थात् जल में 'सरण' करनेवाली नारी-रूपिणी शक्ति से माना है। ऐसी स्त्रियों की कल्पना पाश्चात्य देशों में साइरन, मरमेड तथा निम्फ के रूपों में प्राप्त होती है[५]।

इन सब विवरणों से सिद्ध होता है कि यक्ष, गंधर्व तथा अप्सरायें, किसी न किसी रूप में, जल तथा वृक्ष से सम्बंधित हैं। वरुण भी जल का अधिपति है। जब वरुण का स्थान इंद्र ने ग्रहण कर लिया, तो ये गंधर्व और अप्सरायें वरुण के हाथ से च्युत होकर इंद्र के दरबार के गायक हो गए। इसी से, यक्ष और यक्षिणी तथा गंधर्व और अप्सरायें एकार्थवाची शब्द माने गये हैं।[६] यहां तक कि कामदेव और वरुण मूलतः एक ही देवता हैं जो उर्वरता के प्रतीक होने के कारण, वृक्ष से सम्बंधित हैं। जल का एक अन्य प्रतीक 'कमल' भी है जिसमें वरुण और उसकी स्त्री वास करते हैं। भारतीय साहित्य में कमल जल और जीवन का प्रतीक होने से अत्यंत मंगलमय माना गया

---

१. हिंदी साहित्य की भूमिका--डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २२९

२. हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ--त्रिबेणी प्रसाद सिंह, पृ० ८८

३. इपिक्स, मिथ्स एंड लीजेन्ड्स आफ इंडिया--पी० थामस, पृ० ९

४. गीता, विभूति योग, श्लोक २६, पृ० ३६२ तथा वृहद् उपनिषद, अध्याय ३ पृ० ६९२

५. हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० ८८

६. हिंदी साहित्य की भूमिका--डा० द्विवेदी, पृ० २३१



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



है। कवि परिपाटियों में कमल और कामदेव का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार, इस प्रसंग में जिन कल्पित रूपों की अवतारणा की गई है, उनका प्रयोग कवि प्रसिद्धियों के रूप में, संस्कृत साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक में होता रहा है।

मैंने रीतिकालीन कवियों में बिहारी, मतिराम, केशव और सेनापति के काव्य को ही विवेचन का आधार बनाया है। इन कवियों ने अनेक वृक्षों तथा फूलों को अपनी भावाभिव्यंजना का प्रतीक बनाया है। ये प्रसिद्धियां उसी समय प्रतीक का कार्य करती हैं जब उनके द्वारा किसी भाव तथा विचार या वस्तु की व्यंजना होती है और उस व्यंजना में उनका परम्परागत रूप भी स्पंदित होता है।

**चम्पक**––चम्पक के प्रति यह प्रसिद्धि है कि वह रमणियों के मृदु हास से मुकलित एवं पुष्पित हो जाता है। सत्य में यह एक प्रसिद्धिमात्र है। मेघदूत में चम्पक के प्रति ऐसी ही प्रसिद्धि प्राप्त होती है[1]। रीतिकाल में चम्पक के प्रति ऐसी धारणा नहीं प्राप्त होती है, परंतु, दूसरी ओर कवियों की भावाभिव्यंजना में वह अन्य संदर्भों की वाहक अवश्य बन गई है। एक स्थान पर बिहारी ने चम्पक को रूप-सौंदर्य का व्यंजक बनाया है:––

**केसरि कै सरि क्यौं रुकै, चंपक कितक अनूप।**
**गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप कौ रूप॥**[2]

यहां बिहारी ने चम्पक की प्रसिद्धि को व्यापक अर्थ देने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर मतिराम ने चम्पक और भौरे के द्वारा नीतिपरक अर्थ-व्यंजना प्रस्तुत की है:—

**सुबरन, बरन सुवास जुत, सरस दलनि सुकुमारि।**
**ऐसे चम्पक कौ तजै, तै ही भौंर गँवारि॥**[3]

यहां पर चम्पक को सद्‌गुणों का और भंवरे को उस व्यक्ति का प्रतीक बनाया गया है जो सद्‌गुणों से युक्त 'वस्तु' का त्याग कर देता है।

**अशोक**––अशोक एक अत्यंत रहस्यमय वृक्ष माना गया है। संस्कृत कवियों ने इसके गुच्छों तथा किसलयों का ही अधिक वर्णन किया है। ऐसी मान्यता है कि ये सुंदरियों के वाम पदाघात से अथवा स्पर्श से खिल उठते हैं। राजशेखर तथा कालिदास ने इसी प्रसिद्धि को अपने काव्य में स्थान दिया है।[4] मतिराम ने अशोक की इस प्रसिद्धि का अपने ढंग से प्रयोग किया है —

---

१. वही, पृ० २४५
२. बिहारी-सतसई; सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० ४२।१०२
३. मतिराम ग्रंथावली, सतसई, पृ० १७९।७४
४. हिंदी साहित्य की भूमिका––डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २३५



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तेरो सखी सुहागबर, जानत है सब लोक।
होत चरन के परस पिय, प्रफुलित सुमन अशोक।।[१]

यहां पर अशोक की प्रसिद्धि का सहारा लेते हुए कवि ने उसे नायिका के हृदगत भावों का व्यंजक बनाया है।

**मालती**––इसका वर्णन कविगण वसंत तथा शरद् ऋतु में नहीं करते हैं। रात्रि के आगमन पर ये प्रफुल्लित होते हैं। मतिराम ने इसका वर्णन किया है और उसे कामदेव (अतनु) की फुलवारी का एक वृक्ष माना है ––

दिसि दिसि विगसित मालती, निसि नियराति निहारि।
ऐसे अतनु-अराम में, भ्रम भ्रम भौर निवारि।।[२]

मालती का विकसित होना नायिका के विकसित होने का प्रतीक है, जब वह प्रिय के मिलन-मोद के वशीभूत हो जाती है। उस समय मानो मालती का आरोपण संयुक्तावस्था की नायिका का-भावात्मक रूप प्रस्तुत करता है। इस प्रकार मतिराम ने मालती की प्रसिद्धि को मिलनेच्छा का प्रतीक बानाया है ––

सकल कला कमनीय पिय, मिलन-मोद अधिकात।
बिलसति मालति मुकुल निसि, निसि मुख मृदु मुसक्यात।।[३]

**मंदार**––रीतिकालीन कवियों में मंदार के प्रति प्राप्त प्रसिद्धि का प्रयोग नहीं मिलता है। रीतिकाल में जो भी प्रयोग प्राप्त होता है वह अपनी विशिष्टता लिये हुए है। मूलतः उसका प्रयोग किसी भाव-विशेष की अभिव्यंजना के लिये हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि रीतिकवियों ने परम्परागत परिपाटी का भी उल्लंघन किया है और साथ ही, उस वस्तु का अर्थ-विस्तार भी किया है। मंदार के बारे में यह पूर्ण सत्य है। मंदार रमणियों के नर्म वाक्यों से कुसुमित होता है और इंद्र के नंदनकानन का एक पुष्प है।[४] इस प्रसिद्धि में कल्पना का ही अधिक आश्रय है। परंतु रीति कवियों ने उसमें यथार्थ दृष्टि का भी सुंदर काव्यात्मक समावेश किया है। बिहारी का निम्न दोहा मेरे कथन की पुष्टि करता है जहाँ पर उसने आक (मंदार) को मानदती नायिका का प्रतीक बनाया है जिसके पास उसका प्रिय (भंवरा) भी प्रेमकेलि के लिये नहीं आता है, यथा––

---

१. मतिराम ग्रंथावली, सतसई, पृ० २३७।६५२
२. वही, पृ० १८९।१७७
३. वही, पृ० २१७।५४२
४. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० २५०



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करे, अली, अली जिय जानि।।[1]

आक के प्रति यह सत्य धारणा है कि वह ग्रीष्म में भी फूला रहता है। बिहारी ने एक अन्य स्थान पर इस तथ्य का सहारा लेकर मंदार को एक ऐसे निराश्रित एवं त्याज्य व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो संसार में किसी का भी दयापात्र नहीं है। फिर भी, वह विपरीत दशाओं में अस्तित्व के लिये द्वन्द करता है :—

जाकै एकाएक हूँ, जग ब्यौसाइ न कोय।
सो निदाघ फूलै फरै, आक डहडहौ होय।।[2]

**चंदन**--चंदन वृक्ष का महत्त्व काव्य में व्यापक रहा है। इसके प्रति जो भी प्रसिद्धि काव्य में प्रचलित हुई, वह कवि-कल्पना में अनेक भावभूमियों की वाहक बन सकी। रीतिकाल में हमें इस प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। कवि समयानुसार चंदन वृक्ष में फल फूल होते हैं, पर सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। अतः यह प्रसिद्धि केवलमात्र एक कल्पना है। चंदन के प्रति दूसरी प्रसिद्धि यह है कि यह केवल मलय पर्वत पर प्राप्त होता है और सर्पों से वेष्टित रहता है। जहां तक सर्प का प्रश्न है, यह सत्य है, पर इसका मलय पर्वत पर ही प्राप्त होना, एक कल्पना है। अतः चंदन के प्रति यह कहा जा सकता है कि इसकी प्रसिद्धि में सत्य और कल्पना का सुंदर समन्वय है। केशव ने चंदन की दोनों प्रसिद्धियों का वर्णन किया है —

केशवदास प्रकाश बहु, चंदन के फल फूल।

अथवा

वर्णत चंदन मलय ही, हिमगिरि ही भुजपात।[3]

इसके अतिरिक्त केशव ने चंदन को श्रृंगार का एक अंग भी माना है जिसे स्त्रियां प्रयुक्त करती हैं।[4] मतिराम ने मुख के सौंदर्य की सादृश्यता चंदन से इस प्रकार प्रस्तुत की है—

उजियारी मुख इंदु की, परी कुचनि उर आनि।
कहा निहारति मुगधि तिय, पुनि पुनि चंदन जानि।।[5]

**कमल**--कवि समय है कि पद्म के सात प्रकारों में 'कुमुद' केवल जलाशयों में ही प्राप्त होते हैं। पौराणिक क्षेत्र में विष्णु के लिये श्वेत पद्म तथा शक्ति के लिये रक्तपद्म का वर्णन

---

१. बिहारी सतसई, पृ० २४।९८
२. वही, पृ० १११।४६९
३. कविप्रिया द्वारा केशवदास, सं० लाला भगवानदीन, पृ० ३६ तथा ३९
४. कविप्रिया, केशव, पृष्ठ ३८
५. मतिराम ग्रंथावली, पृष्ठ १८८।१७१



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



मिलता है।[१] इसी प्रकार पद्म की तरह नीलोत्पल का नदी तथा समुद्र में वर्णन नहीं होना चाहिए। नील कमल का वैष्णव साहित्य में भी संकेत प्राप्त होता है। असल में, यह कहीं भारत में होता है या नहीं, इसमें विद्वानों को संदेह है। नीलोत्पल दिन में नहीं खिलता है, परंतु पद्म दिन में ही खिलते हैं और उनके मुकुल हरे होते हैं।[२]

कमल या पद्म (सरोज-कंज) का संकेत रीतिकाव्य में यदा कदा मिल जाता है, परंतु प्रसिद्धि के तौर पर अत्यंत न्यून। मेरे देखने में कमल की प्रसिद्धि का निषेधात्मक रूप ही मिलता है। सेनापति ने सरोज का सरोवर में प्रफुल्लित होने का वर्णन निषेध रूप में इस प्रकार किया है——

**दामिनी ज्यौं भानु ऐसे जात है चमकि ज्यौ न**
**फूलन हूँ पावत सरोज सरसीन के।**[३]

इसी प्रकार, नीलोत्पल की यह प्रसिद्धि कि वह रात्रि में ही खिलता है और दिन होने के साथ कुम्हलाने लगता है——इसका भावात्मक चित्रण मतिराम ने इस प्रकार किया है——

**दुहूँ अटारनि मैं सखी, लखी अपूरब बात।**
**उतै इंदु मुरझात है, इतै कंज कुँम्हलात।।**[४]

इन प्रसिद्धियों के अतिरिक्त कमल को अन्य संदर्भों का भी प्रतीक बनाया गया है। वह प्रेम तथा प्रणय का भी प्रतीक है। कहीं वह नैन के प्रफुल्लित होने तथा मुख की शोभा का प्रतीक माना गया है। केशव ने कमल को चमत्कारिक विधि से दो संदर्भों का वाहक बनाया है। उन्होंने कमल के द्वारा वियोगिनी नायिका के नीर भरे नेत्रों का भाव कमल को उलटा करके व्यंजित किया है। दूसरी ओर, उसी कमल को कली बना कर लौटाने का अर्थ यही है कि जब रात्रि में कमल संकुचित हो जायेंगे तब मैं तुमसे मिलूंगा। सत्य में यहां भाव, संवेदना तथा प्रेम के मिलन-सुख का सुंदर प्रतीकात्मक निर्देशन प्राप्त होता है। पंक्तियां इस प्रकार हैं जब गोप सभा में बैठे कृष्ण के पास एक गोपी आती है और——

**तिनको उलटों करि आनि दियो, केहुँ नीर नयो भरिकैं।**
**कहि काहे ते नेकु निहारि मनोहर फेरि दियो कलिका करिकैं।।**[५]

उपर्युक्त कवि-परिपाटियों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रतीकों का कलात्मक रूप ही कवियों को मान्य है। इन प्रतीकों में भाव तथा रूप (Form) दोनों का

---

**१. कल्याण, संख्या २, फरवरी १९५०, वर्ष २४ में 'हिंदू संस्कृति और प्रतीक' द्वारा प्राणकिशोर स्वामी, पृष्ठ ९४०**

**२. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २४७**

**३. कवित्त रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, पृष्ठ ६७।४७**

**४. मतिराम ग्रन्थावली, पृष्ठ १९३।२१७**

**५. कविप्रिया, केशव, पृष्ठ २००।४६**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



समन्वय प्राप्त होता है, पर 'रूप' का आग्रह अधिक है। सत्य में, रीति काव्य में रूढ़ि परम्पराओं के पालन के साथ उन परम्पराओं में नवीन उद्भावनायें भी यदा कदा मिल जाती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि परिपाटीगत प्रतीक, भावों तथा संवेदनाओं की दृष्टि से, कहीं अधिक हृदयग्राही एवं स्वाभाविक हैं। इन प्रतीकों के द्वारा हमारी प्राचीन परम्परा का एक कलात्मक उन्मेष ही भी प्राप्त होता है।

—(डॉ०) वीरेन्द्र सिंह

० ० ०

## हिन्दी-साहित्य और गोर्की

इतिहास बताता है कि जब-जब संसार के विभिन्न देश पारस्परिक सम्पर्क में आये; उन्होंने जीवन के अनेक क्षेत्रों में एक दूसरे को प्रभावित किया। सांस्कृतिक आदान-प्रदान की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है। साहित्य अहं के विस्फोट की अपेक्षा युग-सापेक्ष्य अधिक है। प्रत्येक युग की विचारणा साहित्यिक मन्तव्यों, गतिविधियों, कलात्मक अभिरुचियों तथा साहित्यिक विधाओं को प्रभावित व नियंत्रित करती है। साहित्यकार की मनीषा का अंश भी युग की विचारणा को प्राप्त होता है और इस प्रकार साहित्यकार युग-धर्म का निर्वाह करता हुआ युग-निर्माण की महत्वपूर्ण भूमिका भी सम्पन्न करता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में मुद्रण-यंत्र एवं आवागमन के शीघ्रगामी साधनों के कारण विभिन्न देशों का वैचारिक तथा जनसम्पर्क अत्यधिक सुगम और सुलभ हो गया है। हिन्दी-साहित्य, अन्य भाषाओं के साहित्यों के समान ही, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से, संसार के नवीन आन्दोलनों व वादों से कम या अधिक प्रवाहित हुआ है। ब्रिटिश आधिपत्य के कारण, हिन्दी-साहित्य पर यद्यपि आंग्ल-साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है तथापि हिंदी लेखक रूसी साहित्य तथा साहित्यकारों के श्रेष्ठ कृतित्व से कभी अनभिज्ञ भी नहीं रहे। जहां तक मैक्सिम गोर्की का संबंध है, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनके व्यक्तित्व तथा विचारों से समस्त विश्व-साहित्य प्रभावित हुआ है। उनकी धारणाओं को अपनाकर संगठित रूप से साहित्य-सर्जन तथा साहित्य-समीक्षा का आन्दोलन संसार के प्रायः सभी जागरूक देशों में दृष्टव्य है। साहित्य में प्रगतिशील विचारधारा को सही अर्थों में प्रतिपादित करने तथा समाजवादी यथार्थवाद के पुरस्कर्त्ता के रूप में गोर्की का नाम अमर है।

मैक्सिम गोर्की का जन्म २२ मार्च सन् १८६८ ई० में हुआ। चौबीस वर्ष की आयु में अर्थात् सन् १८९२ में उनकी प्रथम कहानी 'मकर छुद्रा' प्रकाशित हुई तथा तीस वर्ष की आयु में अर्थात् सन् १८९८ में उनकी कहानियों तथा यात्रा-वर्णनों के दो संग्रह प्रकाशित हुए। इन संग्रहों के प्रकाशित होते ही गोर्की सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये तथा उनकी गणना टॉल्सटॉय और चैखोव के साथ की जाने लगी। सन् १८०६ में उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय रचना 'माँ' प्रकाशित हुई। मक्सिम गोर्की का देहान्त १८ जून सन् १९३६ में अर्थात् लगभग ६८ वर्ष की अवस्था में ही हो गया। इस प्रकार उन्होंने सन् १८९२ से जीवन के अंतिम वर्ष तक—लगभग चवालीस वर्षों तक साहित्य-



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



निर्माण का कार्य किया। इस बीच उन्होंने अनेक कविताएँ, गीत, उपन्यास, नाटक, यात्रा-वर्णन, संस्मरण, निबंध आदि लिखे। उनका कृतित्व गहन व्यापक और वैविध्यपूर्ण है।

मैक्सिम गोर्की का व्यक्तित्व महान् था। वे केवल लेखक ही नहीं थे, प्रत्युत क्रांतिकारी गतिविधियों में प्रमुख रूप से सक्रिय योग भी देते थे। उनका प्रारम्भिक जीवन अत्यधिक संघर्षपूर्ण तथा कटु घटनाओं के मध्य व्यतीत हुआ था। सन् १९१७ की अक्टूबर-क्रांति के पूर्व गोर्की को जिन विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा उन्होंने ही वास्तव में गोर्की को महान् बनाया। जीवन के विविध क्षेत्रों के निकटतम सम्पर्क तथा दूरस्थ स्थानों के भ्रमण के कारण गोर्की के साहित्य में अनेक जीवन्त तत्त्वों का समावेश अनायास ही हो सका। यही जीवन्त तत्त्व तथा अनुभूति जीवन-दृष्टि उनकी कृतियों की अमरता का मूल रहस्य है। उनकी कथनी और करनी की एकता अप्रतिम है; अनुकरणीय है। हिन्दी के अनेक साहित्यकारों ने गोर्की के जीवन से प्रेरणा ग्रहण की है तथा उनकी साहित्यिक ईमानदारी से प्रभावित होकर तज्जन्य जीवन को वरण किया है।

मैक्सिम गोर्की के साथ हिन्दी में सर्वप्रथम उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद का नाम लिया जाता है। प्रेमचंद की जीवनी इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वे गोर्की को कितना चाहते थे। गोर्की की मृत्यु पर, अस्वस्थ होते हुए भी, उन्होंने शोक-सभा के लिए भाषण लिखा था। प्रेमचंद जी का भी जीवन तपस्या का जीवन था। यह अवश्य है कि गोर्की के समान उन्हें संघर्ष नहीं करना पड़ा तथा प्रारम्भ में गोर्की के समान उनके पास वह दृष्टि भी नहीं थी। पर, इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद गोर्की से क्रमशः प्रभावित हो रहे थे और अपनी अंतिम रचनाओं में उनके मानवतावाद का विकास सही दिशा में उत्तरोत्तर विकसित हो रहा था। हिन्दी के समीक्षकों ने प्रेमचंद और गोर्की की तुलना करके तथा एक को दूसरे से श्रेष्ठ या समकक्ष रखकर भ्रांतियों का पोषण किया है। तुलनात्मक अध्ययन तो तभी उपयुक्त हो सकता था यदि नई दृष्टि-सम्पन्न प्रेमचंद और जीवित रहते तथा 'गोदान' के पश्चात् सामाजिक यथार्थ की पुष्टतर कृतियाँ प्रस्तुत करते। फिर भी, प्रेमचंद और गोर्की की बात इतनी असंगत नहीं है; जितनी कि कुछ समीक्षक सोचते हैं। सन् १९३० के लगभग भारतीय भाषाओं में गोर्की की रचनाओं के अनुवाद होने लगे थे। प्रेमचंद तथा परवर्ती प्रगतिशील हिन्दी-साहित्य पर गोर्की के सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

गोर्की के लिए साहित्य का उद्देश्य था, "मनुष्य को अपने आपको समझने में सहायता देना। उसके विश्वास को बढ़ाना तथा उसमें सत्य की अनुभूति उत्पन्न करना, मानव की क्षुद्र प्रवृत्तियों से संघर्ष करना, उसकी अच्छाइयों को खोजना और उसके हृदय में ग्लानि, क्रोध और साहस को जगाना। यह सब इसलिए कि मनुष्य उदात्त और दृढ़ बन सके तथा अपने मन को सौन्दर्य की पवित्र भावना से प्रेरित कर सके।" इस प्रकार गोर्की का साहित्य मानव की गरिमा से ओतप्रोत है। उन्होंने मनुष्य की महानता को समझा था; तभी वे मानव-जीवन में आस्था की भावना दृढ़ करने वाले साहित्य की रचना कर सके। अपने 'निचले तले पर' शीर्षक नाटक के एक पात्र के द्वारा वे मनुष्य के संबंध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "मनुष्य ! कितना भव्य ! इस शब्द की ध्वनि कितनी गर्वीली है। मनुष्य का आदर करना चाहिए। उस पर तरस नहीं दिखाना



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चाहिए। दया दिखा कर उसका अपमान न करना चाहिए। उसका आदर करना चाहिए।" हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों ने मानवीय गरिमा के अनेक सुन्दर चित्र अपनी कला-कृतियों में अंकित किये हैं। उनमें और गोर्की की धारणा में पर्याप्त साम्य है; क्योंकि जिस जनवादी परम्परा का गोर्की अनुसरण कर रहे थे वही हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारों का भी लक्ष्य था। गोर्की के समान उन्होंने भी कला को जनहित से सम्बद्ध करके देखा। गोर्की ने अपनी कला के संबंध में एक स्थल पर लिखा है, "मैं यदि समीक्षक होता तो लिखता कि जिस शक्ति ने गोर्की को गोर्की बनाया है, वह मानव-श्रम व्याप्त है। मैं कहता कि गोर्की इस कारण गोर्की बना कि उसने मानव-श्रम की महत्ता को समझा, उस मानव-श्रम की महत्ता को जो संसार में हर मूल्यवान सुन्दर और महान् वस्तु का निर्माण करती है।" अनेक आलोचकों ने गोर्की के उपर्युक्त वक्तव्य को विश्व-साहित्य में नया स्वर घोषित किया है। हिन्दी-साहित्य में मानव-श्रम की प्रतिष्ठा अपने सर्वाधिक सशक्त रूप में प्रगतिशील आन्दोलन के साथ ही देखने में आई। किसानों-श्रमिकों को साहित्य में समाहृत करने का श्रेय प्रगतिशील लेखकों को ही दिया जाता है।

गोर्की के साहित्य की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें शोषित और शोषक दोनों का ही विस्तार से चित्रण किया गया है। गोर्की सामाजिक विकृतियों, कुरीतियों तथा असंगतियों के मात्र चित्रण से ही संतुष्ट नहीं हो जाते। वे उनकी निन्दा भी करते हैं तथा पाठकों के हृदय में उनके प्रति आक्रोशभाव को भी जागृत करते हैं। उनके पूर्व यथार्थवादी रचनाओं में अधिकतर शोषित पात्रों का ही विवरण रहता था। गोर्की ने शोषण को और अधिक गहरा रंग देने के लिए शोषक-वर्ग को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया। हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों पर गोर्की की इस कला और विचार-पद्धति का प्रभाव भी कुछ कम नहीं पड़ा है। पर, जहाँ तक समग्र हिन्दी-साहित्य पर गोर्की के प्रभाव का प्रश्न है यह अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी-लेखक गोर्की की समस्त विशेषताओं को आत्मसात कर चुके हैं। वास्तव में गोर्की का साहित्य भारत में दिन-प्रतिदिन लोकप्रिय होता जा रहा है। यह लोकप्रियता इस बात का संकेत है कि भारतीय साहित्य भविष्य में गोर्की से और प्रभावित होगा तथा उससे नई प्रेरणा ग्रहण करेगा। आगे यह प्रभाव गोर्की की प्रत्यक्ष कृतियों के माध्यम से आयेगा जब कि पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य गोर्की के सिद्धान्तों व विचारों से अधिक प्रभावित व संचालित है।

**--(डॉ०) महेन्द्र भटनागर**

## प्राचीन राजस्थानी कवि 'भंडारी उदयचंद'

राजस्थान में भाषा और साहित्य की विक्रम संवत् १७०० से १९०० तक की अवधि में सर्वांगीण उन्नति हुई। इसीलिए विद्वानों ने इस काल को "स्वर्णयुग" की संज्ञा दी है।[1] इस काल

---

१. मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य; पृष्ठ १९४



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



में काव्य के सभी अंगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण किया गया। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम ने "भाषा भूषण" की रचना के साथ जिस परंपरा का समारंभ किया था वह सम्वत् १९०० तक विद्यमान रही। कालान्तर में इन्हीं के वंशज महाराजा मानसिंह के काल में अनेकों कवियों ने रीति एवं नीति संबंधी कई अप्रतिम ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथकारों में भंडारी बंधु श्री उत्तमचन्द एवं श्री उदयचंद का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

भंडारी उत्तमचंद[1] जोधपुर महाराजा के सचिव थे। इन्होंने "अलंकार आशय" नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह उस काल में अलंकारों पर अत्यधिक प्रचलित ग्रंथ था। इनके कनिष्ठ भ्राता थे भंडारी उदयचन्द। ये बड़े साहित्यमर्मज्ञ एवं तत्वज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति थे। महाराजा मानसिंह के ये सचिव थे। इनका जन्म संवत् १८४० में जोधपुर में हुआ था। इन्होंने अपना वंश परिचय इस प्रकार दिया है:——

**चैन कुसलवत ताहिते उत्तम उदय जुग भ्रात।**
**भंडारी नृप के सचिव ओसवाल बड़ ग्यात॥**
**दया दीप्त लाडला जिन धरम मं तपे गच्छ बुद्ध सुद्ध।**
**सबसे समता सुजनता काहूं सो न विरुद्ध॥**
**उत्तम उग्र जुग जाहीं ते उग्र वंश ही होत।**
**उदय पुत्र उद्योतकर उदित वंश उद्योत॥**

भंडारी उदयचन्दजी के प्रायः सभी ग्रंथ उनकी स्वयं की लेखनी से लिखे हमारे संग्रह में विद्यमान हैं।[2] इन्होंने डिंगल एवं पिंगल दोनों में रचना की थी। इनके ग्रंथों की सूची इस प्रकार है:——

(अ) पंचरत्न : (१ वंदना, २ करुणा बत्तीसी, ३ जुक्त प्रकाश, ४ विनती, ५ प्रश्नोत्तर वार्ता।)

(आ) अष्टरत्न : (१ ज्ञान प्रदीपिका, २ भक्त प्रबोध, ३ आनपूर्वी, ४ ज्ञान सत्तावनी, ५ ब्रह्मविनोद, ६ ब्रह्मविलास, ७ विज्ञविलास, ८ विज्ञविनोद)

(इ) विचार-संग्रह : (१ विचार चंद्रोदय, २ आतम रत्न माला, ३ विवेक पच्चीसी, ४ ज्ञान प्रभाकर छत्तीसी, ५ आतम पचासका, ६ षटमतसार, ७ विचार सार)

(ई) आतम प्रबोध।

(उ) आतमसार।

(ऊ) श्री शनिश्चरजी की कथा, लघु एवं वृद्ध चाणक्य नीति।

---

**१. देखिए, अमरज्योति, प्रस्तुत लेखक का 'महाराजा मानसिंह के समकालीन कवि' शीर्षक लेख।**

**२. श्री दौलतराम मेहता प्राच्य ग्रंथागार, जोधपुर।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



(ए) श्री सौभाग्य लक्ष्मी स्तोत्र।

(ऐ) शिखनख।

(ओ) स्वरोदय।

(औ) ज्योतिष।

(अं) कोकपद।

(अ:) साहित्य सार:(१ छंद प्रबंध, २ शब्दार्थ चंद्रिका, ३ दूषण दर्पण, ४ रसनिवास, ५ छंद विभूषण, ६ प्रस्तार प्रबंध)

(क) कोष: आतम रत्नमाला[1] तथा हेमचंद्राचार्य कृत अभिधान चिंतामणी का राजस्थानी अनुवाद।

(ख) जीवनी—मान मंडन विलास।

(ग) स्फुटपद।

इन रचनाओं के अतिरिक्त इनके लिखे कुछ अपूर्ण ग्रंथ भी मिलते हैं। इनमें केशवदास कृत "कविप्रिया" की टीका, भर्तृहरि कृत 'नीतिशतक' का डिंगल काव्यानुवाद तथा 'मोक्षमार्ग वचनिका" (जैन) उल्लेखनीय है।

इन्होंने कतिपय फारसी कथाओं का भी राजस्थानी गद्य में अनुवाद किया था। अनुवाद के कुछ पृष्ठ हमारे देखने में आये हैं।

भंडारी जी काफी समय तक देशाटन करते रहे। इन्होंने "छंद प्रबंध" ग्रंथ की रचना नागपुर में की थी। ये कुछ समय तक डीडवाने तथा बालोतरा में भी रहे।

नागौर के कवि सेवक मूलचन्द (१८८५) ने इनके संबंध में दो छप्पय कहे थे। हमें ये छप्पय महाराजा मानसिंह के समकालीन कवियों की रचनाओं को ढूंढ़ते समय मिले। छप्पय इस प्रकार है:—

सरस गुणां समंद वसुधा सको वखाणे,
रचे जुगत कर ग्रंथ उदयचंद बेद प्रमाणे,
दया धर्म उर धार सील साझे सत धारी,
चैन सुत कुल माहीं भान ज्यूं तपो भंडारी।
कुसलेस हरा दांनतलियां मंत्री पूत जोधाण रे,
देख्यो न इसो कानां सुण्यों उदय जैपुर बीकाण रे।
पूरब पुण्य प्रताप धरा में हुओ प्रमाणे,
पाई सघर सरस्र जिको जग सगलो जाणे,
मेटे चिंता मुकर हाव मन लहे साची,
आसा पूरे अवस भंडारी करे अजाची।

---

१. देखिए, 'ज्वाला', प्रस्तुत लेखक का 'आत्म रत्नमाला'—एक परिचय शीर्षक लेख।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चहूं देश देश भटकत फिर्‌यौ देख्यो नह को अवर नर,
मन धार व्रत इसड़ी सुकव जांचू एक ही कुसल घर।

इनकी अंतिम रचना "मान मंडन विलास" है। इसकी रचना महाराजा मानसिंह के देहावसान (सम्वत् १९००) के पश्चात् की गई थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका देहान्त सम्वत् १९०० के बाद हुआ था।

इनकी रचनाओं को देखने से इनकी सहृदयता, रचनाकौशल तथा विषय एवं भाषा पर पूरा अधिकार अच्छी तरह से प्रमाणित होता है।

—मदनराज दौलतराम मेहता

० ० ०

## भोजपुरी लोकगीतों में सांस्कृतिक तत्व

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा की 'संस्कृ' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से बनता है जिसका शाब्दिक अर्थ 'अच्छी स्थिति', 'सुधरी हुई स्थिति' आदि का बोधक है। लेकिन यह शब्द और भी अधिक व्यापक और विशुद्धि का द्योतक है। 'संस्कृति' में देश काल के अनुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ करते हैं किन्तु उसकी सत्ता सदैव बनी रहती है। भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में से एक है। आज मिस्र, रोम और चीन की प्राचीन संस्कृतियाँ लुप्त सी हो गई हैं किन्तु भारतीय संस्कृति अपनी सत्ता बनाये हुए है क्योंकि भारतीय संस्कृति की आत्मा लोक-संस्कृति है। यही इसकी विशेषता है।

"भारतीय लोक-संस्कृति की आत्मा भारतीय साधारण जनता है, जो नगरों से दूर गावों, वन, पर्वतों में निवास करती है। 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' यही भारतीय लोक-संस्कृति का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त का स्वभावतः पालन करती हुई भारतीय साधारण जनता ब्रह्म-तत्व और माया-तत्त्व को अनायास समझती है। भारतीय ग्रामवासिनी संस्कृति के मूलाधार, जिन्हें आज की परिभाषा में अपढ़, गँवार कहा जाता है, भारतीय संस्कृति के जीवित, जाग्रत प्रहरी हैं।"[१] इनके गीतों में मानव की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और जीवन सम्बन्धी सभी चेतनाओं के रूप दृष्टिगोचर होते हैं, जो संस्कृति के विशेष अंग हैं। इस भाँति लोकगीतों में सांस्कृतिक तत्वों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दर्शन होता रहता है।

भारतीय समाज व्यवस्था की महत्वपूर्ण इकाई संयुक्त परिवार है। प्रत्येक परिवार में बाबा मालिक होते हैं। उन्हीं पर परिवार का सारा उत्तरदायित्व होता है। उन्हीं से लड़की कहती है—"बर खोजु, बर खोजु, बर खोजु रे बाबा, अब भइलों बिअहन जोग ए।" माता घर के अन्दर का प्रबन्ध करती है। हमारे वैदिक ग्रन्थों में सोलह संस्कारों का वर्णन मिलता है जिसका मुख्य उद्देश्य था—विभिन्न संस्कारों द्वारा मानव की प्रतिभा और योग्यता का पूर्ण विकास। आज समाज में

---

१. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृष्ठ १८



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



केवल पांच संस्कार——जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह और अंतेष्टि संस्कार ही प्रचलित हैं जिनका लोकगीतों में उल्लेख मिलता है। इन संस्कारों के रूप में भी परिवर्तन हो गया है, जैसे जातकर्म——इसे बालक के जन्म लेते ही किया जाता था। बालक का पिता सोने की सलाई द्वारा घी और शहद से बालक की जिह्वा पर 'ओंम' लिखता था किन्तु आज इस अवसर पर 'सोहर' गाने की प्रथा है। यह 'सोहर' भी केवल पुत्र पैदा होने पर ही गाया जाता है, लड़की पैदा होने पर 'सोहर' नहीं गाया जाता। पुत्र पैदा होने पर सारा परिवार खुशी मनाता है। परिवार में एक 'रंगीनी' छा जाती है। माता-पिता अपने भाग्य को सराहते हैं। सभी माताएँ अपने पुत्र को राम और कृष्ण ही समझती हैं। लोकगीतों में सर्वत्र ही पुत्र के लिए राम और कृष्ण का प्रयोग मिलता है। एक भोजपुरी 'सोहर' में दिखलाया गया है कि एक माँ अपने बच्चे को किस तरह नहला-धुलाकर और उसका श्रृंगार कर रही है। 'सोहर' इस प्रकार है——

**सुरही भइया के दूध त कृस्न नहवाइले,**
**पाट पिताम्बर अंग पोछन, सिंहासन बइठाइले हो।**
**बबुआ के ऊँच लिलरवा देखक निक लागे,**
**करीं वसुदेव जी चनन अँगुरिया मति डोलै हो।**
**बबुआ के बड़ी बड़ी अँखिया देखत निक लागे,**
**करी ना जसोदा मइया काजर अंगुरिया मति डोलै हो।**

प्रत्येक माँ-बाप चाहे वे गरीब हों या धनी, यशोदा-नंद की भाँति ही अपने बच्चों को प्यार करते हैं, उनका श्रृंगार करते हैं। जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते हैं तो उनका चूड़ाकर्म संस्कार होता है जिसे मुंडन भी कहते हैं। यह संस्कार दोनों के लिए होता है। इसी समय बच्चों का प्रथम बार किसी नदी या तालाब के किनारे बाल काटे जाते हैं। इस समय भी 'सोहर' गाने की प्रथा है जिनमें एक उत्साह भरा होता है। इस समय गंगा से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं। एक गीत में कोई स्त्री कह रही है कि हे गंगा! अब मैं नहीं आऊँगी। मैं थक गई। मरे पैरों में दर्द होने लग गया, अब मैं नहीं आऊँगी। फिर वही स्त्री कह रही है——हे गंगा! मैं फिर आऊँगी, दुबारा आऊँगी। अपनी गोदी में बालक लेकर फिर आऊँगी——

**अब ना अइबो ए गंगा, अब ना अइबो हो,**
**मोरे गोड़वा बथेला, गंगा अब ना अइबो हो।**
**फेनु अइबो ए गंगा, फेनु अइबो हो,**
**गोदिया बलकवा लेके, फेनु अइबो हो।**

ऊपर के गीत से ज्ञात होता है कि स्त्रियों में संतान की कितनी प्रबल इच्छा होती है। ये यही कहती हैं कि मैं बालक लेकर पुनः आपके किनारे उसका मुंडन कराने आऊँगी। वास्तव में लोक में इस प्रकार का विश्वास है कि जो व्यक्ति पापी होते हैं या पूर्व जन्म में बुरे कर्म किये रहते



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हैं, उनके संतान नहीं होती। बेचारे 'निरवंशी' कहलाने लगते हैं। जनता उनको देखना अपशकुन समझती है। साथ ही यह भी होता है कि संतान नहीं है तो मरने पर पानी कौन देगा? इस भाँति निरवंशी के लोक-परलोक दोनों के बिगड़ने की शंका रहती है। इसलिए प्रत्येक ग्रामीण की यही अभिलाषा होती है कि मुझको संतान अवश्य हो।

ब्राह्मण, क्षत्रिय के लिए जनेऊ एक विशेष संस्कार है। जनेऊ को यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार भी कहते हैं। उपनयन संस्कार होने पर ही मनुष्य द्विज होता है। आज उपनयन संस्कार का रूप बदल गया है। आज इसमें द्विज बनने की भावना कम और परम्परा पालन या वैभव प्रदर्शन की भावना प्रमुख रहती है। जनेऊ के गीतों में 'बरुआ', 'मूँजी-मेखड़ा', 'भिक्षा माँगने' एवं विद्या-ध्ययन के लिए काशी जाने का उल्लेख मिलता है। लड़का अभी दो पग ही गया रहता है कि माँ बुला लेती है कि तुम्हारे दादा पंडित हैं, लौट आओ, वे घर पर ही पढ़ायेंगे। इस तरह हिन्दू समाज में यज्ञोपवीत की पुरानी प्रथा प्रचलित है। उपनयन, वेदारंभ और समावर्तन संस्कार सभी कुछ एक घंटे में हीं हो जाता है। एक लड़का अपने पिता से कह रहा है कि मेरा जनेऊ कीजिए——

**कुंइया जगत पर मुँजहि के रा झुरवा,**
**चिरेले कवन बाबा मुंजि रे।**
**तहँवा कवन बरुआ अत नधिअइले,**
**दीहीं बाबा पियर जनेव, दीहीं चाचा नवगुन।**
**झरलनि झुरलनि जांघे बइठवले,**
**हम देबों नवगुन, हम देबों पियर जनेव।**

भोजपुरी क्षेत्र में विवाह विशेष धूम-धाम से मनाया जाता है। आज प्रचलित संस्कारों में विवाह सब से महत्वपूर्ण है। लड़के का विवाह हो या लड़की का, प्रत्येक पिता इस संस्कार को धूम-धाम से सम्पन्न करता है। यदि घर में रुपया नहीं है तो कर्ज लिया जाता है। भोजपुरी में एक कहावत है——'सादी कि बादी' अर्थात् खर्च या तो विवाह में होता है या मुकदमे में। वर पक्ष और कन्या पक्ष के गीत अलग अलग होते हैं। वर पक्ष के गीतों में एक उत्साह होता है, उमंग होती है, खुशी होती है और कन्या पक्ष के गीतों में नम्रता होती है, एक करुणा होती है। जब लड़के की बारात जाती है तो स्त्रियां गाती हैं कि हे अमुक बाबा! हाथी को सजाइये, घोड़े को सजाइये। श्रीराम की बारात जा रही है——

**हाथी साजो घोड़ा साजो, साजो ए कवन बाबा,**
**राम के जात बाराति हो।**

कन्या पक्ष की स्त्रियाँ गाती हैं——

**आपनि खोरिया बहार एन कवन बाबा,**
**राम के आवत बाराति हो।**
**जे मोरा राम के नजरी लगइहें,**
**मरबों में लोढ़वन मारि हो।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भारतीय संस्कृति की लोक-मंगल की भावना विवाह के 'चुमावन' नामक गीत में दृष्टि-गोचर होती है। विवाह में जब कोई विशेष विधि होती है तो उसके बाद वर एवं कन्या को घर की अन्य स्त्रियाँ उनके हाथ में चावल, दूब एवं चाँदी या सोना रखकर उन्हें चूमती एवं आशीर्वाद देती हैं। वे गाती हैं—

**साठी के चउरा लहालरी दूबि रे।**
**चूमही चले ली अमुक देई, बड़ा रे पंडितवा के धीय।**
**मन भरी चुमीह अमुक देई, हिय भरी दीह असीस।**
**मथवा चुमीय चुमीय देली असीस रे, जियसु दुलहा दुलहिनि लाख बरीस।**

इस 'चुमावन' में जब कोई लड़की चूमने जाती है तो उसके लिए 'बड़ा रे पंडितवा के धीय' और जब कोई बहू चूमने जाती है तो 'हर जोतवा के री धीय' का प्रयोग होता है। यहां पर बहू के प्रति एक हास्य है। इससे ज्ञात होता है कि हमारे लोक-जीवन में हास्य का कितना महत्व है।

हमारे ग्रामों की रचना वर्ण व्यवस्था के आधार पर हुई है। जहां ब्राह्मण पूजा-पाठ करते-कराते हैं, क्षत्रिय जमींदार हैं, जो एक शासक के रूप में हमारे सामने आते हैं, वैश्य खेती करते हैं, ब्राह्मणों और क्षत्रियों की आवश्यकताएँ पूर्ण करते हैं और शूद्र इनकी सेवा करते हैं। इसका विशद रूप एक सोहर में मिलता है। इसमें दिखलाया गया है कि जब कृष्ण का जन्म हुआ तो ब्राह्मण पत्रा लेकर, तेलिन तेल लेकर, तमोलिन पान लेकर, मालिन हार लेकर और बढ़ई पालना लेकर नंद जी के यहाँ आये हैं—

**धनि यह पंडित, धनि यह रोहिणी, धनि रे भदउवा के री रात।**
**कन्हैया जी के जनम भयो।**
**धनि रे जसोदा रउरे भागि खेलावे कृस्न गोद में।**
**हुलसि हुलसि जीय होत त, दूध पियावहीं।**
**तेलिनि ले आवे तेल, तमोलिनि पानवा,**
**मालिनि ले आवे हार, कन्हैया पहिरावहीं।**

गाँवों में ब्राह्मण, तेली, तमोली, माली और बढ़ई आदि अपना-अपना काम करते है अन्य, लोग इन्हें अन्न-पैसा देते हैं किन्तु धीरे-धीरे यह सामाजिक व्यवस्था विशृंखल हो रही है। ये लोग केवल अपना काम नहीं कर रहे हैं वरन् कुछ खेती भी कर रहे हैं और कुछ नौकरी पेशा अपना रहे हैं क्योंकि उनके अपने काम से पेट नहीं भर रहा है। यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय समाज-व्यवस्था की प्रथम इकाई संयुक्त परिवार और वर्ण-व्यवस्था में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। इन दोनों प्रणालियों के परिवर्तन से हमारे देश के भविष्य पर भी प्रभाव पड़ेगा।

लोक परम्परा और लोकगीतों से ज्ञात होता है कि समाज में स्त्रियों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। कोई भी पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा या यज्ञ बिना पत्नी के सफल नहीं होता। जब रामचन्द्र



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



जी राजसूय यज्ञ कर रहे थे तो उनको सोने की सीता की प्रतिमा बनानी पड़ी थी, क्योंकि सीता जी वन में थीं। लोक की यही पुकार थी—

"रामा! बिना रे सीता जग्गि सूनि"।

वास्तव में भारतीय नारी की महानता तो उसके सतीत्व में है। वह मन, वचन और कर्म से पातिव्रत धर्म का पालन करती है। सावित्री ने अपने सतीत्व के बल से ही अपने मरे हुए पति सत्यवान को जीवित करा लिया। भोजपुरी में अधिकतर ऐसे लोकगीत मिलते हैं, जिनमें भारतीय नारियों के सतीत्व का उल्लेख है। एक गीत में यह उल्लेख है कि जब चौदह वर्ष बाद राजा रामचन्द्र वन से लौट कर आते हैं, तब वे सोचते हैं कि दूसरे के घर में रही हुई सीता की परीक्षा होनी चाहिए। गीत इस प्रकार है—

**कवन आम पियर कवन आम हरियर, कवन आम सेनुरवा के जोति ए।**
**ई तीनु आमावा के, के सीरिजल, कवन पापी लगन सोचाई ए।।**
**चौदहों बरिस पर अइले राजा रामचन्द्र, सीता बिचरवा हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई अगिनी हाथे लिहली रे, अगिनी भइली जुड़ पानी ए।।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, अदित बिचरवा हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई अदित हाथे लिहली रे, अदित छपित होई जाइ ए।।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, सरप बिचरना हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई सरप हाथ लिहली रे, सरप बइठे फेटा मारि ए।।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, गंगा बिचरवा हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई गंगहि हाथ लिहली रे, गंगहि परि गइले रेत ए।।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, तुलसी बिचरवा हम लेबि ए।**
**इहो किरियवा सीता हम ना पतियाइबि, तुलसी बिचरवा हम लेबि ए।**
**जब रे सीता देई तुलसी हाथ लिहली, तुलसी गइली सुखाई ए।।**

जब सीता जी ने अपनी शुद्धता दिखलाने के लिए अग्नि हाथ में ली, तब वह बिल्कुल ठंडी हो गई, उन्होंने जब सूर्य को अपने हाथ में उठा लिया तो वह लेते ही अस्त हो गया, सर्प फन फैला कर हथेली पर बैठ जाता है, गंगा को हथेली में लेते ही, वह सूख जाती है और तुलसीदल भी सूख जाता है। प्रत्येक परीक्षा में सीता जी की पवित्रता, इनका सतीत्व प्रगट हुआ किन्तु प्रत्येक बार रामचन्द्र यही कहते हैं कि मैं इस परीक्षा को सत्य नहीं मानता। अंत में राम ने सीता जी को बनवास दे दिया, तब सीता जी ने क्रुद्ध हो कर कहा कि मैं ऐसे पुरुष का मुंह नहीं देखना चाहती जिसने मुझे बनवास दिया है। यदि धरती फट जाती तो मैं उसी में विलीन हो जाती। अब मैं इस दुष्ट संसार को देखना नहीं चाहती—

**अइसन पुरुखवा के मुँह नाहिं देखबि, जिनि राम देले बनवास ए।**
**फटि जइती धरती अलोप होई जइतीं रे, अब ना देखबि सनसार ए।।**



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ऊपर के लोकगीत में भारतीय नारी का सतीत्व दृष्टिगोचर होता है। इसके सतीत्व के बल से आग पानी हो जाता है, सूर्य अस्त हो जाता है, सर्प फन फैला कर बैठ जाता है और गंगा सूखती जाती है। इसी कारण वह संसार में पूज्य है। साथ ही दुष्ट पुरुषों द्वारा नारी पर किया गया अत्याचार भी प्रगट होता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में अस्पृश्यता का कोई स्थान नहीं था। 'पुरुष सूक्त' में शूद्रों को परमात्मा के पैरों से उत्पन्न बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि समाज को शूद्रों की नितान्त आवश्यकता है। लोकगीतों एवं लोक-परम्परा से ज्ञात होता है कि इन शूद्रों का हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। जब बच्चा पैदा होता है, तो सब से पहले चमारिन बुलाई जाती है। वह जच्चा और बच्चे की कम से कम बारह दिनों तक सेवा करती है। विवाह के समय चमार के बाजे की पूजा होती है और लड़के के विवाह में 'सिंगा' (तुरही) बजना ही चाहिए जिसे डोम बजाते हैं और मरने पर भी डोम की दी हुई आग ही व्यक्ति के मुँह में दी जाती है। इस भाँति जन्म से मृत्यु तक इनकी आवश्यकता पड़ती है। छुआछूत का भेद-भाव हमारे समाज के लिए एक कलंक है। गांधी जी ने इस राज-रोग को मिटाने के लिए मरते दम तक प्रयत्न किया। उसका प्रभाव गाँवों पर भी पड़ा। जनता गाने लगी——

**मान गाँधी के बचनवा, दुखवा हो जइहैं सपनवा,**
**तन से उतार कपड़ा विदेसी, खदर के कइल धरनवा।**
**छुआछूत के भेद मेटा के, एक साथ कइल भोजनवा।**

कहा जाता है कि भारत में दूध-दही की नदियाँ बहती थीं। इसकी पुष्टि लोकगीतों से ही होती है क्योंकि लोकगीतों में सुखी और समृद्ध भारत का उल्लेख हुआ है। अधिकतर गीतों में 'सोने की थारी में जेवना परोस लो', 'झंझर गडुअवा गंगाजल पानी', 'पाँच-पाँच पनवा के बिरवा लगवलों', और 'फूल हजारी के सेज डसवलों', का उल्लेख मिलता है। लड़की के विवाह में भले ही एक भी गहना न आया हो किन्तु स्त्रियां गुरहथी के समय सैकड़ों गहनों का नाम गिनाती हैं और सभी चाँदी, सोने और मोती के ही होते हैं। भोजन के समय छप्पनों प्रकार के व्यंजनों के नाम गिनाये जाते हैं। स्त्रियाँ गाती हैं——

**दालि भात मयदा की रोटी,**
**तेहि पर घीव चभोरी जी।**
**नौ नौ भाँति बनी तरकारी,**
**कृस्न बड़ा रस भोगी जी।**

ये लोकगीत एक धनी परिवार से लेकर, एक महादरिद्र के घर भी गाया जाता है जिनके घर में सोने की थाली को कौन कहे, लोहे की भी थाली नहीं होती वहाँ यह गीत उसी तन्मयता से गाया जाता है। लोगों को इसमें आनन्द मिलता है क्योंकि भले ही वे रुपये-पैसे के ग़रीब हैं किन्तु दिल के धनी।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ग्राम-समाज एक मौखिक विश्वविद्यालय है। हाँ, वहाँ पर अक्षर-ज्ञान की कमी है किन्तु एक चमार से लेकर ब्राह्मण तक एक दूसरे को ज्ञान-दान करते रहते हैं। जब चमार आत्मविभोर होकर 'निर्गुन' गाता है तो इस जीवन की नश्वरता ज्ञात होती है--

**इ देहिया कागद की पुड़िया,**
**बूँद पड़े गलि जाना जी।**

यह शरीर कागज के समान है, जो पानी पड़ते ही गल जाता है। यदि कोई बुरा काम करता है तो वे (ग्रामीण) तुरंत कहते हैं जो गड्ढा खोदेगा, वही उसमें गिरेगा--'जे गाड़ा गड़ाई करी, से भाड़ा भरसाई परी।' इस भाँति भजन, कहावत और मुहावरे आदि उनके जीवन के अंग हैं।

भोजपुरी लोकजीवन कलामय है। इसमें चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला आदि कलाओं का दर्शन होता है। भोजपुरी में धरती पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को 'चउका' (चौक) और दीवालों पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को 'भित्ति-चित्र' कहते हैं। इसको भी राहुल जी ने 'थापा' या 'ठापा' कहा है किन्तु यह नाम उचित नहीं है क्योंकि केवल हथेली की छाप को 'थापा' कहते हैं और भित्ति-चित्र में थापा के अतिरिक्त और कई प्रकार के चित्र बनाये जाते हैं। त्यौहार, पूजा-पाठ एवं अन्य धार्मिक कृत्यों के समय 'चौक' पूरा जाता है। महाराष्ट्र में इसे 'रंगोली' कहते हैं। वहाँ पर इसका बहुत ही चलन है। यह चौकोर होता है और उसके अन्दर अन्य डिजाइनें बनाई जाती हैं। इसके लिए अधिकतर आटा (सफेद रंग के लिए) गुलाल (लाल रंग के लिए) का प्रयोग होता है। जब कभी कोई व्यक्ति धार्मिक-कृति के लिए चौक पर बैठता है तो गाया जाता है कि गाय के गोबर से आँगन लीपा गया और गजमुक्ता से चौक पूरा गया—

**गाई का गोबरे महादेव आँगन लिपाई,**
**आहो गजमोतिया महादेव चउक पुराई।।**

भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के भित्ति-चित्र अंकित किये जाते हैं। विवाह में लड़के और लड़की वाले के यहाँ एक घर में चित्रकारी की जाती है, जिसे 'कोहबर' कहते हैं। लड़की अपने यहाँ स्वयं कोहबर का चित्र बनाती है। उसमें आदमी, हाथी, घोड़े, फूल पत्ते आदि के चित्र होते हैं। इसके लिए चौरठ, गेरू और अन्य रंगों का प्रयोग होता है। सीता जी अभी कोहबर के द्वार पर चित्र बना रही थीं, तब तक श्रीराम आ गये--

**कोहबर दुअरिया सीता लिखहीं ना पवली,**
**आई गइले श्रीराम हो।**
**गढ़ भइल बोले ले गढ़ कोतवलवा,**
**घोड़ा पीठी बोले शिशुपाल हो।**

शीतला देवी की पूजा में स्त्रियाँ दीवाल पर 'थापा' लगाती हैं। नाग पंचमी के समय दीवाल पर गोबर से सर्प का चित्र बनाती हैं। प्रत्येक गाँव में किसी न किसी देवी या देवता के यहाँ झंडा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लहराता है। उस पर 'त्रिशूल' या 'हनुमान' का चित्र बना होता है। 'तीज' 'बहुला' के समय स्त्रियाँ अपनी कोमल हथेली को मेंहदी से सजाती हैं, यह भी तो एक चित्रकारी है। प्रत्येक विवाहित स्त्री के लिए आवश्यक है कि वह अपनी बाँह पर गोदना गुदवाये। यह भी एक चित्रकारी है। एक स्त्री अपने पति से कहती है कि आप विदेश जा रहे हैं तो हमारी बाँह पर अपना चित्र बनवा दीजिए, जिसे देख कर मैं धीरज धरूँगी--

**जो तुहुँ ए पिया जइव विदेसवा,**
**मोरी बहियाँ पर अपनी सूरति लिखाय जाव।**

प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारंभ में गाय के गोबर से गणेश और पार्वती की मूर्ति बनायी जाती है और उनकी पूजा होती है। मिट्टी के शिवलिंग बनाये जाते हैं। स्त्रियाँ भादों कृष्ण १४ को 'बहुला' व्रत करती हैं, उसमें मिट्टी की गाय और बछड़े की मूर्ति बनायी जाती है। जब गोधन की पूजा होती है तो स्त्रियाँ इसी गोबर से अपने भाई के लिए 'पिड़िया' लगाती हैं। जैसे--

**लाये के लवनी पिड़िदवा ए राम, छोड़ावे की बेरिया,**
**ससुर पापी भेजे ले नियरवा ए राम, छोड़ावे की बेरिया।**

इसी भांति विभिन्न अवसरों पर अहीर, धोबी, गोंड़ और चमार आदि नाचते गाते हैं, जिनसे सबका मनोरंजन होता है। अहीर के नाच को 'फरी' कहते हैं। धीरे-धीरे इन नृत्यों का लोप हो रहा है, क्योंकि ये जातियाँ इससे अपना अपमान समझती हैं। तो भी रामलीला, नौटंकी, रासलीला, कठपुतली का नाच और विदेसिया के नाच भोजपुर में प्रायः होते ही रहते हैं, जिनसे इनके सांस्कृतिक जीवन में एक नयी जिन्दगी आ जाती है।

भोजपुरी लोकगीतों में राजनीतिक जीवन का भी चित्रण हुआ है। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के अमर सेनानी वीर कुंवर भोजपुर के ही थे। अधिकतर गीतों में उनकी बहादुरी और पराक्रम दिखाया गया है। साथ ही सन् १९४२ के सत्याग्रह का विशद वर्णन इन लोकगीतों में हुआ है। जनता अंग्रेजों को ललकारती है।

**गाँधी के लड़इया नाहीं जितबे फिरंगिया,**
**चाहे करु कतनो उपाइ।**
**भलु भलु मजवा उड़वल एहि देसवा में**
**अब जइहें कोठिया बिकाइ।**

संम्पूर्ण भारतीय जीवन धर्ममय है। इसी भाँति भोजपुरी जीवन भी धर्म प्रधान है। पुत्र-जन्म, विवाह आदि अवसरों पर राम, कृष्ण, शिव और शीतला आदि से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं। एक गीत में कोई स्त्री अपने पुत्र की आरोग्य कामना के लिए शीतला माता से प्रार्थना कर रही है--



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पटुका पसारि भीखि माँगेली बालाकवा के माई,
हमरा के बालाकवा भीखी दीं।
मोरी दुलारी हो मइया, हमरा के बालाकवा भीखी दीं।

स्त्री, पुरुष अनेक व्रत करते हैं, गंगा-स्नान करते हैं और भजन करते हुए कहते हैं--"राम के भजन कर, सुतला में का बा'। इनके अतिरिक्त पशु-पक्षी, वृक्ष एवं एक दिन 'घूर बाबा' की भी पूजा होती है। कभी-कभी इनकी भक्ति अंधविश्वास की सीमा तक पहुँच जाती है। ये भोले ग्रामीण सम्पूर्ण जगत में भगवान को देखते हैं और उनकी पूजा करते हैं। हाँ, इस बहुदेवोपासना में एकेश्वरवाद की ही भावना रहती है। जब जिस देवता या देवी की पूजा होती है, उस समय वही प्रधान देवता है। सभी मनोवांछित फलों को देने वाला है।

हमारी संस्कृति का मूल है--त्याग, दूसरों के लिए जिओ। यदि प्रत्येक व्यक्ति इसे अपना लें तो संसार में कोई दुखी न रहे, न लड़ाई हो और न एटम बम ही बने। एक गीत में कहा गया है कि लड़की के पैदा होने का क्या फल है? उत्तर मिलता है—जब उसको पुत्र पैदा हो तभी उसका जीवन सफल है। पुत्र के पैदा होने का क्या फल है? इसका उत्तर मिलता है--जब उस पुत्र से दुनिया को आनन्द मिले, सुख मिले, तभी उसका जीवन सार्थक है--

तिरिया के जनमे कवन फल, हे मोरे साहब?
पुतवा जनम जब होइ हैं, तबै फल होइ हैं।
पुतवा के जनमे कवन फल हे मोरे साहब?
दुनिया आनन्द जब होइ तबै फल होइ हैं।

वास्तव में वही व्यक्ति धन्य है, उसी का जीवन सफल है जो संसार के लिये कुछ करे और मानव-कल्याण के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग कर दे। भारत की कल्याणमयी मानवतावादी संस्कृति का रूप हमें लोकगीतों में स्पष्ट दिखाई देता है, जिसका प्रमुख उद्देश्य है विश्वकल्याण।[1]

--श्रीधर मिश्र, एम० ए०

---

१. 'भोजपुर लोकगीतों के विविध रूप'--अप्रकाशित पुस्तक से।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# पुस्तक-परिचय

**उर्दू गुलिस्ताँ की बुलबुलें** : लेखक तथा संकलनकर्ता—श्री रामनाथ 'सुमन'; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, चार रुपया।

उन्नीसवीं शताब्दी से ही हिन्दी-उर्दू की समस्या भारतीय शिक्षित समुदाय और राजनीतिज्ञों का ध्यान आकृष्ट करती रही है। ब्रिटिश शासन-काल में उसने उग्र रूप धारण कर लिया था और हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिक समस्या ने उसका समाधान और भी जटिल बना दिया था। किन्तु देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद यद्यपि यह समस्या उतनी उग्र तो नहीं रह गई, तो भी उसमें अभी डंक मौजूद है। आए दिन उर्दू के समर्थकों के प्रतिनिधि राष्ट्रपति या राजकीय सरकारों से मिल कर उसे फिर एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा में संलग्न दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव में हिन्दी-उर्दू की समस्या इतनी जटिल कभी नहीं थी जितनी वह राजनीतिक कारणों से बनाई जाती रही है। उसे राजनीतिक समस्या का रूप देना भारतीय जीवन को पुनः विषाक्त बनाना है। जहाँ तक उर्दू से संबंध है वह निस्सन्देह भारत में जन्मी विकसित हुई और एक विशेष शिक्षित समुदाय में उसका प्रचार भी रहा। जन-समुदाय की भाषा तो वह कभी नहीं रही। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल ऊपर के ढाँचे में है। अन्यथा उर्दू हिन्दी की ही एक शैली मात्र है। दोनों में जो कुछ पार्थक्य है वह एक विदेशी लिपि के कारण है। यदि यह पार्थक्य दूर कर दिया जाय तो उर्दू भाषा और साहित्य के प्रचार में सहायता ही मिलेगी। स्वयं उर्दू के साहित्यिकों को इस पक्ष पर निष्पक्ष रूप में और ठण्डे दिमाग़ से सोचना चाहिए। हर्ष का विषय है कि इधर पिछले कुछ वर्षों में उर्दू कवियों तथा लेखकों की कृतियाँ नागराक्षरों में मुद्रित एवं प्रकाशित होने लगी हैं और हिन्दी जनता में उन पुस्तकों का प्रचार भी बढ़ रहा है। इससे उर्दू के साहित्यिक ही लाभान्वित होंगे। हिन्दी भाषियों की ओर से इस प्रकार के प्रयास करने वालों में श्री रामनाथ सुमन का स्थान अग्रगण्य है। मीर आदि पर उनकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी के पाठकों ने उनकी पुस्तकों का अच्छा स्वागत किया है। सुमन जी हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक और साहित्यकार हैं। अतएव उनके द्वारा संपादित प्रस्तुत संग्रह के संबंध में दो मत तो हो ही नहीं सकते। एक सुन्दर प्राक्कथन के साथ उन्होंने उर्दू की प्राचीन और अर्वाचीन कवयित्रियों की रचनाओं का संकलन प्रस्तुत पुस्तक में किया है। इन रचनाओं में बलन्दी और नाजुकखयाली के साथ-साथ उर्दू-काव्य-धारा के लगभग सभी तरह के रंग पाए जाते हैं। विभिन्न युगों की निरंतर परिवर्तनशील चेतना का प्रभाव इन कवयित्रियों पर भी पाया जाता है। मख़्फ़ी, अख़्तर, शोख, क़मर, बहू बेगम, सुलतान आदि प्राचीन और अख़्तर, रुस्वा, बिर्जीस,



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पिनहाँ, सुरैया, हूर मेरठी, ज़ेब उस्मानिया, शमीम, नाज़, नक़ाब आदि आधुनिक कवयित्रियों का और उनकी रचनाओं का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में हुआ है। सुमन जी की इस पुस्तक से न केवल हिन्दी साहित्य ही समृद्ध हुआ है, वरन् यह उर्दू साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी सुंदर देन है।

**बुद्ध गुणालंकार :** रचयिता––आचार्य अनुरुद्ध महास्थविर; अनुवादक––भदन्त आनन्द कौसल्यायन; प्रकाशक––बुद्ध विहार, लखनऊ; मूल्य, पांच रुपया।

यद्यपि पुस्तक-प्रकाशन अपने में कोई असाधारण बात नहीं है, आधुनिक युग में जहाँ भी शिक्षित समाज होगा पुस्तकें भी प्रकाशित होंगी, तो भी किसी युग में प्रकाशित होने वाली पुस्तकों से उस युग की प्रवृत्ति पर, विचार-धारा की दिशा पर भी प्रकाश पड़ता है, इस बात से कोई इंन्कार नहीं कर सकता। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी-प्रकाशन-संसार में दो बातें विशेषतः दृष्टिगोचर हो रही हैं। एक तो यह कि संसार की अनेक भाषाओं के ग्रन्थ-रत्नों का अनुवाद कर हिन्दी को समृद्ध करने की पावन चेष्टा हो रही है। और, दूसरी यह कि बौद्ध धर्म की ओर लोगों का ध्यान जा रहा है। धर्म-चक्र का राज्य-चिन्ह के रूप में स्वीकार किया जाना इस बात का प्रथम प्रमाण था। स्वतंत्रता-प्रप्ति के बाद असाम्प्रदायिक और स्वतंत्र-चिंतन की ओर रुचि हो जाने के कारण और कुछ एशियाई देशों को दृष्टि-पथ में रखते हुए राजनीतिक कारण से भी बौद्ध-धर्म की ओर ध्यान आकृष्ट होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आधुनिक बौद्ध भिक्षुओं की लगन का भी इसमें कम योग नहीं रहा। आनन्द जी की लेखनी से जहाँ अन्य अनेक बौद्ध साहित्य-संबंधी ग्रन्थों का प्रकाशन हिन्दी में हुआ है, वहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्न के अनुवाद का श्रेय भी उन्हीं को है। प्रस्तुत ग्रन्थ सिंहल वाङ्मय का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसका रचना-काल बुद्ध वर्ष २०१५ (ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी) माना जाता है। कथा वैशाली नगर के अनुपम वर्णन से प्रारंभ होती है। कवि ने लिच्छवि राजाओं के वर्णनोपरान्त वैशाली के दुर्दिनों का वर्णन कर मंत्रियों के विचार-विमर्श का उल्लेख किया है। यह विचार-विमर्श वैशाली का दुःख दूर करने के निमित्त था। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार बौद्ध-धर्म या ब्राह्मण धर्म का समर्थन मंत्रियों ने किया। अंत में एक मंत्री ने तथागत के लोकोत्तर गुणों का गान करना प्रारंभ कर दिया। ग्रन्थकार ने बुद्ध के धर्म और शरीर दोनों को ही लोकोत्तर बताया है और दानपारमिता आदि की पूर्ति का उल्लेख किया है। कवि ने तथागत के चमत्कारों का, देवताओं के गुणों की तुलना में बुद्ध के अनन्त गुणों का, उनके नगर और कुल का, शुद्धोदन, जननी महामाया, यशोधरा, अभिनिष्क्रमण, धर्मचक्र प्रवर्तन एवं धर्म-प्रचार, तथागत का वैशाली में आगमन, रतन-सुग द्वारा परित्राण धर्म-देशना आदि का कविजनोचित भाषा और भावुकता के साथ वर्णन कर स्थान-स्थान पर काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि की है। ग्रन्थ की भाषा सिंहली है। आनन्द जी ने 'प्रस्तावना' में सिंहली भाषा की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डाला है (संभवतः यह इस संबंध में सर्वप्रथम प्रयास है) जिससे ग्रन्थ का मूल्य और भी बढ़ गया है। ग्रन्थ न केवल बौद्ध धर्म और दर्शन की दृष्टि से, वरन् कवि की कल्पनाओं की दृष्टि से भी अभिनन्दनीय है। कवि की नूतन और सरस कल्पनाओं से पाठक रससिक्त हुए बिना नहीं रह सकता।

**हिन्दी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति-काव्य :** लेखक––डॉ॰ के॰ भास्करन नायर; प्रकाशक––



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-६; मूल्य, दस रुपये।

स्वतंत्र भारत में अन्तर्राजकीय संबंध एवं साहचर्य दृढ़ से दृढ़तर बनाने की दृष्टि से राजनीति के क्षेत्र में ही विविध प्रकार के प्रयास नहीं हो रहे, वरन् साहित्य के क्षेत्र में भी इस आकांक्षा की पूर्ति के साधन निरन्तर उपलब्ध होते जा रहे हैं। साहित्य का साधन ही चिरस्थायी होगा, यह निश्चित है, क्योंकि वास्तविक जन-मन-ऐक्य साहित्य द्वारा ही स्थापित हो सकता है। इस दृष्टि से दक्षिण की भाषाओं और साहित्यों से संबंधित कई ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं। इस नवीन-स्थापित परंपरा को आगे बढ़ाने में डॉ० भास्करन नायर का प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चय ही सहायक होगा। हिन्दी और मलयालम के मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने जो काव्य रचे उनका तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से लखनऊ विश्वविद्यालय की थीसिस के रूप में इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ।

कृष्ण-भक्ति ने देश के सांस्कृतिक जीवन में जो महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है उससे सभी भारतवासी अवगत हैं। हिन्दी में ही नहीं भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी कृष्ण-भक्ति साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। मलयालम में एज़ुत्तच्छन, चेरुश्शेरी, नंपूतिरि, कुंचन नैय्यार आदि प्रतिभाशाली कवियों की रचनाएँ हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं की तुलना में भलीभाँति रखी जा सकती हैं। लेखक ने कवियों का साहित्यिक अध्ययन (रस, अलंकार आदि) प्रस्तुत करने के साथ-साथ कृष्ण-भक्ति के विकास, दोनों भाषाओं के कवियों के दार्शनिक विचार नवधा भक्ति, सामाजिक प्रभाव आदि पर भी विचार कर विषय को अधिकाधिक सांगोपांग बनाने की सफल चेष्टा की है। प्राविधिक दृष्टि से भी प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पुष्ट है।

**पालि-साहित्य और समीक्षा** : लेखक—डॉ० सरनामसिंह शर्मा; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, १३६१ वैदवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली–६; मूल्य, तीन रुपया दो आना।

भारतवर्ष की विचार-परम्परा को समूचे रूप में समझने के लिए पालि भाषा और साहित्य का अध्ययन नितान्त आवश्यक है, यह मत सर्वमान्य है। हिन्दी में प्रचलित अनेक शब्दों और साहित्यिक परंपराओं के मूल रूप पालि तथा उसकी परवर्ती भाषाओं प्राकृत और अपभ्रंश में खोजे जा सकते हैं। इस दृष्टि से भी पालि भाषा और साहित्य का अध्ययन हिन्दी के पाठकों के लिए आवश्यक है। डॉ० सरनामसिंह शर्मा ने इस पुस्तक की रचना कर हिन्दी-पाठकों का बहुत बड़ा उपकार किया है, क्योंकि इस विषय पर सरल एवं सुस्पष्ट शैली में लिखी गई पुस्तक का हिन्दी में अभाव था। विद्वान् लेखक ने छः अध्यायों में पालि भाषा का इतिहास, पालि का अन्य भाषाओं से संबंध, पालि-साहित्य, आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्य पर पालि-साहित्य का प्रभाव, शिक्षा और सिद्धान्त और पालि व्याकरण का परिचय शीर्षक विषयों पर विचार किया है। विषय-प्रतिपादन-शैली सुबोध और सुष्ठ है। यद्यपि पुस्तक विद्यार्थियों को दृष्टि में रखते हुए लिखी गई है, तो भी हिन्दी का सामान्य पाठक भी इससे लाभान्वित हो सकता है।

**बिहारी का नया मूल्यांकन** : लेखक—डॉ० बच्चन सिंह; प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय मान मन्दिर, वाराणसी–१; मूल्य, ३ रु० ५० न० पै०।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास के बाद बिहारी ही सर्वाधिक लोकप्रिय कवि रहे हैं—भारतीय जन के एक हाथ में अध्यात्म और दूसरे हाथ में शृंगार। ईसा की अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में बिहारी कृत दोहों की टीकाएँ-काव्य-कला-पक्ष के अध्ययन सहित, बराबर निर्मित होती रहीं और उनसे ब्रजभाषा-गद्य-परंपरा भी पुष्टि हुई। देव और बिहारी को लेकर हिन्दी में किसी समय बड़ा वादविवाद छिड़ गया था। साहित्य-महारथियों ने अपने प्रौढ़ लेखों से हिन्दी संसार को हिला डाला था। वास्तव में बिहारी रीति-काल की प्रौढ़ और श्रेष्ठ परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए उनकी ओर साहित्य के विद्यार्थियों का ध्यान जाना स्वाभाविक है। डॉ० बच्चन सिंह ने बिहारी के सामंतीय परिवेश को दृष्टि में रखते हुए उनका अध्ययन किया है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—'बिहारी दरबार में रहते थे, पर उनको दरबारी नहीं कहा जा सकता। उनमें चाटुकारिता की प्रवृत्ति नहीं थी; वे भेष-भूषा, रहन-सहन, आन-बान आदि में किसी सामंत-सरदार से कम न थे, उनका दृष्टिकोण पूर्णतः सामंतीय था, जो सतसई के कथ्य तथा शैलीगत सतर्कता और सज्जा में अभिव्यक्त हो उठा है। उनके प्रेम, नारी-संबंधी भाव, गाँव-संबंधी विचार सभी पर सामंत-कवि की छाप है, दरबारी कवि की नहीं।' अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने सतसई के दोहों को ही साक्ष्य माना है। यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन रोचक है, तो भी उसमें मतभेद की काफ़ी गुंजाइश है।

**—(डॉ०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय**

**पत्र-व्यवहार** : (जमनालाल बजाज का रचनात्मक कार्यकर्ताओं से) सम्पादक—श्री रामकृष्ण बजाज; भूमिका—श्री जयप्रकाशनारायण; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन; राटघाट, काशी; मूल्य १ रुपया २५ नए पैसे।

सेठ जमनालाल जी बजाज बापू-परिवार के अनोखे सदस्य थे। वे स्वतंत्रता-संग्राम के अद्भुत सेनानी और निराले देश-सेवक थे। यह 'पत्र-व्यवहार' का तीसरा भाग है। पत्र-व्यवहार के भाग एक और दो पहले निकल चुके हैं। भाग १ में स्वर्गीय बजाज जी का देश से राजनीतिक नेताओं से हुआ पत्र-व्यवहार संग्रहीत है और भाग २ में देशी रियासतों के कार्यकर्ताओं के संबंधित पत्र हैं। इस तीसरे भाग में स्वर्गीय जमनालाल का रचनात्मक क्षेत्र में काम करने वाले महानुभावों के साथ के पत्र-व्यवहार हैं। बजाज जी का जीवन, सत्य, त्याग, संयम, साधना की अग्नि से परिष्कृत शुद्ध कांचन के सदृश देदीप्यमान था। उन्होंने अपनी विवेक-बुद्धि से बहुत से कार्यकर्ताओं में प्रेरणा, स्फूर्ति और सात्विकता प्रदान की थी। इस 'पत्र-व्यवहार' में ७२ रचनात्मक कार्यकर्ताओं के पत्र-व्यवहार हैं। इनके रचनात्मक क्षेत्र विविध और अनेक रूपात्मक हैं। इनमें से कुछ ऐसी विभूतियाँ हैं, जिनके कार्य सर्वविदित हैं; उदाहरणार्थ अच्युत स्वामी, अप्पा साहब पटवर्धन, अमरनाथ झा, काका कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला, चतुरसेन वैद्य, जगदीशचंद्र वसु, जाकिर हुसेन, प्रफुल्लचंद्र राय, बनारसीदास चतुर्वेदी, भगवानदास, मीरा बहन, रामनरेश त्रिपाठी, विनोबा भावे, वियोगी हरि, शिवप्रसाद गुप्त, सरला बहन, हनुमानप्रसाद पोद्दार, आदि। जिस समय के ये पत्र हैं, वह हमारे इतिहास की क्रान्ति और संघर्ष का युग था। इन पत्रों में तत्कालीन इतिहास



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की झांकी देखने को मिल जाती है और गांधी युग की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं का ज्ञान होता है। इसमें अनेक रचनात्मक बातें विविध दृष्टिकोणों से सुलझाई गई हैं और उनके अनेक समाधान भी प्राप्त हो जाते हैं। पुस्तक सर्वथा संग्रहणीय हैं और इसके सम्पादक एवं प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं।

**पाश्चात्य-समीक्षा-सिद्धान्त** : लेखक—डा० केसरीनारायण शुक्ल, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रोफेसर मास्को विश्वविद्यालय, प्राच्य भाषा इंस्टिच्यूट, मास्को; प्रकाशक—नन्दकिशोर एण्ड संस, चौक, वाराणसी; मूल्य ३ रुपये।

कुछ वर्षों से हिन्दी आलोचना-शास्त्र के अध्ययन और अध्यापन की तीव्र अभिरुचि हिन्दी-साहित्य में हुई है। इसके फलस्वरूप अनेक पुस्तकों का प्रणयन भी हुआ। वर्तमान हिन्दी आलोचक को पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्तों का अध्ययन आवश्यक है—दोनों ही दृष्टियों से—एक तो यह कि वह प्राच्य और पाश्चात्य के अंतर्गत विभेद कर सके और दूसरे यह कि वह उनके बीच समन्वय स्थापित कर सके। प्रस्तुत पुस्तक में पाश्चात्य-समीक्षा-सिद्धान्तों से संबंधित कतिपय प्राचीन आचार्यों के साहित्य-सिद्धान्तों का संक्षिप्त पर ठोस अध्ययन प्राप्त होता है। इसमें अरस्तू से लेकर मध्ययुग तक के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। प्लेटो, अरस्तू, होरेस, लॉनजाइनस, दान्ते आदि मनीषियों ने अपने विस्तृत अनुभव तथा सूक्ष्म और गंभीर चिन्तन के फलस्वरूप ऐसे सिद्धान्तों को हमारे सम्मुख रक्खा, जिनकी उपयोगिता सर्वकालीन और शाश्वत है। आधुनिक काव्य और आलोचना का मूल इन्हीं विचारकों के आदर्शों पर स्थित है। डॉ० शुक्ल ने प्रमुख विचारकों के विशिष्ट सिद्धान्तों की सुन्दर, सुस्पष्ट, रोचक समीक्षा की है। इसमें सन्देह नहीं कि पुस्तक के अध्ययन के पश्चात् पाश्चात्य विचारकों के विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शों की सुस्पष्ट झांकी हमारे मस्तिष्क में अंकित हो जाती है। आलोचना-शास्त्र के अध्येताओं के लिए पुस्तक बड़ी ही उपादेय और संग्रहणीय है। ऐसी ठोस सामग्री प्रस्तुत करने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

**समवेत** : लेखक—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी; प्रकाशक—नन्दकिशोर एण्ड संस, चौक, वाराणसी; मूल्य १ रुपया ७५ नये पसे।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी जी क्रियात्मक अथवा रचनात्मक साहित्यकार हैं। अपने सम्बन्ध में उन्होंने इस प्रकार कहा है, "संस्कृति ही मेरी सरस्वती है। साहित्य मेरे लिए उसी का स्तन्य है, जीवन और वाङ्मय उसी से अमृत की तरह स्वयं निःसृत होता है। सरस्वती के स्तन्य से मुझे जो रसदान मिलता है, उसी का स्वास्थ्य मैं सहृदय पाठकों को सुलभ करता हूँ।"—इस कथन के अनुसार द्विवेदी जी के "समवेत" में पंद्रह लघु निबन्धों का संग्रह है, जिनके शीर्षक इस प्रकार हैं—सौन्दर्य और कला; छायावाद का सगुण; रागात्मकता की समस्या; 'हार' : पन्त का रचना-सूत्र; शिवपूजन जी की साहित्य-साधना; हुतात्मा 'नवीन'; नवीन जी की कविताएँ; प्रगति और संस्कृति; नयी कविता के पांच रूप; नये उपन्यास : नये उपन्यासकार; 'झूठा सच' : एक युग-निरीक्षण; परिव्राजक का जीवन और चिन्तन; विज्ञान और ग्रामोद्योग; प्रकृति और सह-अस्तित्व तथा साधन और माध्यम।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



द्विवेदी जी के सभी निबंध चिन्तन, अनुभूति, अध्ययन, मौलिकता, व्यक्तित्व और कला से समन्वित हैं। उनके निबन्धों में जहाँ एक ओर संस्मरण की झाँकी मिलती है, वहां दूसरी ओर साहित्य, संस्कृति और कला के प्रति पूरी आस्था भी दिखाई पड़ती है। कहीं कहीं उनके निबंधों में भावुकता छलक पड़ी है। 'रागात्मकता की समस्या' नामक निबंध में द्विवेदी जी की यह इच्छा कितनी भावपूर्ण है—"छायावाद-युग के बाद पन्त की कविता ने (स्वयं पन्त ने) एक ही जन्म में कितने ही नये जन्म लिए. किन्तु मैं उनके पूर्वजन्म ('पल्लव'-काल) की ही सुषमा और मधुरता के लिए लालायित हूँ।" वास्तविकता यह कि द्विवेदी जी के निबंध अनेक रूपात्मक हैं। उनकी भाषा और शैली सशक्त, रोचक, आकर्षक और प्रवाहपूर्ण है। उनकी व्यक्तिगत-भावना निबन्धों को कहानी का रूप दे देती है। उनके विचार और आदर्श प्रायः सभी निबन्धों में पाये जाते हैं। यह पुस्तक साहित्य के अध्येताओं के लिए ही नहीं, बल्कि सर्वोदय के कार्यकर्ताओं के लिए भी पठनीय है।

**प्रसाद के प्रगीत :** लेखक—श्री गणेश खरे, एम० ए०; प्रकाशक—नंदकिशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी; मूल्य छः रुपये मात्र।

प्रगीत काव्य के सम्बन्ध में अभी तक थोड़ा ही अध्ययन हुआ है। कुछ आलोचक प्राच्य और पाश्चात्य प्रगीतों को एक ही सांचे में ढालने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु भारतीय प्रगीत पश्चिमी प्रगीतों से अनेक दृष्टि से भिन्न हैं, क्योंकि उनके इतिहास, संस्कृति एवं साहित्यिक मान्यताएँ पृथक् हैं। श्री गणेश खरे ने प्रसाद के प्रगीतों का स्वतंत्र अध्ययन किया है। प्रस्तुत ग्रंथ सागर विश्व-विद्यालय के एम० ए० उत्तरार्द्ध के नवम प्रश्नपत्र के वैकल्पिक रूप में उपस्थित किया हुआ प्रबन्ध है। यह प्रबन्ध भूमिका के अतिरिक्त सात प्रकरणों में विभाजित है। भूमिका में प्रगीत काव्य के मूलतत्व, स्वरूप, प्रक्रिया, वर्गीकरण तथा उसकी प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य-परम्परा का आलेखन है। संगीतात्मकता, आत्माभिव्यक्ति, अन्विति, भावावेग, संक्षिप्तता, शिल्प-पक्ष और रचना-विधान प्रगीत-काव्य के मूल तत्व हैं। लेखक ने इनकी विशद व्याख्या की है; साथ ही इतर काव्य-रूपों से इसका सम्बन्ध दिखाया है। हिन्दी प्रगीतों का वर्गीकरण पाश्चात्य साहित्य के आधार पर करके, उनका आरंभ, विकास और मौलिकता दिखलायी गयी है। उनके अभावों की ओर भी लेखक की दृष्टि रही है। श्री गणेश खरे के प्रसाद के प्रगीतों का अध्ययन अपनी कोटि का मौलिक और स्तुत्य प्रयास है। उनके विभाजन, तर्क, युक्ति, उदाहरणों और उद्धरणों से समन्वित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने ईमानदारी और निष्ठा से अपने विषय का प्रतिपादन किया है।

**कथक नृत्य :** लेखक—श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग; भूमिका लेखक—नृत्य-सम्राट्, पद्मश्री शम्भू महाराज; प्रकाशक—संगीत कार्यालय, हाथरस; मूल्य आठ रुपये।

कला के प्रमुख भेदों में संगीत कला का महत्वपूर्ण स्थान है। गीत, नृत्य और वाद्य यह तीनों कलाएं संगीत के अन्तर्गत मानी जाती हैं। वर्त्तमान काल की नृत्य-कला में एक बड़ा दोष आने लगा है। वह यह है कि नृत्य कला में तत्कालीन वेशभूषा की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उदाहरणार्थं दक्षिण में किसी भी नृत्य को प्रस्तुत करते समय 'भारत नाट्यम्' की पोशाक पहन ली जाती है। मणिपुर में प्रत्येक नृत्य के समय मणिपुरी पोशाक धारण कर ली जाती है और उत्तर भारत में कथक की पोशाक पहन कर कोई भी नृत्य प्रस्तुत कर दिया जाता है। किन्तु यह प्रकृति भ्रामक, त्रुटिपूर्ण और दोषयुक्त है। इससे नृत्य-कला का उपकार के बदले अपकार होता है।

कथक नृत्य की सूक्ष्मताओं को जानने के लिए अब तक कोई प्रामाणिक ग्रंथ नहीं था। 'संगीत' के सम्पादक, श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग ने 'कथक नृत्य' लिख कर इसके अभाव की बड़ी भारी पूर्ति की है। यह ग्रंथ परिश्रम, लगन, निष्ठा और अन्वेषण से लिखा गया है। ग्रंथ में तीस अध्याय हैं, जिनमें कथक नृत्य के इतिहास, उसके प्राचीन कलाकार, नृत्य सम्बन्धी विस्तृत पारिभाषिक शब्दावली, रसों और भावों के निरूपण, नृत्य के कुछ प्राचीन अंग, गत एवं भाव, नायक-नायिका भेद, कथक नृत्य के कवित्त और ठुमरी, राधाकृष्ण नृत्य (रास) के कवित्त, प्राचीन, मुग़लकालीन, राजपूत कालीन तथा आधुनिक वेशभूषाएँ, चेहरा, होंठ, आँख, कपोल, केश, नख आदि के सौन्दर्य-प्रसाधन, घुँघरू तथा पदसंचालन, अंगहार, पाद-विक्षेप, भृकुटि और नेत्र-संचालन गर्दन तथा छाती का संचालन; अंग, मुद्रा और गति; शारीरिक अंग और उपाङ्ग, मुख बोलों के अभ्यास, विविध नृत्य-अभ्यास, जयपुर, कुदऊ सिंह, लखनऊ और बनारस घराने की बन्दिशें, नटवरी नृत्य, नृत्य के लिए कुछ लहरें, नृत्य के कुछ रहस्य; नर्तक, नर्तकी और नृत्यचार्य के गुण, प्राचीन काल के नृत्य, रास नृत्य, कथक नृत्य के प्रसिद्ध कलाकारों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक बताया गया है। अनेक स्थल पर उदाहरणों और उद्धरणों द्वारा कथन की पुष्टि की गई है। पुस्तक में लगभग १५० चित्र भी दिए गए हैं। ये चित्र विविध ऐतिहासिक संगीत-दरबारों, प्राचीन चित्रों, विविध मुद्राओं, नवों रसों से संबंधित मुख-चेष्टाओं, विविध नायिकाओं तथा अनेक प्रसिद्ध कलाकारों से संबंधित हैं। चित्रों के माध्यम से मुद्राओं आदि को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

'कथक नृत्य' अपने में सर्वथा पूर्ण ग्रन्थ है। कथक नृत्य के संबंध में एक साथ इतनी अधिक बातें, इस ग्रंथ को छोड़ कर अन्यत्र नहीं प्राप्त होतीं। यह पुस्तक साहित्य एवं संगीत दोनों के प्रेमियों के लिए पठनीय और संग्रहणीय हैं। इसके प्रणयन और प्रकाशन के लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

**—(डॉ०) जयराम मिश्र**

**क्रांतिकारी :** (नाटक) लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एंड संस दिल्ली; मूल्य, २ रुपये।

देश को स्वाधीनता की ओर ले जाने में क्रांतिकारी दल का विशेष योग रहा है। इस नाटक में श्री उदयशंकर भट्ट ने क्रांतिकारी दिवाकर के जीवन की घटनाओं को इस रूप में चित्रित किया है जिससे उस दल के ऐतिहासिक महत्त्व का चित्र आँखों के सामने घूम जाता है। दिवाकर को एक आदर्श क्रांतिकारी कहा जा सकता है। नाटक में न केवल वह, वरन् उसकी माँ, पत्नी और बच्चा तक उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावना से सम्पन्न हैं। यह पूरा परिवार अपने बलिदान की अमिट छाप पाठकों के मन पर छोड़ जाता है। नाटक का नायक ऐसी परिस्थितियों



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के बीच से घूमता है जिनसे न केवल उसका, वरन् उसके परिवार, उसके दल, ब्रिटिश शासन, पुलिस और देशद्रोहियों का चित्र भी स्पष्ट हो जाता है। केवल कथानक की दृष्टि से देखा जाय, तब भी यह नाटक बहुत सशक्त है।

भट्ट जी के रचना-कौशल की कई बातें इस नाटक से स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि यथार्थ पर दृष्टि रखते हुए भी नीच से नीच मनुष्य के मन में अंतर्द्वन्द्व द्वारा सत् की झलक कई स्थानों पर इन्होंने दिखलायी है। दूसरे, क्रांतिकारियों के कर्म के प्रति पूरा आदर-भाव रखते हुए भी इन्होंने उनकी मान्यताओं की कमियों की ओर संकेत किया है। एक ओर जहाँ इन्होंने अपने हृदय की पूरी आत्मीयता उन्हें प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर उस तटस्थता का परिचय भी दिया है जो एक विवेकशील विचारक का लक्षण है। नाटक में इतने प्रकार की भावनाओं और वृत्तियों को अपनी गहराई और तीव्रता में स्थान मिला है कि पाठक अंत तक कथानक से बँधा रहता है। 'क्रांतिकारी' मानवीय भावनाओं का उन्नयन करने वाला एक सफल और अभिनेय नाटक है। इसके प्रणेता श्री उदयशंकर भट्ट ने मंच के लिए एक ऐतिहासिक राष्ट्रीय विषय का चयन कर अपने देशानुराग का परिचय दिया है।

**कालिदास :** (नाटक) लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एंड संस, दिल्ली; मूल्य २ रुपये।

इस ग्रंथ में श्री उदयशंकर भट्ट के तीन रूपक संगृहीत हैं—मेघदूत, विक्रमोर्वशी एवं कालिदास। मेघदूत और विक्रमोर्वशी कालिदास के इन्हीं नामों के दो ग्रंथों पर आधारित हैं, कालिदास उनकी समस्त कृतियों पर। इनमें कालिदास एक फ़ीचर है, शेष दो काव्य-रूपक।

संस्कृत के विद्वान् होने और रेडियो के सम्पर्क में रहने के कारण भट्ट जी के लिए यह संभव हुआ है कि वे कालिदास की कृतियों के सौंदर्य को हिंदी के पाठकों के लिए प्रत्यक्ष कर सकें। जो लोग रेडियो के माध्यम से परिचित हैं, वे तो इन रूपकों का आनन्द उठा ही सकेंगे; लेकिन इनकी रचना इस रूप में हुई है कि सामान्य पाठक भी इनकी रोचकता को स्वीकार करेगा। रचनाकार की पहली विशेषता कालिदास की कृतियों का संपादन और उनसे उपयोगी अंशों का चयन है। कथानक की सुसंबद्धता के लिए इन्होंने 'वाचकों' से काम लिया है। स्थान-स्थान पर ध्वनि-संकेतों का प्रयोग है, अपनी ओर से गीतों का संयोजन है, और कथोपकथन को कई पात्रों में बाँटा है। कहीं-कहीं द्वैत-गान का भी प्रयोग है। विद्वत्ता और अनुभव के साथ जिस तीसरी बात ने इन रूपकों को हृदयग्राही बनाया है, वह है स्वयं भट्ट जी का एक अच्छा कवि होना। अनुवादों में यह तथ्य पूरी तरह झलक जाता है। चौथी बात जो इन रूपकों को सुपाठ्य बनाती है और मंच के अनुकूल भी है, वह है भाषा की सरलता। स्पष्ट है कि ये ध्वनि-रूपक रेडियो और मंच दोनों पर समान रूप से सफल होंगे।

**मानसी :** (काव्य) लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एंड संस, दिल्ली; मूल्य, ३ रुपये।

'मानसी' श्री उदयशंकर भट्ट का एक चिंतन-प्रधान काव्य-ग्रंथ है। इसमें जीवन के चिरं-



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



तन प्रश्नों पर केवल प्रकाश ही नहीं डाला गया, उनका समाधान भी खोजा गया है। ये प्रश्न ऐसे हैं जो प्रायः प्रत्येक बौद्धिक व्यक्ति के मन में उठते हैं। सुख-दुःख, परिवर्तन, नियति और सृष्टि के संबंध में जो विचार इस कृति में व्यक्त किए गए हैं वे व्यापक दृष्टिकोण के परिचायक हैं। उनमें किसी प्रकार की कट्टरता, हठवादिता, साम्प्रदायिकता या संकीर्णता नहीं पायी जाती। जीवन में निराशा के लिए स्थान स्वीकार करते हुए भी सामान्य टोन आशा की ही है। काव्य की परिसमाप्ति एक उद्बोधन-गीत में हुई है।

भट्ट जी का काव्य सरल और सुबोध ढंग का होता है। मानसी की तो बहुत-सी पंक्तियों का उपयोग सूक्तियों की भाँति किया जा सकता है। विरोधाभास के सहारे कहीं-कहीं चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न भी इन्होंने किया है। पूरा काव्य एक ही छंद में लिखा गया है और विवेचन कहीं ऊब उत्पन्न न करे, इसलिए उसे शीर्षकों में बाँट दिया गया है। 'मानसी' का जीवन-दर्शन सहज रूप से ग्राह्य होना चाहिए, क्योंकि उसका आधार एकांगिता या अतिशयोक्ति नहीं। वह जीवन के प्रति एक ऐसे संवेदनशील व्यक्ति की प्रतिक्रिया है जो अपने जैसे असंख्य व्यक्तियों के लिए चिंतन करने बैठा है।

**त्रिभंगिमा :** (काव्य) लेखक—श्री हरिवंशराय 'बच्चन'; प्रकाशक—राजपाल एंड संस, दिल्ली-६; मूल्य, ४ रुपये।

'त्रिभंगिमा' श्री हरिवंशराय 'बच्चन' की कविताओं का नया संग्रह है। संग्रह का नामकरण रचनाओं की शैली के आधार पर हुआ है। छंद की दृष्टि से यह काव्य तीन धाराओं —छंदबद्ध, छंदमुक्त और लोकधुनों—में बहा है। इसी से इसका नाम 'त्रिभंगिमा' रखा गया है।

'बच्चन' की कृतियों में अब तक 'सतरंगिनी' और 'निशा-निमंत्रण' ही सुख-दुःख की तीव्रता और गहराई को चित्रित करने वाली उनकी श्रेष्ठतम रचनाएं हैं। इनकी प्रतिभा मूलतः गीतात्मक है और यहां भी छंदबद्ध रचनाओं में वह सहज भाव से प्रस्फुटित हुई है। मुक्त-छंद की रचनाओं में प्रवाह की रक्षा सभी स्थानों पर नहीं हो पायी। वहाँ अनेक पंक्तियां गद्यवत् हैं। लोकधुनों में खड़ीबोली ठीक से नहीं ढल पायी। बात यह है कि 'बच्चन' जी ने लोकधुनें तो चुन लीं, लेकिन मन को क्या करें ? वह तो एक नागरिक का मन है। लगता ऐसा है कि लोक-कवि ही लोकधुनों में अपने प्राण ढाल सकते हैं। 'बच्चन' जी ने भूमिका में अपने पाठकों को समझाया है कि लोकधुन वाली रचनाओं की सफलता का परिचय ग्रामोफोन कंपनियों के रेकर्ड, रेडियो या कवि-सम्मेलनों में पाठ से ही मिल सकता है। लेकिन श्रेष्ठ काव्य की यह कोई सच्ची कसौटी है, ऐसा हम नहीं मानते। इस संग्रह की रचनाओं में बहुत से शब्दों को प्रायः खींचकर पढ़ना पड़ता है। विकृति शब्दों का प्रयोग भी कम नहीं है जैसे-नद्दी, अवनी साजी, जेवन, पूतलो, फेंका दी, पछताव; साथ ही सैयां-दैया, आदि भी बने हुए हैं। इस दोनों बातों से भाषा स्वच्छ नहीं रह गई है।

प्रशंसनीय बात यह है कि इन रचनाओं में मिट्टी की महत्ता के उद्घोष के साथ प्रेम की शक्ति में कवि का विश्वास अभी तक बना हुआ है। अपने युग को लेकर चिंतन है और जीवन



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



के प्रति दृष्टि स्वस्थ एवं नॉर्मल है। कवि ने नए विषय उठाए हैं और पुराने विषयों को नयी दृष्टि से देखा है। इससे कविताओं में वैविध्य और ताज़गी का समावेश हुआ है।

लेकिन इसके साथ ही बाल-दिवस पर प्रसन्नता, सैनिकों के लिए प्रयाण-गीत एवं पंचशील के विरुद-गान के स्वर भी इन रचनाओं में मिले हुए हैं। इस प्रकार उनके संवेदनों में कुछ अंश महत्त्वपूर्ण है, कुछ साधारण। अच्छा तो यह लगता है कि समय के विकास के साथ साधारण का साथ छूटता जाय; लेकिन 'बच्चन' में यह बात प्रायः बढ़ती जाती है। श्रेष्ठ के साथ साधारण का हय मेल प्रत्येक कवि के लिए अंततः हानिकारक ही सिद्ध होता है। हमारा प्रस्ताव है कि 'बच्चन' जी को अपनी प्रकृति-दत्त शक्ति के चरणों से साधारण की इस धूल को अब झाड़ देना चाहिए।

**चाँदनी चूनर**: (कविता) लेखिका—शकुंत माथुर; प्रकाशक—साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद; मूल्य, ३·००।

'चाँदनी चूनर' शकुंत माथुर का पहला कविता-संग्रह है। इसमें श्रीमती माथुर की पचास से ऊपर रचनाएं संग्रहीत हैं। इन रचनाओं को पढ़कर पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि शकुंत माथुर ने कविता को नित्य प्रति के जीवन के बहुत निकट ला बिठाया है। मध्य वर्ग की शिक्षित और शालीन गृहिणी की भावनाओं और उसके स्वप्नों का चित्रण इन्होंने पूरी तन्मयता से किया है। घर-गृहस्थी के ये चित्र रम्य भी हैं और सहज सुबोध भी। जहाँ तक चिंतन का संबंध है, वह अपने चारों ओर के जीवन और युग की समस्याओं के प्रति सहज प्रतिक्रिया के रूप में है। निम्न और मध्य वर्ग के जीवन-संघर्ष पर इनकी दृष्टि पड़ी है। मशीन के सम्पर्क में आकर व्यक्ति मशीन बनता जा रहा है, ऐसी चिंता इन्होंने कहीं-कहीं प्रकट की है। उपमान इन्होंने ग्रामीण और नागरिक जीवन, दोनों से जुटाए हैं। बहुत-से शब्दों के प्रयोग की सार्थकता इन्होंने अपनी भूमिका में सिद्ध की है; पर हमारा विचार है कि यदि मैं, आँगिया, वो, क्यूं, चावे जैसे शब्दों का प्रयोग खड़ीबोली में बचाना चाहिए। छंदबद्ध काव्य की दूसरी बात है; पर मुक्त-छंद की रचना में विकृत प्रयोगों की विवशता किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं की जा सकती। खड़ीबोली विकास की जिस सीमा पर पहुँच गयी है, वहाँ उसे तोड़ना-मरोड़ना ठीक नहीं प्रतीत होता। इस संग्रह की अपेक्षाकृत छोटी रचनाएं अधिक सफल हैं—विशेष रूप से वहां जहाँ संकेत महत्त्वपूर्ण है, प्रतीक उपयुक्त है और अभिव्यक्ति कटी-छटी है। इनके परिचय में किसी ने उत्साह में इन्हें 'नयी कविता की प्रथम कवयित्री' लिखा है। इसका आधार क्या है, हम नहीं जानते। फिर भी रमासिंह, शाँता सिनहा और कीर्ति चौधरी के साथ इनका नाम भी अब प्रयोगवादी कवियित्रियों की सूची में सम्मिलित कर लेना चाहिए।

**कल्पना**: (उपन्यास) लेखक—डा० रांगेय राघव; प्रकाशक—राजपाल एंड संस, दिल्ली; मूल्य, २ रुपये।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



'कल्पना' डा० रांगेय राघव का एक लघु उपन्यास है। जहां तक मूल कहानी का संबंध है, वह बहुत मार्मिक है और पूरे कौशल के साथ कही गई है। लेकिन वह बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती है। शेष भाग में उपन्यासकार ने बर्बर युग से लेकर आधुनिक काल तक समाज में नारी की स्थिति और मध्यवर्गीय नैतिकता पर प्रकाश डाला है। उसने नारी को कहीं देवी कहा है, कहीं वंदिनी, कहीं खेत। इसके लिये संस्कृत साहित्य का सहारा लेकर उसने कई प्रसिद्ध नारी पात्रों को हमारी आँखों के सामने खड़ा किया है। प्रश्न यह है कि यह उपन्यास किसके लिए लिखा गया है? सामान्य पाठक के लिए? वह तो कहानी चाहता है। विद्वानों के लिए? उन्हें सीता और राम, संपाति और जटायु, यक्षिणी और विरही यक्ष, मालविका और अग्निमित्र की कहानियां चिर परिचित हैं। तब? सच यह है कि उपन्यासकार सृजनात्मक साहित्य के मूल उद्देश्य से बहुत दूर चला गया है और उसका दंड उसके पाठकों को भोगना पड़ा है।

इस कृति में कथा और चिंतन का कुछ ऐसा सम्मिश्रण है कि वह 'आधा तीतर, आधा बटेर' की कहावत चरितार्थ करती है। अपने युग की एक मार्मिक घटना से प्रभावित होने के उपरांत लेखक चिंतन में डूब गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लेखक की नारी के प्रति पूरी सहानुभूति है। यह भी माना जा सकता है कि नारी की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर ही यह उपन्यास लिखा गया है। उसने स्पष्ट कहा है--नारी संन्यासिनी, वेश्या या पुरुष की भोग्या न बनकर सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करे। लेकिन इसके लिए उपन्यास को निबन्ध के निकट लाने की आवश्यकता नहीं थी। हमारी धारणा है कि इसमें चिंतन का अंश आवश्यकता से अधिक है और उसका कारण यह प्रतीत होता है कि 'चरम सीमा' पहले ही परिच्छेद में आ गई है; अतः उपन्यासकार लाख प्रयत्न करने पर भी कथानक को आगे नहीं बढ़ा पाया। फिर भी शैली की नवीनता के लिए लेखक प्रशंसा का पात्र है।

**रंगारंग** (उर्दू काव्य संग्रह) संपादक--श्री रघुपतिसहाय 'फिराक़'; प्रकाशक--राजकमल प्रकाशन, फैज बाज़ार, दिल्ली; मूल्य, १.००।

'राजकमल प्रकाशन' ने अपनी पॉकेटबुक सीरीज़ के अंतर्गत 'रंगारंग' नाम से उर्दू ग़ज़लों के चुने हुए अशआर का एक संकलन प्रकाशित किया है। इस पुस्तक के संपादक हैं उर्दू के प्रसिद्ध कवि श्री रघुपतिसहाय 'फिराक'। पुस्तक के प्रारंभ में एक छोटी-सी उपयोगी भूमिका है जिसमें ग़ज़ल की व्याख्या के साथ उर्दू भाषा की कुछ सामान्य विशेषताओं की चर्चा है। सादी सामग्री को कुछ शीर्षकों के अंतर्गत विभाजित कर दिया गया है जैसे 'रूप और प्रेम', 'संकेत और रूपक' आदि। इसके उपरांत एक ही विषय पर विभिन्न शायरों के शेर दिए गए हैं। इससे पता चलता है कि स्वभाव और दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण एक ही बात को कितने रूपों और पहलुओं में देखा जा सकता है। यह तो संभव नहीं था कि उर्दू के सभी शायर इसमें सम्मिलित किये जा सकते; फिर भी प्राचीनतम कवियों से लेकर आधुनिकतम कवियों में से अनेक को इसमें स्थान मिला है। भाषा की अनेकरूपता की दृष्टि से उर्दू काव्य का पूरा विकास ही इस संग्रह के माध्यम से देखा जा सकता है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



ग़ज़ल का प्रत्येक शेर अपने में पूर्ण होता है और किसी रंगीन भावना को अपने में छिपाए रहता है। यही कारण है कि उर्दू कविता अपना प्रभाव तुरंत डालती है। इसके बहुत-से अशआर ऐसे हैं जिन्हें गुनगुनाने को पाठक का मन करेगा। इस दृष्टि से इस प्रयास को सफल कहा जा सकता है।

संपादन से संबंधित कई बातों की ओर ध्यान स्वतः आकृष्ट होता है। इस संकलन में साधारण कोटि के बहुत से अशआर हैं जिन्हें बचाया जा सकता था। यों यह संपादक की अपनी रुचि का प्रश्न भी हो सकता है। कोई दूसरा संपादक संभवतः भिन्न प्रकार के शेर रखता। दूसरे, जहाँ नैतिक और आध्यात्मिक काव्य को स्थान मिला है, वहां थोड़ा स्थान प्रकृति-संबंधी काव्य को भी मिलना चाहिए था। यह भी हो सकता है कि उर्दू में प्रकृति-वर्णन का अभाव हो। लेकिन हिंदी का प्रबुद्ध पाठक सामान्यतः प्रकृति-प्रेमी होता है और वह यह भी जानना चाहेगा कि उर्दू में प्रकृति को किस रूप में लिया गया है। राजनीति, राष्ट्र-प्रेम और प्रगतिशील विचारों को संभवतः झंझट का विषय समझकर छोड़ दिया गया है। शिष्ट हास्य की कमी भी थोड़ी खटकती है।

संकलन में पंक्तियां जिस रूप में पायी जाती हैं, उससे संपादन में थोड़ी लापरवाही प्रकट होती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित अशआर लीजिए—

(१) **ये खयाले तसव्वुफ़, ये तेरा बयान 'ग़ालिब',**
**तुझे हम वली समझते, जो न बादाख़्वार होता,**

**—गालिब**

(२) **की हमसे वफ़ा तो ग़ैर उसको जफ़ा कहते हैं,**
**होती आई है कि औच्छों को बुरा कहते हैं।**

**—गालिब**

(३) **दिल से ख़याले यार को टाले हुए तो हैं,**
**हम जान देकर दिल को सँभाले हुए तो हैं।**

**—अफ़ानी**

(४) **असर है साफ़ नूरे-सुबह रंगारंग किरनों का**
**जब आयें शोखियाँ तो सादगी आ ही जाती है।**

**—फ़िराक़**

पहले दोनों शेर मिरज़ाग़ालिब के हैं और बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रथम में 'ख़याले तसव्वुफ़' के स्थान पर 'मसाइले तसव्वुफ़' है और दूसरे का क्रम इस प्रकार है—'की वफ़ा हमसे' ....। यह उलटफेर क्यों हुआ है, हमारी समझ में नहीं आया। संभव है पांडुलिपि 'फ़िराक़' साहब ने स्वयं, अपने हाथ से तैयार न की हो और ये शेर बोलकर लिखवाये हों और कुछ का कुछ बोल गए हों। 'फ़ानी' के शेर में 'देकर' के स्थान पर संभवतः 'देके' है, नहीं तो इल्का-सा 'सकतः' या यतिभंग दोष पड़ता है। चौथा शेर स्वयं 'फ़िराक' साहब का ही है। इसका अंतिम चरण



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लड़खड़ाता हुआ है। सादगी के उपरान्त शायद 'फिर' छूट गया है। इस तरह के कई अशआर और भी हैं। ऐसी भूलों को द्वितीय संस्करण में सुधार देना चाहिए।

'रंगारंग' में 'वह' और 'यह' को 'वो' और 'ये' लिखा गया है। उर्दू में वह और यह ही लिखा जाता है। हिंदी में भी इनका यही रूप करना चाहिए। इससे एकवचन और बहुवचन का भेद बना रहेगा। दूसरे, जहां शायर ने 'इक' प्रयोग किया है, वहाँ 'एक' नहीं करना चाहिए, 'इक' ही रहने देना चाहिए। 'रंगारंग' का स्वागत पाठक करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

**--विश्वम्भर 'मानव' एम० ए०**

**महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण वृत्ति:** लेखक—डा० त्रिभुवन सिंह; प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, मानमन्दिर, वाराणसी—१; मूल्य दस रुपये।

प्रस्तुत समीक्षा ग्रन्थ में मध्यकालीन अलंकृत हिन्दी कविता को दृष्टि में रखते हुए महाकवि मतिराम के जीवन और काव्य का विशद एवं शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विद्वान् समीक्षक ने सम्पूर्ण मध्यकालीन अलंकृत हिन्दी कविता को दृष्टि में रखकर हिन्दी के रससिद्ध कवि मतिराम का इस ग्रंथ में विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है और एतदर्थ मध्यकालीन हिन्दी के अलंकृत काव्य-परम्परा के अन्तर्गत प्रबन्ध काव्यों, गीतों और मुक्तकों में अलंकरण की प्रवृत्ति को स्पष्ट करने तथा तत्कालीन दरबारी सभ्यता के पड़नेवाले प्रभावों को दिखलाने के लिए आवश्यक समझकर मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों, मुक्तकों, नाटकों तथा आख्यायिकाओं आदि के माध्यम से प्रकट होनेवाली अलंकरण की प्रवृत्ति का भी सम्यक् विवेचन इस सुन्दर ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

आरम्भ के दो अध्यायों—अलंकृत काव्य के मूलतत्त्व और परिवेश तथा मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरणवृत्ति—में ही स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार संस्कृत की अलंकृत कविताओं तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी कविता पर पड़ा है। ग्रन्थ के अन्य अध्यायों में महाकवि मतिराम के जीवन तथा उनकी कविताओं के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

उत्तर मध्यकालीन कवियों में महाकवि मतिराम का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और उनकी जैसी सरस एवं स्वाभाविक अलंकृत कविता लिखने वालों में दो तीन महाकवियों का ही नाम लिया जा सकता है। मतिराम के स्वाभाविक काव्य प्रतिभा के साथ साथ आचार्य के दुर्लभ गुण भी थे, किन्तु खेद का विषय यह रहा है कि देव और बिहारी आदि की भांति उनके सम्बन्ध में उचित न्याय नहीं किया गया, अथवा कहना यह चाहिए कि देव और बिहारी के विश्रुत विवाद में मतिराम की उपेक्षा कर दी गई। उस अभाव की पूर्ति डा० त्रिभुवन सिंह ने अपनी इस अनवद्य एवं वैज्ञानिक अध्ययन से पूर्ण कृति से की है।

इस ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में मतिराम सतसई एवं नामानुक्रमणिका के साथ सहायक ग्रंथों की सूची भी दे दी गयी है, जो बड़े काम की है। इस प्रकार यह ग्रन्थ हिन्दी के विद्यार्थियों तथा शोधकार्यों के लिए अतीव उपयोगी है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**राष्ट्रपति भवन की डायरी :** लेखक—श्री बाल्मीकि चौधरी; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य ७ रुपये ९४ नये पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री वाल्मीकि चौधरी हमारे देश के वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के अति निकट संपर्क में रहे हैं और उन्होंने बड़े मनोयोग, निष्ठा तथा सतर्कता से अपनी इस पुस्तक की रचना की है। इस पुस्तक में राजेन्द्र बाबू के, राष्ट्रपति पद का भार सम्हालने के दिन से लेकर अप्रैल १९५२ तक के दैनिक कार्य-कलापों का रोचक विवरण, उपलब्ध प्रमाणों, साक्ष्यों तथा तथ्यों के साथ दिया गया है और यत्र तत्र लेखक ने प्रकृत सन्दर्भों पर अपनी टिप्पणियां भी दी हैं।

पुस्तक की शैली इतनी रोचक तथा प्रवाहपूर्ण है कि इसे आरम्भ करके समाप्त ही करना पड़ता है। फिर भी इस प्रामाणिक पुस्तक में कुछ ऐसे तथ्य संकलित किए गए हैं, यदि वे न दिए गए होते तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि 'सत्यं ब्रूयात्' के साथ 'प्रियं ब्रूयात्' को भी स्मरण रखने का उपदेश मनीषियों ने किया है। फिर भी पुस्तक अतीव उपयोगी एवं रोचक है और इसके अध्ययन से न केवल हमारे राष्ट्र की विभूति राजेन्द्र बाबू के बहुमुखी व्यक्तित्व एवं कृतित्व को ही समझने-बूझने का अवसर मिलता है, वरन् हमारी राजधानी एवं राष्ट्रपति भवन में कैसे कैसे महदायोजन हुआ करते हैं और राष्ट्रपति भवन के भीतर जो कुछ होता रहता है—इसकी भी मनोहर झांकी पाठकों को अनायास मिल जाती है। हमें आशा है, श्री चौधरी इस कालावधि के बाद की भी डायरी शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।

**करुण रस :** (मध्ययुगीन हिन्दी राम-काव्य के परिवेश में) लेखक—डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली—६; मूल्य १२ रु० ८ आना।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में करुण रस का विशेष महत्त्व है। यद्यपि शृंगार रसराज है किन्तु 'एकोरसः करुण एव' के गायकों की संख्या कम नहीं है और इसीलिए सभी रसों में करुण रस के पाठकों की संख्या अधिक होती है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में करुण की रसवत्ता का बड़े मनोवैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त तथ्यों से समर्थन किया गया है और शरीर-क्रिया-विज्ञान सम्बन्धी साक्ष्यों को भी उपस्थित किया गया है। करुण रस की मनोविज्ञानाश्रित शास्त्रीय समीक्षा शीर्षक अध्याय में विद्वान लेखक ने अपने गहन अध्ययन का सुन्दर परिचय दिया है और प्राच्य तथा पाश्चात्य रस सिद्धान्त विशारदों के मतों का यथावसर उल्लेख करते हुए करुण-रस सम्बन्धी सभी सैद्धान्तिक तथ्यों का आकलन किया है। किन्तु जैसा कि पुस्तक के नाम से स्पष्ट है लेखक का मुख्य दृष्टिकोण मध्ययुगीन हिन्दी रामकाव्य में करुण रस का विवेचन प्रस्तुत करता है। अतः पुस्तक के अधिकांश में उक्त प्रयत्न का सफलतापूर्वक विवेचन किया गया है और इस सन्दर्भ में रामकाव्य का सुन्दर पर्यवेक्षण भी पठनीय है। लेखक में अपने विषय के प्रतिपादन की सराहनीय शक्ति है और उन्होंने अपने इस गंभीर अध्ययन को अपनी रोचक एवं प्रवाहपूर्ण लेखनशैली में प्रस्तुत कर काव्य-रसिकों के लिए पठनीय सामग्री प्रस्तुत की है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



**साहित्य लहरी** : सम्पादक—श्री प्रभुदयाल मीतल; प्रकाशक—साहित्य संस्थान, मथुरा; मूल्य, छः रुपये।

महाकवि सूरदास की साहित्य लहरी का यह संस्करण श्री मीतल जी ने बड़े परिश्रम और सावधानी से प्रस्तुत किया है। उन्होंने सूर के प्रत्येक पद के साथ उसके पाठान्तर, शब्दार्थ, टिप्पणी, प्रसंग, भावार्थ तथा काव्य सम्बन्धी विशेषताओं पर सुन्दर प्रकाश डाला है। यदि ये सामग्रियां न होतीं तो सूरदास जी के इस क्लिष्ट ग्रन्थ का रसास्वादन सर्वसाधारण के लिए सुगम नहीं था, क्योंकि इसके अधिकांश पदों में कूट शैली का सहारा लिया गया है और उक्ति वैचित्र्य के कारण भी इसकी अपनी दुर्गमता है। शब्दचमत्कार की इस विचित्र कलात्मकता का प्रभाव यद्यपि सूरदास जी के अन्य ग्रन्थों में भी है तथापि साहित्यलहरी तो अपनी इसी विशेषता के कारण प्रख्यात रही है। मीतल जी ब्रजभाषा काव्य के सुप्रसिद्ध पारखी हैं। उनमें साहित्य सृजन की मौलिक प्रतिभा के साथ साथ प्राचीन काव्यों की विशेषताओं के प्रति भी प्रगाढ़ अनुराग है। उन्होंने जितने परिश्रम एवं लगन से इस ग्रन्थरत्न को सर्वसाधारण के लिए सुलभ किया है, वह शतशः प्रशंसनीय है। हमें विश्वास है कि उनके द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ-रत्न का सर्वत्र समादर होगा।

**तीर्थंकर महावीर भाग (१)** : लेखक—जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि; प्रकाशक—काशीनाथ सराफ, यशोधर्म मन्दिर, १६६ मर्जबान रोड, अंधेरी, बम्बई; मूल्य दस रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में भगवान महावीर के जीवन को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ का प्रथम भाग है और इसमें प्रभास की दीक्षा पर्यन्त तक का जीवनवृत्त दिया गया है। संभवतः राष्ट्रभाषा हिन्दी में भगवान महावीर के जीवनवृत्त का यही प्रामाणिक ग्रन्थ है जो विद्वान् लेखक के अनेक वर्षों की साधना का सुफल है। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से जीवन के सभी सन्दर्भों पर गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया है और शंका वाले स्थलों के समस्त प्रसंग एक ही स्थान पर एकत्र किए हैं। भगवान महावीर के जन्म स्थान वैशाली के सम्बन्ध में ही बड़ी भ्रांतियां थीं, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका निर्धारण बहुत सुन्दर ढंग से लेखक ने किया है। इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों पर भी उन्होंने उपलब्ध साक्ष्यों का गहन मन्थन कर जो निर्णय किया है, उसे सार्वमान्य होने में सन्देह की गुंजाइश नहीं है। आशा है, इसके अगले भागों के प्रकाश में आ जाने पर हिन्दीप्रेमियों के लिए श्री भगवान महावीर का प्रामाणिक जीवनचरित उपलब्ध हो जायगा। इस स्तुत्य प्रयास के लिए विद्वान् लेखक तथा प्रकाशक का हिन्दी जगत चिर आभारी रहेगा।

**गुजराती साहित्य का संक्षिप्त इतिहास** : लेखक—डा० वरसाने लाल चतुर्वेदी; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली—६; मूल्य २ रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में गुजराती साहित्य का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी की उन्नति एवं समृद्धि के लिए उसमें भारत की ही नहीं संसार की समस्त प्रमुख भाषाओं से संबंधित साहित्य की अतीव आवश्यकता है। गुजराती हमारे देश की प्रमुख भाषाओं में ही



CC-0: In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



नहीं है, अपने स्वनामधन्य लेखकों की अमर कृतियों के कारण वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उसका साहित्यिक भंडार अक्षय है और हिन्दी भाषियों के लिए वह सुगमसाध्य भी है। न केवल अपनी सरल सुबोध लिपि के कारण ही वरन अपनी सुबोधता के कारण भी वह हिन्दी के अति समीप है। अतः डा० चतुर्वेदी की इस कृति का सामयिक महत्त्व है। इस लघुकाय पुस्तक में गुजराती साहित्य के सभी अंगों पर यथावसर प्रकाश डाला गया है, शैली तथा भाषा में रोचकता के साथ यथेष्ट प्रवाह है। विश्वास है, गुजराती साहित्य के प्रेमी हिन्दी पाठकों को इससे बड़ा लाभ मिलेगा।

**भारतीय धार्मिक पुनर्जागरण :** लेखक––श्री रामवृक्ष सिंह तथा श्री उमाशंकर सिंह; प्रकाशक—नन्दकिशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी; मूल्य ढाई रुपया।

इस पुस्तक में भारतीय धार्मिक आन्दोलनों का, विशेषकर पिछले एक सौ वर्ष की अवधि का—सजीव चित्रण किया गया है। लेखकों की मान्यता है कि इस पुस्तक में अपने देश के इतिहास में धार्मिक आन्दोलनों के स्वरूप को सरल एवं सुंदर भाषा में प्रस्तुत किया गया है। राजा राममोहन राय के 'ब्रह्म समाज', महादेव गोविन्द रानडे के 'प्रार्थना समाज' स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'आर्य समाज' एनी बेसेन्ट की 'थियासोफिकल सोसाइटी' रामकृष्ण परमहंस की सेवा का उच्चादर्श तथा स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक प्रचार के अतिरिक्त मुसलिम धार्मिक आन्दोलनों की भी इस छोटी सी पुस्तक में रोचक चर्चा की गई है और अन्त में धार्मिक आन्दोलनों का हमारे देश की जनता पर क्या प्रभाव पड़ा है—इसका गंभीर किन्तु संक्षिप्त विवेचन किया गया है। पुस्तक की भाषा सरस एवं अलंकृत है। शैली में रोचकता के साथ साथ गंभीरता भी है, जो पाठकों पर यथेष्ठ प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। पुस्तक उपयोगी है और इसे पढ़कर धार्मिक आन्दोलनों की विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

**बिल्ली की कहानी :** (भाग १, २, ३) लेखक––महात्मा भगवानदीन; प्रकाशक––अखिल भारत सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी; मूल्य, क्रमशः पचहत्तर, पचहत्तर तथा ५० नए पैसे।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक बालकोपयोगी शैली में लिखी गई एक गंभीर एवं अनुभवी विद्वान की कृति है। बच्चे देश के भविष्य निर्माता हैं। उनकी जैसी शिक्षा-दीक्षा एवं संगति होती है, उसी के अनुरूप देश का भविष्य बनता है। विद्वान् लेखक ने बड़ी गंभीरता किन्तु रोचकता के साथ उक्त दृष्टिकोण को सामने रखकर अपनी इस पुस्तक में बिल्ली की कहानी लिखी है, जो बालकोपयोगी मनोरंजन के साथ-साथ अनेक उच्च संस्कारों एवं विचारों से भी पूर्ण है। बिल्ली की प्रकृति के साथ बच्चों की बालसुलभ जिज्ञासा एवं कुतूहल-वृत्ति को भी सन्तुष्ट किया गया है। भाषा में इतनी सरसता एवं रोचकता है कि पुस्तक को समाप्त किए बिना वयस्क भी नहीं उठ सकते। यथा प्रसंग दिए गए चित्रों के कारण पुस्तक और भी उपयोगी बन गई है।

**भारत भारती : (गुजराती तथा मराठी)** लेखक––अज्ञात; प्रकाशक––राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा; मूल्य, प्रत्येक का सवा रुपया।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी की सर्वांगीण उन्नति एवं विकास के प्रयत्नों में देश की इतर भाषाओं के सहयोग की नितान्त आवश्यकता है और इस दृष्टि से हिन्दी के जाननेवालों को अन्य भाषाओं से घनिष्ठ सम्पर्क रखना स्वाभाविक है। इन दोनों पुस्तकों में नागरी लिपि द्वारा गुजराती एवं मराठी सीखने की सुगम विधियां बताई गई हैं और प्रयत्न यह किया गया है कि इस एक ही पुस्तक के सम्यक् अध्ययन से बोलचाल के योग्य शब्दावली अधिगत हो जाय। पुस्तक के अन्त में नागरी तथा मराठी की वर्णमाला भी दे दी गई है, जिससे लिपि सीखनेवालों को भी लाभ पहुँच सके।

**--रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री**

**भग्न मन्दिर :** लेखक--श्री अनन्त गोपाल शेवड़े; प्रकाशक--राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, पांच रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री अनन्तगोपाल शेवड़े का नवीनतम उपन्यास है। स्वतंत्रता के उपरान्त भारत की बदलती हुई पृष्ठभूमि को लेकर लेखक ने इस उपन्यास की रचना की है। यह उपन्यास 'हमारे आदर्शों और मूल्यों के संघर्ष का हमारी प्रगति और पथभ्रष्टता का, उत्थान और स्वप्नभंगों का, सत्ता की विकृतियों का तथा सत्य की दुर्दशा का अत्यन्त सजीव और रोचक चित्रण प्रस्तुत करता है जो यथार्थ है और प्रभावोत्पादक भी।'

धनंजय तथा उसकी पत्नी गीता मुख्य पात्र हैं। ये अपनी परिस्थितियों से संतुष्ट हैं। इनकी ईमानदारी ही इनके जीवन का सर्वस्व है। यह पढ़ने से ही मालूम होता है कि इन्हें सत्य से हटाने के लिए कितने प्रलोभन दिए गए। धनंजय के सत्य, त्याग एवं व्यवहार से कोई भी प्रभावित हो सकता है। 'दुनिया के छल-छद्म मानों उसे स्पर्श ही नहीं कर गए. . . .मित्रों का सच्चा मित्र था पर शत्रुओं का सच्चा शत्रु नहीं था क्योंकि वह शत्रु व्यक्तियों का नहीं सिद्धान्तों का हो जाता था।' वह एक सुयोग्य संपादक था। आज की परिस्थितियों एवं विचारों को लेकर एक व्यंग्यात्मक उपन्यास प्रस्तुत किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने पात्रों के चरित्र को कहीं बढ़ा चढ़ा कर लिखा है और अतिशयोक्ति सा प्रतीत होने लगता है। भाषा सरल, स्पष्ट एवं सुगठित है। उपन्यास की शैली इतनी रोचक है कि पाठक प्रारम्भ करने के पश्चात जब तक समाप्त नहीं कर लेता तब तक विश्राम नहीं लेता है !

**रामेश्वर शुक्ल 'अंचल':** लेखक—डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, दो रुपए।

श्री कमलेश ने आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि 'अंचल' की श्रेष्ठ कविताओं का संग्रह करके प्रारम्भ में २१ पृष्ठ की भूमिका लिखी है। अंचल जी कवि के अतिरिक्त एक कुशल उपन्यासकार भी हैं। अंचल जी एक प्रगतिशील कवि हैं। इनकी आज की कविताओं में दार्शनिकता की पुट है। यहाँ तक पहुँचने के लिए इन्हें संघर्ष करना पड़ा है। कल्पना से वे अनुभूति की ओर मुड़े हैं। हिन्दी कविता को छायावाद के वायवी वातावरण से उबारकर उसमें यथार्थ की प्रतिष्ठा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



करने में उन्होंने सक्रिय योग दिया है। इसीलिए श्री नन्ददुलारे बाजपेयी कहते हैं—"अंचल मुख्यतः विनष्ट सौन्दर्य की विषण्ण स्मृतियों का गायक है। उनका समस्तकाव्य विरह की आरती सजाने में समाप्त हो गया है। इनकी रचनाओं में आज भी इनका प्रारम्भिक अल्हड़पन झांकता है। लेखक कवि के जीवन की भावभंगिमाओं से परिचित है, अतएव इनके काव्य की आत्मा का सूक्ष्म निरीक्षण किया है!" संक्षेप में अंचल जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय इस पुस्तक से मिल जाता है। अच्छा यह होता कि प्रत्येक कविता के नीचे उस पुस्तक का नाम तथा रचना-काल लिखा होता तो पाठकों को उनके क्रमानुगत साहित्यिक विकास के जानने में सरलता होती। पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

**धरती और आसमान :** लेखक—आचार्य चतुरसेन शास्त्री; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, चार रुपये!

आचार्य चतुरसेन शास्त्री हिन्दी कहानी लेखकों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इन्होंने लगभग साढ़े चार सौ कहानियां लिखी हैं। यह मुं० प्रेमचन्द के समकालीन थे। प्रस्तुत पुस्तक इनकी बीस कहानियों का संग्रह है। पुस्तक का नाम एक कहानी का शीर्षक है। इनका सम्पूर्ण कहानी साहित्य एक पुस्तकमाला के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इस माला का यह तीसरा खंड है। इन्होंने विभिन्न विषयों पर कहानियां लिखी हैं। विषय की दृष्टि से प्रस्तुत खंड की कहानियों को निम्नलिखित ढंग से विभाजित किया जा सकता है—मुगलकालीन—पानवाली, बुलबुलहजार दास्ताँ, फूलवालों की सैल; बौद्धकालीन—अम्ब-पालिका, क्रीता, प्रतिदान सामाजिक—द्वन्द्व, पत्थर में अंकुर, विश्वास पर विश्वास; राजनीतिक—सफेद कौआ, लम्बग्रीव, मुखबिर; राजपूती—मुहब्बत, अकस्मात, ठकुरानी; प्रेमप्रधान—फिर, प्रणयवध, टार्चलाइट; भाव प्रधान—धरती और आसमान, नहीं।

कहानियां बड़ी रोचक, मार्मिक एवं तथ्यपूर्ण हैं। धरती और आसमान में यह दिखाया गया है कि कलाकार एक असफल गृहस्थ होता है। 'नहीं' शीर्षक कहानी में न तो कथानक है और न तो चरित्रचित्रण, केवल भाव हैं। कहानी लिखने का शास्त्री जी का यह नया प्रयोग है। पानवाली लेखक की प्रसिद्ध कहानी है। इसी प्रकार इनकी सभी कहानियां किसी न किसी तथ्य का विश्लेषण करती हैं। संग्रह पढ़ने योग्य है। निस्सन्देह यह कहानीसंग्रह पाठकों तथा आलोचकों दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा!

**आवरण :** लेखक—वनफूल; अनुवादिका—माया गुप्त; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, तीन रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक बंगला के प्रसिद्ध साहित्यकार 'वनफूल' के 'निर्मोक' उपन्यास का हिन्दी अनुवाद है। इसमें एक देहाती नवयुवक का वर्णन है। वह एक शिफारिस के कारण एम० बी० बी० एस० का छात्र बन जाता है और डाक्टर बनकर जीवन यापन करता है। वह बड़े परिश्रम से समाज की सेवा करता है। किन किन कठिनाइयों को पार करके वह समाज का आदर-



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



णीय पात्र बन जाता है, यह पढ़ने से ही मालूम पड़ता है। अनुवाद भी सफलतापूर्वक किया गया है। आशा है पाठकों का मनोरंजन इस पुस्तक से अवश्य होगा।

—कृष्णनारायण लाल एम० ए०

**प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियाँ :** संपादक—सर्वश्री श्रीकृष्ण, मनमोहन, सरल अरुण; प्रकाशक—आत्माराम एंड संस; कशमीरी गेट, दिल्ली—६; मूल्य, आठ रुपये।

प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियां २९ ऐतिहासिक कहानियों का संग्रह है जो शिल्प की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि का है। ऐतिहासिक होते हुए भी इन कहानियों में मानवीय भावनाओं का सफलतापूर्वक चित्रण किया गया है, जिसका पाठक पर अमिट प्रभाव पड़ता है। इसमें हिन्दी क्षेत्र के श्रेष्ठ कथाकारों की कथाओं का संग्रह है तथा भारतीय इतिहास के विभिन्न पृष्ठों के संस्मरण हैं जिनको लेखकों के कला-सौष्ठव तथा उनकी कल्पना ने अपने पाठकों के लिए भाँति भाँति से सजा संवार कर प्रस्तुत किया है। ये कहानियाँ मनोरंजक तथा प्रेरणात्मक होने के साथ साथ ज्ञानवर्धक भी हैं। आदर्शों का समाजीकरण किया गया है जो सहज-ग्राह्य है। इनमें चिर परिचित घटनायें भी एक नवीनरूप से प्रस्तुत की गई हैं। चरित्र-चित्रण बहुत सफल है। हर काल का चित्रण बहुत मनोवैज्ञानिक हुआ है। कथोपकथन तथा भाषा आदि सभी को कथातत्वों में समुचित स्थान मिला है। श्री चंद्रकिरण सौनरिक्सा की 'कल्याणि' यादवेन्द्र की 'मंगल मुखी' महापंडित राहुल सांकृत्यायन की 'प्रभा' की रांगेय राघव की 'देवदासी', श्री वृन्दावनलाल वर्मा का 'मां के आंसू', श्री शंकर प्रणतांबेकर की 'सुजाता' श्री शैलेश मटियानी की 'तथ्य और सत्य' आदि कहानियां बड़ी सुन्दर और हृदय पर प्रभाव डालने वाली हैं। लगभग सभी कहानियों की भाषा का स्तर एक समान है। अन्य ऐतिहासिक कहानियों की भाँति केवल तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर ही प्रस्तुत नहीं किया गया अपितु उनके साहित्यिक, सांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक सभी पक्षों को उभारा है, जिससे पाठक को सभी कुछ मिल जाता है। 'दूसरा एकलव्य' कहानी में महाभारतकालीन एक आख्यान को अनन्त जी ने सामाजिक तथा मानवीय रूप दिया है साथ ही मानवीय दुर्वलताओं को मनोवैज्ञानिक मोड़ देकर इसको जीवन की घटना बना दी है, जिसके नीचे उसकी अलौकिकता दब गई है। कहानियों का साधारणीकरण ही इन कहानियों का सबसे महत्वपूर्ण रूप है।

**तेलुगु की उत्कृष्ट कहानियाँ :** अनुवादक—श्री बालशौरी रेड्डी, प्रकाशक—राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दीनगर, वर्धा; मूल्य, २-५० नए पैसे।

यह संग्रह १७ तेलुगु कहानियों का हिन्दी रूपान्तर है। संग्रह में तेलुगु के सभी लब्ध-प्रतिष्ठित लेखकों की कहानियां हैं। इनमें भारतीय संस्कृति का आदर्श दिखलाया गया है। श्री टी० गोपीचन्द की 'ममता' कहानी बहुत मार्मिक है जिसमें धरती का मोह ही ममता की चरमसीमा है—उसी के साथ नायक प्राण छोड़ता है। अधिकांश कहानियों में नारी का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण है। सुंदर त्याग और संघर्ष पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। 'प्रणय-कलह' श्री मुनिकानिक्यम् नरसिंहराव की अपनी मौलिक और अनूठी रचना है।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



श्री केसभा की 'मृगजल' कहानी में लेखक ने अस्वाभाविक, अप्राकृतिक जीवन व्यतीत करने की प्रतिक्रियायें दिखायी हैं जिनके कारण मन में ग्रंथि भी पड़ जाती है। 'देवता की मृत्यु' श्री गिडुतूरि सूर्यम् की कहानी में भाई की ममता व त्याग का बहुत सुन्दर आदर्श चित्रण है। श्री गुरजाड अप्पाराव की 'सुधार' कहानी में नाम के अनुरूप ही केवल सुधारवादी दृष्टिकोण है जो बहुत ही पुराने ढंग से लिखी गई है। पुस्तक में अनुवाद का सफल प्रयास है। भाषा सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। सरल समस्याओं का अधिकांश सामाजिक रूप है जो पाठक को चिर-परिचित सा प्रतीत होता है और यही इसको लोकप्रिय बनाने में सहायक हो सकता है।

**--सत्या गुप्ता एम० ए०**

**शाइरी के नये दौरः** (तीसरा दौर) संपादक--श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय; प्रकाशक--भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी; मूल्य, तीन रुपये।

उर्दू शाइरी के प्रामाणिक इतिहास, तुलनात्मक अध्ययन, साहित्यिक विवेचन और आरंभ से अब तक के शाइरों का सर्वश्रेष्ठ कलाम और विस्तृत परिचय देवनागरी में लिपिबद्ध करने का यह पुनीत कार्य उर्दू-प्रेमी और विद्वान् लेखक श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय भारतीय ज्ञानपीठ के माध्यम से पूरा कर रहे हैं। शाइरी के नये दौर ४ खंडों में प्रकाशित हुआ है। उनमें सन् २० से सन् ५९ तक की नवीन शाइरी की विस्तृत विवेचना है। यह तीसरा दौर सामने है। साग़र निज़ामी की ज़िन्दगी, उनकी चुनी हुई कविताओं, उनके शील स्वभाव और राष्ट्रीय विचारधारा-इन सब तस्वीरों का यह एक शानदार एलबम है। इसे तैय्यार करने में गोयलीय जी को जो परिश्रम, अध्ययन और मनन करना पड़ा है वह हर दृष्टि से सफल और सराहनीय है।

प्रस्तुत संकलन से साग़र के हर रूप की, उनकी प्रतिभा के हर पहलू की संक्षिप्त किन्तु सही जानकारी हासिल की जा सकती है। साग़र की शानदार शाइरी और उनकी ४६ साल की ज़िन्दगी की जो झाँकियाँ गोयलीय जी ने इस ग्रंथ में खूबसूरती के साथ संकलित की हैं वे अपने आप में अनूठी हैं। उन्हें पढ़ते हुए पाठक कभी गोयलीय जी को सराहता है, कभी साग़र को। गोयलीय जी की अपनी भाषा है—निरी बोलचाल की, अपनी सुदृढ़ शैली है जो सहज ही मन को लुभा लेती है। साग़र के बारे में जो सामग्री उन्होंने एकत्र की है, उस राष्ट्रीय शाइर को जितने नज़दीक से उन्होंने स्वयं देखा, परखा और समझा है, और उन सब बातों को जितनी सादगी से अंकित कर दिया है, यह उन्हीं का काम था। पुस्तक पठनीय तथा संग्रहनीय है।

**एक लड़की और हजार दीवाने** (उपन्यास) : लेखक—श्री किशन चन्दर; प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स प्रा० लिमिटेड, राउण्ड बिल्डिंग, बम्बई-२; मूल्य, तीन रुपया।

श्री किशन चन्दर (कृष्णचन्द्र नहीं) उर्दू कथा-साहित्य के उन अग्रणी लेखकों में से एक हैं जिनकी चीजें उर्दू के बाहर भी बड़े चाव के साथ पढ़ी और सराही जाती हैं। 'एक लड़की और हज़ार दीवाने' उनका एक ऐसा ही उपन्यास है जिसकी नायिका 'लायी' एक खनाबदोश लड़की है। वह अल्हड़ और जवान है। क़दम क़दम पर उसे अपने घृणित समाज की कुरीतियों और



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



लाचारियों से जूझना पड़ता है। वह बहादुर और साहसी है तथा ऐसी बात की बनी मालूम पड़ती है जो टूट भले जाय, मगर विपत्तियों और लाचारियों के आगे घुटना नहीं टेकती। कुछ समय बाद उपन्यास का नायक सामने आता है गुल। यह पठान का बेटा है। बड़ा स्वाभिमानी। दोनों में सहज ही प्रेम हो जाता है। उस प्रेम की पवित्रता की रक्षा के लिए दोनों बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार रहते हैं। लायी आवेश में एक क़त्ल कर देती है। उसे जेल हो जाता है। चीफ़ जेलर खूबचन्द एक कुशल चित्रकार है। वह समय निकाल कर उसका चित्र बनाता है और इस तरह कथा आगे बढ़ती है। अंत में, चेचक के प्रकोप से लायी कुरूप हो जाती है और तब एक एक करके उसके सभी प्रेमी, प्रशंसक अपने आप उससे दूर हो जाते हैं। यहां तक कि गुल भी—जो उसे जी-जान से चाहता था—वह भी भाग खड़ा होता है और उस अभागिन लायी का शेष जीवन भीख मांगते बीत जाता है। खानाबदोश ज़िन्दगी की बड़ी मार्मिक झलक हमें इस पुस्तक में मिलती है।

किशनचन्दर की यह चीज़ काफ़ी तेज़ और ज़ोरदार है। मामूली से मामूली चरित्र भी अपने पूरेपन के साथ उभरते प्रतीत होते हैं। उपन्यास का कथानक बीच में जाकर थोड़ा कमज़ोर पड़ता है लेकिन आरम्भ और अंत बुरा नहीं है। किशनचन्दर की चीज़ों को पढ़ने पर जी को प्रायः जो तसल्ली होती है, कुछ करो और कर गुज़रने की जो क्षमता पैदा होती है, उसका अभाव हमें इस छोटे से उपन्यास में नहीं मिलता। छपाई कागज़ वगैरह साधारण तथा पुस्तक का मूल्य आवश्यकता से अधिक है।

**—नर्मदेश्वर उपाध्याय**

**अमर प्रेम :** मूल लेखक—इरविंग स्टोन; अनुवादक—श्री आशुतोष; प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; मूल्य, ४ रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक एक अमेरिकन उपन्यास है, और इसकी प्रतिपाद्य कथावस्तु, अब्राहम लिंकन के जीवन से ली गई है। लिंकन का जीवन बचपन से ही कठिनाइयों के बीच बीता था, एक नितान्त साधारण परिवार में जन्म लेकर, अपने अध्यवसाय से वह अमेरिका का राष्ट्रपति बना था, लेकिन अपनी छोटी से छोटी आवश्यकताओं के लिए निरन्तर जूझते रहनेवाले उस महामानव की रूखी सूखी देह में भी एक ऐसा मर्मस्थान था जहां से प्यार की अनिवर्चनीय रसधारा प्रवाहित होती रहती थी। प्रस्तुत पुस्तक में उसी मर्म को प्रधानता देकर यह दिखाने का सफल प्रयास किया गया है कि नारी का त्याग, उसका धैर्य और उसका सहज प्यार पति को कितना ऊंचा उठा सकता है। तत्कालीन अमरीकी राजनीति तथा सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाला यह एक अनुपम कथानक है। अनुवाद की भाषा में प्रवाह और सजीवता है, इससे हिन्दी की अभिवृद्धि में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

**राजतिलक :** लेखक—श्री शिवसागर मिश्र; प्रकाशक—आतमाराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; मूल्य, साढे पांच रुपए।

यह एक राजनैतिक उपन्यास है, कथानक आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व के भारत



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



की राजनीति को सामने रखकर प्रस्तुत किया गया है, प्रमुख रूप से इसका वर्ण्य विषय तत्कालीन मगध का इतिहास है, औपन्यासिक रूप देने के लिए इसमें अपनी कल्पनाओं का समावेश किया गया है, जो आवश्यक भी हैं। नीरस घटनाओं की सृष्टि करता हुआ इतिहास जीवन के कितने ही आन्तरिक पहलुओं को अछूता छोड़ देता है, उनका उद्घाटन वह भलीभांति नहीं कर पाता है, वहीं उपन्यास अपनी कल्पनाओं का आश्रय ले उन्हें सजीव, सरस, एवं प्रभावोत्पादक बना देता है। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, एवं धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण जितनी रोचक शैली में इस उपन्यास में किया गया है, वैसा एक ही स्थान पर अन्यत्र नहीं मिल सकता है।

राजतिलक का कथानक घटनाओं का आश्रय लेकर द्रुत गति से आगे बढ़ता हुआ दिखाया गया है। इसका प्रत्येक अध्याय एक नई घटना की सृष्टि करता है और उसका प्रारम्भ कुछ इस रीति से किया गया है कि पाठक को किसी षड्यंत्र की आशंका तुरत हो जाएगी। अधिकांश घटनाएं रात्रि के तीसरे पहर या दूसरे पहर से प्रारम्भ की गई हैं और जासूसी या तिलस्मी उपन्यासों की भांति आगे बढ़ती गई हैं, इस शैली का स्वाभाविक दुष्परिणाम होता है, गम्भीरता का अभाव, लेकिन प्रस्तुत उपन्यास में ऐसा नहीं है, प्रारम्भ से ही पाठक के मन में कौतूहल के साथ साथ जिज्ञासा की अतृप्त लालसा उत्पन्न हो जाती है, जो उसे पूरी पुस्तक पढ़ने के लिए विवश कर देती है। विखरी हुई घटनाओं का एकीकरण जिस खूबी के साथ किया गया है वह मनोहर है, इतिहास के इस धूमिल पृष्ठ को प्रकाश में लाने के लिए लेखक का प्रयास प्रशंसनीय है।

**अछूत प्यारा :** लेखक––मामा वरेरकर; अनुवादक––श्री रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे; प्रकाशक––राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; मूल्य, चार रुपए।

प्रस्तुत उपन्यास, मराठी के प्रमुख उपन्यासकार मामा वरेरकर की उद्बुद्ध लेखनी से लिखा गया, जातिगत मान्यताओं के ऊपर एक करारा व्यंग्य है। कथावस्तु दो विभिन्न जाति के प्रेमियों की मूल प्रणय कहानी है, और चरित्र-चित्रण इतना मार्मिक और सजीव है कि कल्पना भी यथार्थ हो जाती है। आत्मकथा की शैली में लिखा गया यह उपन्यास अपनी प्रवाहपूर्ण भाषा के कारण और भी मोहक एवं पठनीय हो गया है। सवर्ण बालिका लक्ष्मी की मर्मस्पर्शी करुण कहानी, उसका सात्विक अछूता प्यार और कुनबी की सन्तान नीरू की एकनिष्ठ निष्ठा, कट्टर से कट्टर सवर्ण को कुछ सोचने के लिए विवश कर देगी, यह इस उपन्यास की सबसे बड़ी महत्ता है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रह के योग्य है।

**ध्वस्तनीड :** लेखक––श्रीपाद जोशी; प्रकाशक––विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर; मूल्य, तीन रुपए।

सामाजिक विषमता हमारे देश का एक प्रमुख अभिशाप है, इसे मिटाने के लिए प्रायः सभी प्रमुख मनीषियों ने अपने-अपने ढंग से प्रयास किया है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने इसी समस्या को सामने रखकर अपना सुझाव प्रस्तुत किया है, जो पठनीय एवं मनन के योग्य है। आपसी सौहार्द्र एवं सवर्ण तथा अछूतों में भाई चारे का सम्बन्ध स्थापित कराने की दिशा में यह एक स्तुत्य प्रयत्न है। मूल मराठी पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद इतनी सरल भाषा एवं ऐसी सहज शैली में



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



किया गया है कि, एक बार हाथ में लेकर बिना समाप्त किए कोई भी पाठक इसे छोड़ नहीं सकता।

**ठग :** लेखक—श्री रमण लाल वसन्त लाल देसाई; अनुवादक—चन्दूलाल पारीख; प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स प्रा० लि० बम्बई-२; मूल्य दो रुपये।

गुजराती के प्रमुख उपन्यासकार श्री रमण लाल वसन्त लाल देसाई की गणना ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों में शीर्षस्थान पर की जाती है। उनका प्रत्येक उपन्यास उनकी निजी शोध के ऊपर आधारित रहता है तथा इतिहास के कितने ही लुप्तप्राय पृष्ठों को प्रकाश में लाने का श्रेय उन्हें दिया जाता है। प्रस्तुत उपन्यास भी एक ऐसा ही ऐतिहासिक उपन्यास है। अंग्रेजी राज के प्रारम्भिक दिनों में, उनके लिए यहां के ठग एक सिर दर्द हो गए थे। ठगों के मिटाने के लिए उन्हें एड़ी चोटी का पसीना एक करना पड़ा था। सामान्य इतिहास की पुस्तकों में हम ठगों को एक नृशंस, हत्याकारी, क्रूरमानव मानते आए हैं, लेकिन श्री देसाई जी ने अपनी खोज के आधार पर यह सिद्ध किया है कि "ठगों का वह उपद्रव भारतीय जनता के स्वाधीनता आन्दोलनों के, तात्कालिक परिस्थितियों की विशेषता को लिए हुए, एक अभिनन्दनीय प्रयत्न था। विदेशी शासकों के अत्याचरों को मिटाने का व्रत लेकर ही ठग, ठग संगठन का सदस्य बनता था और उनकी चारित्रिक मर्यादा भी उच्चकोटि की थी।" प्रस्तुत उपन्यास जो खास कर किशोर पाठकों के लिए लिखा गया है, अपनी उक्ति मान्यता से आचूड़ निमज्जित है। कथानक की रोमांचक शैली, कौतूहल एवं आगे क्या होगा? की जिज्ञासा से और भी आकर्षक हो गई है, ठगों के समाज में एक ओर जहां आजाद, अथवा खान साहब, जैसी हस्तियां थीं वहीं समर सिंह तथा आयशा जैसी स्वर्गिक मूर्तियां भी थीं जिनकी जीवनगाथा से किसी भी तरुण के अन्दर चारित्रिक निष्ठा, साहस तथा देशभक्ति के भावों का प्रस्फुरण होगा; ऐसी पुस्तकों की आज आवश्यकता है।

**जवानी और छः एकांकी :** लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली—६; मूल्य, २ रु० ५० नए पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री भट्टजी, हिन्दी संसार से अपरिचित नहीं हैं। अब तक उनके कई दर्जन एकांकी नाटक निकल चुके हैं, उक्त एकांकी संग्रह के अतिरिक्त लगभग आधे दर्जन दूसरे भी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वस्तुतः भट्टजी की गणना आज के प्रमुख नाटककारों में है। जवानी के साथ साथ इस एकांकी संग्रह से, धूमशिखा, मनका रहस्य, दुर्गा, वरनिर्वाचन, प्रथम विवाह तथा कुमार संभव, प्रभृति छः और एकांकी संग्रहीत हैं। अभिनय की दृष्टि से प्रायः सभी अभिनेय हैं, और एकांकी के सभी तत्वों का समावेश बड़ी सफलता के साथ उनमें किया गया है। मर्मस्पर्शी कथोपकथन, मानव मन की गूढ़ ग्रन्थियों का उद्घाटन तथा मानसिक आरोहावरोह के सूक्ष्म निदर्शन से ओतप्रोत सभी एकांकी उच्चकोटि के हैं। इस संग्रह के आधे से अधिक एकांकी ऐसे हैं, जन्हें एक ही स्टेज तथा गिने गिनाए पात्रों के द्वारा अभिनीत किया जा सकता है, भट्ट जी का कवि हृदय तथा उनकी प्रसाद-पूर्ण अलंकृत भाषा इन एकांकियों में भी सर्वत्र मिलती है। फलतः उनका उपयोग सामान्य पाठकों के लिए नहीं हो सकता है, अभिनय में



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



भी ऐसी भाषा कुछ क्लिष्ट प्रतीत होगी, फिर भी ऐसी प्रांजल, रागसमन्वित भाषा छोटे छोटे वाक्यों के माध्यम से पढ़ने या सुनने में प्रत्येक श्रेणी के पाठक के लिए कर्णप्रिय होगी।

**नवप्रभात :** लेखक—श्री विजयशंकर राय; प्रकाशक—अखिल भारत सर्व सेवा संघ, वाराणसी; मूल्य, एक रुपया।

सर्वोदय, क्या है? उसका अन्तिम लक्ष्य क्या है? और उस लक्ष्य की प्राप्ति के बाद हमारे समाज की क्या स्थिति होगी, किस प्रकार हम वास्तविक ग्राम राज्य की सुखद भूमिका सम्पादित कर सकते हैं! विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डालने वाली उक्त पुस्तक तीन अंकों की एक नाटिका है। इसमें कम से कम तीन दर्जन पुरुष पात्र तथा एक दर्जन से ऊपर स्त्री पात्रों ने अभिनय किया है, तथा भाषा काव्यमयी, नाटकीय तत्वों से रहित साहित्यिक है। नाटक की उपयोगिता, उसके अभिनय में है, अन्यथा वह श्रव्य काव्य या कथोपकथन की शैली में कहा जाने वाला एक सम्वाद ग्रन्थ हो जाता है। प्रस्तुत नाटक की भाषा सर्वत्र एक तरह की है, जैसी भाषा संत करोड़ी मल की है वैसी ही भाषा स्वामी महामूर्खानन्द, ग्रामीण या डाकुओं की भी है, पात्रों की पूरी फौज है, अतः प्रस्तुत रूप में इसे अभिनीत करना दुस्साध्य है, किन्तु उद्देश्य की दृष्टि से उक्त पुस्तक की उपयोगिता में सन्देह नहीं किया जा सकता है।

**क्षितिज :** लेखक—श्री रमणलाल वसन्त लाल देसाई; अनुवादक—श्री श्यामलाल मेढ़; प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड बम्बई-२; मूल्य पांच रुपया।

स्वर्गीय देसाई जी का यह उपन्यास, आर्य एवं नाग संस्कृति के संघर्ष तथा समन्वय की एक पुरातन कहानी है। विभिन्न पुरातत्व सामग्रियों के प्रकाश में यह सिद्ध हो चुका है कि आर्य सभ्यता से पूर्व की भारतीय सभ्यता अति उच्च थी, स्थापत्य एवं ललितकलाओं की धाक सुदूर कास्पियन सागर, मध्य एशिया, ईरान तथा मलया, जावा, सुमात्रा, वाली और बोर्नियो तक फैली हुई थी, यूनान और भारत का सम्बन्ध तो बहुत पुराना नहीं है, प्रत्युत रोमन साम्राज्य लालायित था कि किसी प्रकार वह भारत को अपने अधीन करले, क्षितिज में भारत के उसी युग की झांकी बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है और स्वराष्ट्र की रक्षा के लिए, कितने त्याग, नियंत्रण एवं शौर्य की आवश्यकता है, उसकी उज्वल आभा विकीर्ण की गई है।

रोमन साम्राज्य का सेनापति क्षमा, आर्य तरुण सुबाहु और सुकेतु तथा नागों की अधिष्ठात्री उलूपी एवं उसके सेनापति उत्तुंग के माध्यम से लेखक ने इन विभिन्न संस्कृतियों का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है, और यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय संस्कृति उच्छृङ्खल भोग में नहीं प्रत्युत नियंत्रित विलास में है। विषकन्या एवं रसायनिक बौद्धतांत्रिक की अवतारणा से प्रस्तुत पुस्तक का रोमांचक रहस्य अन्त तक जिज्ञासा को अतृप्त बनाए रखता है, इससे कथा की रोचकता कितनी बढ़ गई है, यह तो पढ़ने के बाद भी बताना कठिन है। प्रकाशक ने गुजराती के ऐसे कितने ही उपन्यासों को हिन्दी में देकर हिन्दी के पाठकों का कल्याण किया है, वह प्रशंसनीय है।

**बिना बुलाए पंच :** लेखक—श्री देवराज दिनेश; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६; मूल्य, तीन रुपये।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्रस्तुत पुस्तक हास्य-व्यंग्य के तेरह एकांकियों का संग्रह है, सभी एकांकी अभिनय के योग्य सुरुचि सम्पन्न एवं तीखे व्यंग्य समन्वित हैं, इनके पात्र इसी दुनियां से, अपने आसपास टहलने वाले भले मानुषों में से लिए गए हैं। इस संग्रह के प्रायः सभी एकांकी-सामाजिक हैं और सभी सामयिक हैं, आजका युग कितनी तेजी से बदलता जा रहा है, किस प्रकार बुद्धि की होड़ में व्यक्ति अपने को दूसरों से आगे समझने लगा है, और आडम्बर की भूमिका को ही वह वास्तविक बनाने का प्रयत्न कर रहा है, इन सभी समस्याओं पर लेखक ने अपनी नुकीली कलम से तीखा व्यंग्य किया है। इन एकांकियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पात्र, भाषा, साज-सज्जा एवं रंगमंच, सभी दृष्टियों से इनका अभिनय सुगमता से किया जा सकता है, एकांकी नाटक के सभी तत्वों का निर्वाह प्रशंसनीय है।

**--रामकीर्ति द्विवेदी**

**आदिम मानव समाज** : लेखक--श्री भूपेन्द्रनाथ सान्याल; प्रकाशक--नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; मूल्य चार रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक 'अमृत पत्रिका' के काफी समय तक सहायक सम्पादक रह चुके हैं। इनकी लिखी हुई 'मार्क्सवादी दर्शन' पुस्तक साहित्य सम्मेलन द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है। यह पुस्तक भी जिस उद्देश्य को लेकर लिखी गई है उसकी पुष्टि करती है। प्रागैतिहासिक मानव संस्कृति का उत्तरोत्तर लाखों वर्षों तक कैसे विकास हुआ इस पुस्तक का विषय है। आधुनिक सभ्यता में भी प्राचीन रीति-रिवाजों की छाप वर्तमान है। सामाजिक, कलात्मक एवं सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में आदिम मानव समाज का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। आदिम जाति के लोग हमारे समाज के अंग हैं। इनके विषय में जानकारी करना हमारा मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिए क्योंकि उत्पादन प्रथा और समाज संगठन का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव हम कह सकते हैं कि यह पुस्तक आदिम मानव समाज और संस्कृति का एक संक्षिप्त परन्तु सुसंबद्ध इतिहास है। आज के आदिम समाज के अध्ययन से, विशेषकर उनमें प्रचलित लोक-कथाओं के द्वारा उनके आदिम पुरखों के संबंध में हमें बहुत कुछ जानकारी मिल जाती है। आदिम समाज के लोग किस प्रकार जीवन निर्वाह करते हैं, उनकी विवाह-प्रथा, उनमें प्रचलित रीति-रिवाज आदि पर विस्तारपूर्वक इसमें प्रकाश डाला गया है। आवरण पृष्ठ पर ऊपर का चित्र 'बाइसन' (भैंस जाति) का है। यह चित्र आदिम कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। पुस्तक की छपाई आदि अत्यन्त आकर्षक है। यदि इस पुस्तक में आदिम जातियों के चित्र होते तो यह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती, यद्यपि पाठक इससे लाभान्वित होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

**तीर्थ-यात्रा** : लेखक—सुदर्शन; प्रकाशक—बोरा एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, ३ राउन्ड बिल्डिंग, कालवा देवी रोड, बम्बई २; मूल्य

इस पुस्तक में सुदर्शन जी की पन्द्रह मौलिक कहानियां संग्रहीत हैं जिनमें प्रसाद, गांभीर्य एवं मन के भाव कूट-कूट कर भरे हुए हैं। यह कहानी संग्रह सिद्धहस्त कथाकार सुदर्शन जी की कला का अप्रतिम प्रतीक है। इनकी कहानियाँ ऊंची कक्षाओं के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित की गई हैं



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अतएव इस संग्रह की प्रायः सभी कहानियां पढ़ी हुई हैं। कहानियाँ सामाजिक एवं रोचक हैं। यह मुंशी प्रेमचन्द के साथी लेखकों में से हैं और इनकी ख्याति भी उन्हीं के समान है।

सरलता, शुद्धता एवं स्पष्टता इनकी भाषा की देन है। प्रवाहपूर्ण शैली में छोटे भावों को भी व्यक्त करने की इनकी विशेषता है। एक बार पढ़ने पर भी इनकी कहानियों को बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है। पुस्तक का पांचवां संस्करण होना ही इस बात का द्योतक है कि प्रस्तुत पुस्तक का काफी प्रचार हुआ है।

**मुक्तिदूत** : लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली–६; मूल्य, दो रुपये।

भट्ट जी हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककारों में से हैं। यह पुस्तक पहिले मुक्ति पथ के नाम से प्रकाशित हुई थी लेकिन लेखक ने अब इसका नया नाम 'मुक्तिदूत' रखना उचित समझा। नाटक गौतम बुद्ध के विषय में लिखा गया है और उन्हें मुक्तिदूत कहना युक्तिसंगत ही है। तीन अंकों का यह नाटक रंगमंच के योग्य है! यद्यपि पात्रों की संख्या अधिक अवश्य है, फिर भी कुछ पात्र परिचित से हैं। नाटक का कथोपकथन मार्मिक, सरल एवं छोटे हैं। नाटकीय टेकनीक का पूर्ण निर्वाह किया गया है। भाषा भी साधारण बोलचाल की है। प्रसाद के नाटकों की भाषा की भांति क्लिष्ट नहीं है! इस प्रकार के नाटकों के अभिनय से अहिंसा, दया एवं क्षमता का प्रचार हो सकता है!

**तीन तिलंगे** : मूल लेखक—अलेक्जेंडर ड्यूमा; रूपान्तरकार—श्रीकान्त व्यास; प्रकाशक—शिक्षा भारती, दिल्ली; मूल्य, एक रुपया पचास नए पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक बालकों के लिए लिखी गई है। फ़्रांसीसी साहित्य का ड्यूमा एक प्रसिद्ध उपन्यासकार एवं कहानीकार है। इसकी इस पुस्तक का संसार की लगभग सभी भाषाओं में अनुवाद हुआ है। यह उपन्यास अत्यन्त रोचक है क्योंकि लेखक का एकमात्र उद्देश्य मनोरंजन करना था। 'तीन तिलंगे' ड्यूमा का प्रथम ऐतिहासिक एवं प्रेमपूर्ण उपन्यास है। इनके लिखने की शैली प्रभावपूर्ण एवं आकर्षक है। लेखक ने तथ्यों का विश्लेषण इस ढंग से किया है कि पाठक का जी नहीं ऊबता और वह जब तक पुस्तक समाप्त नहीं कर देता, तब तक विश्राम नहीं लेता। बच्चों की पुस्तक के लिए लेखक में इस विशेष गुण का होना आवश्यक है। निसन्देह 'तीन तिलंगे' बच्चों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। अनुवादकर्ता ने सरल एवं सुबोध भाषा का प्रयोग किया है।

**फूलदान** : लेखक—श्री कृष्णचन्द्र; प्रकाशक—बोरा एण्ड कम्पनी, ३ राउन्ड बिल्डिंग, कालबा देवी रोड, बम्बई–२; मूल्य, तीन रुपये।

फूलदान कृष्णचन्द्र की बारह नवीनतम कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों में लेखक ने व्यंगपूर्ण शैली में सामाजिक बुराइयों को सामने लाने का सफल प्रयास किया है। 'इनमें जहां आज के समाज में व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार का घोरतम रूप दिग्दर्शित हुआ है वहां पूंजीप्रधान युग में दबी और कराहती हुई मानवता की वास्तविक स्थिति को भी स्थापित किया गया है।' यद्यपि



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



कहानियों में एक ही सत्य एवं तथ्य का समावेश किया गया है, फिर भी इनकी शैली-शिल्प भिन्न हैं। इन कहानियों में मिलेगा 'मानवी सद्‌गुणों का गौरवान्वय, मनुष्य की महिमा को क्षतिग्रस्त करने वाली प्रवृतियों पर प्रहार, युद्धोन्माद की भर्त्सना एवं विश्वशान्ति के लिए मानव सुलभ ललक एवं तड़प'।

'बापू ! तेरे नाम पर' कहानी में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि लोग अपने स्वार्थ के लिए अच्छी वस्तु का भी दुरुपयोग कर सकते हैं। समाज के नैतिक पतन का क्या इससे भी वीभत्स रूप हो सकता है ? प्रकाशक का कहना ठीक ही है कि "कहानी के कला-पक्ष को जरा-सी भी क्षति पहुँचाए बिना आज के व्यापक भ्रष्टाचार और दुराचार का जिस प्रकार लेखक ने भंडाफोड़ किया है वह आज की कहानी में अन्यत्र दुर्लभ ही है। कहानियाँ पाठकों के रस-बोध का परिष्कार करने के साथ ही साथ अच्छे और सुखी समाज के निर्माण के प्रयत्नों में एक आयुध का काम भी देंगी।"

'रोगी बाप', 'फूलदान', 'जहां हवा न थी' आदि कहानियां हमारे जीवन के गन्दे तथ्यों को उभाड़ने में सहायता देती हैं। इस प्रकार की व्यंग्यात्मक कहानियों से समाज का रूप निखरेगा ही, इसमें सन्देह नहीं। सभी कहानियाँ पढ़ने योग्य हैं।

**--सत्यार्थी एम० ए०**

**कबूतरखाना** : लेखक—श्री शैलेश मटियानी; प्रकाशक--आतमाराम एण्ड सन्स दिल्ली; मूल्य २, रुपया ५० नये पैसे।

कबूतरखाना—विशाल बम्बई नगरी में एक क्षेत्र के उस वर्ग की कथा है जो वैभव-विलास की छाँह में रहते हुए दबा रहता है, उभर नहीं पाता है, उसाँसें भरता है फिर भी ज़िन्दा रहता है, कार्यरत रहता है। शैलेश मटियानी हिन्दी के कथाक्षेत्र में नया स्वर, नया साज और नया शिल्प लेकर उतरे हैं। उनके लिखने और सोचने का ढंग निराला है, वह कल्पना के पंख फड़फड़ाने के बजाय यथार्थ की भूमि पर घटनाओं और अनुभूतियों को आतमसात करते हुए सजग रूप से चलते हैं। कबूतरखाना के पात्रों का रहन-सहन, स्वभाव यद्यपि कबूतरों जैसा ही है किन्तु कथाकार के शिल्प और उसकी संवेदना ने उन्हें वह जीवनी-शक्ति प्रदान की है, जो किसी भी समय बिल्ली और बाज़ को अपने पंजों में दबोच सकने की शक्ति रखते हैं। प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास जिस वर्ग का चित्र हमारे सामने रखता है वह सजीव एवं यथार्थ होने के साथ ही हमें सोचने, समझने की प्रेरणा देता है। भाषा स्वाभाविक और सुघर है, कथानक संस्मरणात्मक होते हुए भी औपन्यासिक ओज और तत्त्व से भरपूर है।

**कल्याणी :** (उपन्यास) लेखक—श्री जैनेन्द्र कुमार; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य, १०० नये पैसे।

कल्याणी भारतीय नारी की एक ऐसी जीवन्त प्रतिमा है, जिसमें नारीत्व का अहं और समर्पण दोनों समान भाव से प्रेम, त्याग और विद्रोह के मर्मस्पर्शी विन्दुओं का संस्पर्श करते हुए नारीत्व की मर्यादा और उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा में निरत हैं। जैनेन्द्र जी अपने कथा-शिल्प और अनुभूति को कहानी या उपन्यास के धरातल में जब उतारते हैं तो उनके पात्र परंपरागत आदर्शों



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



और मान्यताओं की विश्वास भूमि पर इस प्रकार गतिशील होते हैं कि कथा जाह्नवी का अविरल प्रवाह बन कर पाठकों और आलोचकों को स्नात परिपूत बना देती है। कल्याणी ऐसी ही उदात्त रचना है जिसमें नारी जीवन के आक्रोश और विद्रोह में उसका निखरा हुआ सांस्कृतिक सौन्दर्य, आदर्श और परंपरा की न टूटने वाली श्रृंखला और मानवता का सन्देश देने वाली समर्पण भावना है।

**यशपाल की श्रेष्ठ कहानियाँ** : लेखक—श्री यशपाल; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन दिल्ली; मूल्य १०० नये पैसे।

एक सार्थक उद्देश्य और यथार्थ की पृष्ठभूमि पर लिखित यशपाल जी की ये कहानियां इसलिए उनकी अन्य कहानियों से श्रेष्ठ हैं कि इनमें जिन्दगी को हर पहलू से देखा गया है। शिव, और अशिव पक्ष का नीर क्षीर-विवेक किया गया है। हर कहानी में एक ऐसी कसमसाहट मिलती है जो पाठक या आलोचक को झकझोर देने में समर्थ है। कहानी पढ़ते समय कल्पना लोक से उतर कर पाठक को यथार्थ की अनुभूति होती है। वह हर कहानी से 'जियो और जीने दो' का सन्देश पाता है।

**बुक्का राय : (ऐतिहासिक उपन्यास)** लेखक—श्री गुणवंतराय आचार्य; अनुवादक—श्री श्यामू संन्यासी; प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी, बम्बई; मूल्य ५ रुपये ५० नये पैसे।

वोरा एण्ड कम्पनी धूमकेतु एवं गुणवंतराय आचार्य जैसे यशःप्राप्त लेखकों के गुजराती भाषा के ऐतिहासिक उपन्यासों को हिन्दी में अनूदित करा कर हिन्दी साहित्य और हिन्दी के पाठकों का महान् उपकार कर रही है। धूमकेतु की मौर्यकालीन, गुप्तकालीन, अन्धकार युगीन उपन्यासमाला के साथ ही गुणवंतराय के मध्यकालीन विजयनगर-राज्य उपन्यासमाला का प्रकाशन लोकोत्तर रुचिवर्द्धक सिद्ध हो रहा है। विजयनगर-राज्य उपन्यासमाला के अन्तर्गत इससे पूर्व राय हरिहर, कृष्णाजी नायक, रायरेखा तीन ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जो बहुत ही लोकप्रियता सिद्ध हुए हैं। यह चौथा उपन्यास बुक्काराय उसी सिरीज-क्रम से संबंधित है। दक्षिण में राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की प्रेरणा का बीजारोपण जिस 'रायरेखा' की स्थापना से किया गया था उसी रायरेखा का प्रथम रायराया बुक्काराय था। बुक्काराय का चरित इस उपन्यास में मध्यकालीन स्वाधीनता की एक अँगड़ाई के रूप में चित्रित किया है जिसमें उत्साह, शक्ति, त्याग भावना, राष्ट्रीयता और देश-सेवा के प्रति अम्लान निष्ठा झलकती है। साथ ही सुलतान मुहम्मद तुग़लक के बहशीपन, सनकीपन की घटनाओं का इतिहास सम्मत चित्रांकन है। स्वाधीनता के लिए उतावली मेहर सुलताना, मंदांगी जैसे स्त्री पात्र एवं बलदेव सोलंकी, योगिराज सिंगी जैसे पुरुष पात्र इस उपन्यास के नायक बुक्काराय के लिए चतुर्वर्ग बन कर पाठकों से भी आत्मीय संबंध जोड़ते हैं।

**प्यार और पैसा (उपन्यास)** : लेखक—श्री राजाराम शास्त्री; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य तीन रुपये।

प्यार और पैसा में जहां पैसों के बल पर प्यार खरीदने की असफल चेष्टा है वहीं पर पैसे के लिए धनवान सेठ और उसकी पत्नी अपने स्वर्गीय छोटे भाई की गर्भवती विधवा पत्नी पर झूठे



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



प्यार का आवरण डाल कर उसकी सारी संपत्ति आत्मसात् करने का षड्यंत्र रच रहे हैं। आखिर वह दिन भी आया जब छोटे भाई की विधवा ने अस्पताल में बच्चे को जन्म दिया और बड़ा भाई साज़िश द्वारा अपनी नौकरानी से उस बच्चे को चुरवा लेता है। भारी रकम पुरस्कार में पाकर नौकरानी उस नवजात शिशु को यमुना में फेंकने लगती है तो लड़के का मासूम चेहरा, उसकी मासूम चितवन देख कर उसका इरादा बदल जाता है और वह लौटकर अपनी एक निःसंतान सहेली नौकरानी को बच्चा दे देती है और सेठ से बच्चे को यमुना में फेंक आने का समाचार बतला देती है।

सेठ का लड़का राजेन्द्र भी उसी उम्र का था, उसके भाई का अपहृत बालक केशव भी अपनी मां की गोद में चढ़ कर अपनी उस असली मां के घर जाता जो अपने भतीजे राजेन्द्र के पालन-पोषण के लिए केशव की नौकरानी मां को नौकर रखे हुए थी। राजेन्द्र और केशव पढ़ते हैं, एक लक्ष्मी का लाड़ला बन कर और एक सर्वहारा बन कर। केशव नौकरानी का लड़का कहलाते हुए भी स्नातक परीक्षा में सर्वश्रेष्ठ रहा। राजेन्द्र घिसट-घिसटा कर पास हुआ। केशव को रीता नाम की एक विधवा सेठानी की लड़की प्यार करती थी, किन्तु उसकी सगाई राजेन्द्र से कर दी गई थी जिससे रीता घृणा करती थी। यहाँ से प्यार और पैसे का संघर्ष छिड़ जाता है। पैसे के बल पर रीता को अपनी बनाने की अनेक कुचेष्टाएँ की जाती हैं अन्त में प्यार की जीत होती है। रीता केशव को ब्याह दी जाती है और इसी समय उस रहस्य का भंडाफोड़ भी हो जाता है जो पैदा होने के कुछ ही दिन बाद केशव के ताऊ, ताई के षड्यंत्र से उनकी नौकरानी रामप्यारी उसे चुरा ले गई थी। पुलीस उन तीनों पर मुकद्दमा चलाकर जेल भेजती है और केशव रीता, प्यार की जीत लेकर अपना नया संसार बसाते हैं।

इस उपन्यास की कथा के आधार पर तस्वीरिस्तान 'सफ़ेद ख़ून' नाम से फिल्म निर्माण कर रहा है। भाषा-शैली में प्रवाह है, कथानक में आकर्षण और कुतूहल है। घटनाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। यह उपन्यास सामाजिक जीवन का एक ऐसा चित्रण है जो संभावनाओं से परे नहीं कहा जा सकता है।

—देवदत्त शास्त्री



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# संपादकीय

## उत्तर-प्रदेश शासन और उर्दू

अभी कुछ ही दिन हुए हैं, उत्तर प्रदेश शासन ने आचार्य कृपलानी की अध्यक्षता में एक भाषा समिति की स्थापना की है, जिसका उद्देश्य उर्दू भाषियों की शिकायतों को दूर कर उन्हें सुविधा पहुंचाने की योजना प्रस्तुत करना है। यद्यपि इस समिति का ऐसा नामकरण किया गया है, जिससे सर्वसाधारण को यही जानकारी हो कि इसका उद्देश्य कुछ व्यापक है। तथापि यह समिति उन उर्दू के हिमायतियों के सन्तोषार्थ बनाई गई है, जो आज भी उर्दू को एक अलग भाषा के रूप में मानते हैं और उसको उत्तर प्रदेश की क्षेत्रीय भाषा अथवा इलाक़ाई जबान मनवाने के प्रयत्नों में पिछले एक-डेढ़ दशक से ऐंड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं। यह वही लोग हैं, जिन्होंने कई वर्ष पूर्व इसी दूषित उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रपति के सम्मुख लाखों व्यक्तियों के तथाकथित हस्ताक्षर भेजने का आन्दोलन चलाया था अथवा अंजुमन तरक्किए उर्दू, दीनी तालीमी कानफ्रेंस और मुसलिम कन्वेंशन आदि के मंचों से अपनी इस मांग को बराबर प्रस्तुत करते आ रहे हैं। और अब चूंकि तृतीय सार्वजनिक निर्वाचन अत्यन्त समीप आ गया है अतः हमारी भविष्य-चेता सरकार ने भी उनकी सन्तुष्टि एवं कृपा प्राप्त करने के लिए इस समिति का निर्माण कर दिया है।

इस समिति में कौन कौन लोग हैं, इसके बारे में हमें कुछ भी कहना नहीं है। उनमें से अधिकांश हमारे देश की उज्ज्वल प्रतिभा हैं, किन्तु इसमें बहुमत ऐसे ही लोगों का है जिनकी भाषा सम्बन्धी नीति उक्त दुराग्रह से अछूती नहीं बची है अथवा जो यह चाहते हैं कि वह मूल प्रवृत्ति, जिसने हमारी राष्ट्रभूमि को दो खण्डों में विभाजित करा दिया है, अनवरत रूप से क्रियाशील रहे और अलग भाषा के साथ अलग संस्कृति और अलग शिक्षा की मांग हमारे देश में भी होती रहे।

अल्पसंख्यकों की भाषा समस्या पर विचार करने वाली इस तथाकथित समिति की बड़ी तीव्र एवं सामयिक आलोचना करते हुए उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द जी ने जो कुछ कहा है, उन तथ्यों पर विचार करना प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी का पावन कर्त्तव्य है। उन्होंने तीव्र स्वर में इस समिति की अनावश्यकता की चर्चा करते हुए यह आशंका भी प्रकट की है कि इसके द्वारा आगे चल कर आसाम राज्य की भांति भाषा के प्रश्न पर गृह-कलह होने की संभावना है। उन्होंने यह भी कहा है कि उत्तर प्रदेश राज्य में उर्दू भाषा-भाषियों को 'अल्पसंख्यक' की संज्ञा देना एकदम गलत होगा और यदि यह प्रवृत्ति जारी रही तो इस प्रदेश में भी द्विभाषी अथवा त्रिभाषी राज्य बनने की समस्या उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी। डा० सम्पूर्णानन्द जी के इस कथन का उत्तर राज्य सरकार की ओर से अभी कुछ दिन हुए दिया गया है। वह उत्तर भी हमारे सामने है जिसे देखने से



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



स्पष्ट हो जाता है कि राज्य सरकार ने इस समिति की स्थापना में जो सामयिकता अथवा राजनीतिज्ञता प्रदर्शित की है, वह सर्वसाधारण जनता से भले ही छिपी रह जाये, किन्तु डा० सम्पूर्णानन्द अथवा उनके जैसे सहज राष्ट्रप्रेमी जनों को या देशव्यापी हिन्दी हितैषियों को भ्रम में नहीं डाला जा सकता। डा० सम्पूर्णानन्द की आशंका निराधार नहीं है। अतएव राज्य की जनता को इस खतरे की ओर से सतर्क रहना उचित होगा। पिछले दिनों इस समिति की ओर से जो प्रश्नावली वितरित की गई है, वह एकदम विचित्र तथा अनावश्यक है। इस प्रश्नावली में ऐसा एक भी प्रश्न नहीं है, जिसका कोई उत्तर दिया जा सके। उदाहरण के लिए उन तथाकथित अल्पसंख्यकों की शिक्षा के सम्बन्ध में एक प्रश्न इस प्रकार से है—

"१——ऐसे बच्चों को, जिनकी मातृभाषा उर्दू घोषित की गई है, प्राथमिक शिक्षा-स्तर पर उर्दू में शिक्षा देने का प्रबन्ध।

(१) क्या ये प्रबन्ध सन्तोषजनक हैं?

(२) क्या आप कोई सुझाव देना चाहते हैं?"

संभवतः इस प्रश्न के दोनों खण्डों का उत्तर कोई भी बुद्धिमान एवं राष्ट्रप्रेमी व्यक्ति क्रमशः 'हां' या 'नहीं' में ही देना चाहेगा। क्योंकि जहाँ तक अपनी मातृभाषा को उर्दू घोषित कराने वाले अभिभावकों के बच्चों का प्रश्न है, वे तो तब तक किसी भी प्रबन्ध को सन्तोषजनक नहीं मानेंगे जब तक उत्तर प्रदेश राज्य भर की राज्य भाषा उर्दू न घोषित कर दी जाये, अथवा राज्य भर के बच्चों के लिए मुख्य रूप से उर्दू की शिक्षा-दीक्षा का सन्तोषजनक प्रबन्ध न कर दिया जाये, क्योंकि अतीत के ऐसे अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं, जब अपनी मांगों को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाने में ही ऐसी प्रवृत्ति के लोगों को सफलता तथा राष्ट्र को हानि उठानी पड़ी है। आज हमारे राज्य की शिक्षा की स्थिति यह है कि प्रायः प्रत्येक प्रारम्भिक विद्यालयों में हिन्दी की जो शिक्षण-व्यवस्था है, उसका लाभ जनता के प्रत्येक वर्ग के बच्चे समान रूप से उठाते हैं और हम यह कहने की स्थिति में हैं कि उर्दू को मातृभाषा घोषित कराने वाले अभिभावकों के बच्चों का हिन्दी ज्ञान 'हिन्दी' को मातृभाषा घोषित कराने वाले अभिभावकों के बच्चों के हिन्दी ज्ञान से किसी भी प्रकार निम्न स्तर का नहीं है। और जब समूचे भारत गणराज्य की राजभाषा हिन्दी घोषित हो गई है तो इस प्रकार हिन्दी के स्थान पर उर्दू को पढ़ कर वे बच्चे भविष्य में आगे चल कर लाभ के स्थान पर हानि ही उठाएंगे। यह तो उन्हीं के लाभ की वस्तु है कि आरम्भ से ही हिन्दी में पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लें। कदाचित् इस सन्दर्भ में यह बता देना अनावश्यक है और इस अडिग तथ्य को हमारे देश के सभी कोटि के विद्वान् एवं विवेचक भी स्वीकार करते हैं कि अकेली लिपि को छोड़ कर हिन्दी और उर्दू भाषा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। उर्दू भी हिन्दी की एक शैली उसी प्रकार से है जिस प्रकार से ब्रजभाषा, भोजपुरी या अवधी। देश भर की आपस में नितान्त भिन्न भाषाओं को भी जब एकमात्र देवनागरी लिपि में रखने का सुझाव सभी अंचलों से दिया जा रहा है तो उर्दू को तो नागरी लिपि में रख देने से किसी को अनुमान भी नहीं होगा कि वह उर्दू है और हिन्दी नहीं है। किन्तु मूल प्रश्न यहां यह नहीं है। उर्दू के उक्त तथाकथित



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



अनुयायी लोग उसे युगों तक उसी रूप में स्थिर और दृढ़ बनाए रखना चाहते हैं, जैसी वह ब्रिटिश शासन-काल में थी। वे दुराराध्य अरबी तथा फारसी की जटिल शब्दावलियों का अत्यधिक प्रयोग कर के ही शान्त नहीं होना चाहते प्रत्युत वे यह भी चाहते हैं कि उनकी वह विपरीतगामिनी तथा दुराराध्य लिपि भी पूर्ववत् चलती रहे।

उर्दू के इन्हीं पूर्वग्रहग्रस्त अनुयायियों की सन्तुष्टि के लिए हमारी राज्य सरकार ने यह समिति बनाई है और वह चाहती है कि हिन्दी को राज्यभाषा घोषित कर के जिस राज्य ने समूचे राष्ट्र में हिन्दी की प्रतिष्ठा को सर्वप्रथम स्वीकार किया था, उसमें हिन्दी के हितों को व्यापक क्षति पहुंचाने वाली यह सन्तुष्टीकरण की योजना भी आरम्भ की जाये। क्योंकि यह प्रश्न अकेले उत्तर प्रदेश का नहीं है। कालान्तर में बिहार, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान में भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है और उत्तर प्रदेश का उदाहरण प्रस्तुत करके वहां भी वही सुविधाएं प्राप्त करने की जोरदार माँग की जा सकती है जिनसे शनैः शनैः हिन्दी का बल और प्रभुत्व सीमित और संकुचित होता रहेगा।

उर्दू के ये अनुयायी दूसरे लोगों का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी मांग को सर्वथा असांप्रदायिक बताते हैं, किन्तु यह तथ्य सर्वसाधारण को विदित है कि उर्दू को एक सम्प्रदाय विशेष की भाषा और उसकी पृथक् संस्कृति के प्रतीक रूप में ही स्वीकार कराने का प्रयत्न पिछले अनेक दशकों से होता आ रहा है और यही कारण है कि उर्दू को हिन्दी से भिन्न एक पृथक् भाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है। अन्यथा हिन्दी और उर्दू के उद्‌गम, क्रिया पद, विशेषण, विभक्तियां, तद्धित एवं कृदन्त आदि व्याकरण सम्बन्धी समस्त विशेषताएं एक होने पर भी, दुर्बोध तथा सर्वथा अवैज्ञानिक फारसी लिपि का दुराग्रह क्यों किया जाता ?

आज पाकिस्तान एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। हमारे राज्य तथा देश के ऐसे ही साम्प्रदायिक व्यक्तियों द्वारा उसका निर्माण हुआ है, जो किसी समय उर्दू तथा उसमें निहित पृथक् संस्कृति या तमद्दुन के कट्टर समर्थक एवं मंत्रद्रष्टा रहे हैं। किन्तु वहां की राज्यभाषा के रूप में आज की उर्दू को मान्यता नहीं मिल सकी है। तब फिर भारत अथवा उत्तर प्रदेश में ही उसे पृथक् अस्तित्व देकर राजनयिक संरक्षण प्राप्त करने का यह कुचक्र क्यों चलाया जा रहा है, जिसमें जान-बूझ कर या अनजान बन कर हमारी राज्य सरकार अपने तात्कालिक किन्तु तुच्छ लाभ के लिए फँसने जा रही है ? उसे समय रहते यह तो समझ ही लेना चाहिए कि यह उर्दू प्रेमी लोग केवल शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्रों में ही संरक्षण नहीं प्राप्त करना चाहते, जिसे देने के लिए सरकार ने यह समिति बनाई है, वरन् प्रशासनिक एवं राजनीतिक स्तर पर भी उनकी मांग कालान्तर में प्रस्तुत की जायगी—यह ध्रुव सत्य है। और फिर वह मांग ऐसी होगी, जिसे स्वीकार करना राष्ट्र के प्रति अन्याय होगा तथा हमारी सरकार के लिए भी यह सौदा महंगा पड़ेगा।

अतः राज्य सरकार से हमारा अनुरोध है कि वह उर्दू भाषा के प्रेमियों के हितार्थ संघटित इस समिति को यह भी निर्देश करे कि वह नागरी लिपि द्वारा ही उर्दू के विकास एवं प्रसार की संभावनाओं पर विचार करे। क्योंकि यदि नागरी लिपि के द्वारा उर्दू के प्रचार एवं प्रशिक्षण की बात स्वीकार कर ली जाती है तो हिन्दी की इससे कोई हितहानि नहीं होगी, वरन् उर्दू के द्वारा



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



उसकी व्यापकता एवं लोकप्रियता में वृद्धि ही होगी तथा इससे उर्दू के अनुयायियों को भी एक विशाल क्षेत्र मिलेगा। विदेशों में जहां कहीं भी रोमन लिपि का प्रचलन है उसमें ही वहां की भाषा का प्रयोग किया जाता है और फिर भी उस भाषा का अपना अस्तित्व बना रहता है। जब चीनी, जापानी या अन्य कोई भी भाषा विदेशी रोमन लिपि के प्रयोग के कारण अन्य भाषा नहीं समझी जाती तो अपनी स्वदेशी नागरी लिपि में प्रयुक्त होकर भी उर्दू भाषा उर्दू ही बनी रह सकती है।

मान लीजिए कि यदि यह तथ्य नहीं स्वीकार किया जाता और उर्दू को उसकी अपनी दुर्गम लिपि के साथ ही अविभाज्य रूप में यथावत् स्थिर बनाए रखने का आग्रह किया जाता है तो हमें यह कहना पड़ेगा कि इस प्रदेश में उर्दूभाषियों की भांति बंगला, मराठी आदि भाषाओं को मातृ-भाषा बताने वाले अल्पसंख्यकों की कमी नहीं है और उर्दू की भांति बंगला एवं मराठी भाषा का भी संविधान की चौदह भाषाओं में स्थान है। अतः यदि कालान्तर में उनकी ओर से भी यह मांग प्रस्तुत की जायगी तो हमारी राज्य सरकार कथमपि इनकार नहीं कर सकेगी क्योंकि हमारे राज्य में ऐसा एक भी जिला या जनपद नहीं है, जहां के समस्त निवासियों की केवल उर्दू ही भाषा हो। देहात की बात तो जाने दीजिए जहाँ के मुसलमान किसान हिन्दू किसानों की भांति ही भोजपुरी, अवधी, तथा बुंदेलखण्डी एवं ब्रजभाषा आदि आंचलिक बोलियों का ही नियमित प्रयोग करते हैं, प्रत्युत शहर के रहने वाले मुसलमान एवं हिन्दुओं की बोली में भी कोई विशेष अन्तर नहीं रहता। तब ऐसी स्थिति में उर्दू को क्षेत्रीय भाषा के रूप में प्रश्रय देकर बंगला एवं मराठी आदि को प्रश्रय न देना अन्याय होगा क्योंकि उर्दू-भाषियों की भांति वे भी भाषाई अल्पसंख्यक की संज्ञा से बाहर नहीं किए जा सकते।

अतः सभी दृष्टियों से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तर प्रदेश की राज्य सरकार ने इस समिति का निर्माण करके जिस मनोवृत्ति को प्रश्रय या प्रोत्साहन देने का प्रयास किया है, उसकी ओर किसी की भी साधु दृष्टि नहीं है। इसलिये हमारी समझ में प्रथम तो इस कार्य को स्थगित कर दिया जाना चाहिए अथवा इस भूल का परिमार्जन तो इसी कार्य द्वारा हो सकता है कि इस समिति को उर्दू के लिए नागरी लिपि के प्रयोग की संभावनाओं पर भी विचार करने का अधिकार दिया जाये और उर्दू के उन तथाकथित प्रेमियों से यह स्पष्ट कर दिया जाये कि ब्रिटिश शासन के समान उस समय की विदेशी शासकों द्वारा प्रवर्तित विभेद नीति का अब यहाँ अन्त हो गया है और इस स्वतंत्र राष्ट्र में अपने छोटे-मोटे हितों तथा स्वार्थों को राष्ट्र के व्यापक हित की वेदी पर बलिदान करके ही कोई समाज उन्नति-लाभ कर सकता है। उर्दू वालों को भी ऐसा की करना समीचीन होगा।



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा पुणें का

हिन्दी मासिक मुखपत्र

# राष्ट्रवाणी

यह मासिक पिछले चौदह वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित हो रहा है। महाराष्ट्र के साहित्य और लोक-जीवन की झाँकियाँ दिखाने का इसके माध्यम से यथासम्भव प्रयास किया जाता है। हिन्दी साहित्य तथा प्रचार संस्था और विश्वविद्यालयों की उच्च परीक्षाओं के हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम सम्बन्धी मार्गदर्शनपरक उपयुक्त लेख समय-समय पर इसमें दिये जाते हैं। कहानी, एकांकी, ललित लेख, साहित्य-समीक्षा, समाचार-संकलन आदि उपयुक्त सामग्री के कारण हर एक अंक संग्राह्य होता है।

वार्षिक चन्दा चार रु० मनीआर्डर द्वारा भेजकर ग्राहक सूची में अपना नाम दर्ज करा लें।

**महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा,**

पो० बॉ० ५६०, राष्ट्रभाषा भवन,

**नारायण पेठ, पुणें–२**

---

**आधुनिक हिन्दी कविता में नई दिशा**

**नई दृष्टि का बोधक प्रतिनिधि काव्य-संग्रह**

## आधुनिक कवि–भाग ६

**"माखनलाल चतुर्वेदी"**

**प्रस्तुत है**

- रचयिता द्वारा अपने कृतित्व की स्वयं व्याख्या है।
- संकलित कविताओं में काव्य-शिल्प और युगधर्म का सक्रिय निर्वाह एवं काव्य-धारा के अनेक पीयूष-वर्षी स्रोत प्रस्रवित हैं।
- सुकुमार भाषा के आवरण से ढकी हुई तड़पन कविताओं में वेंणुरव और आह्वान भरती है।
- राष्ट्र-देवता की अर्चना के लिए अर्पित चतुर्वेदी जी की यह काव्य कुसुमांजलि वर्तमान अर्धशती के जन-गण-मन का आस्वर प्रतिविंब है।

मूल्य, तीन रुपए

**हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


# राष्ट्रभारती

सम्पादक

**मोहनलाल भट्ट—हृषीकेश शर्मा**

**वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से ६ रु०; नमूने की प्रति ६२ नए पैसे**

इसमें आपको लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् साहित्यकारों के ज्ञानपोषक और मनोरंजक अच्छे-अच्छे लेख, कविताएं, कहानियाँ, एकांकी, रेखाचित्र, शब्दचित्र आदि रचनाएं पढ़ने को मिलेंगी।

इसमें संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं की तथा अंग्रेजी, रशियन आदि विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं के सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी रहते हैं।

आज ही मनीआर्डर द्वारा ६) भेजकर ग्राहक बन जाइये।

**रियायत**—समिति के प्रमाणित प्रचारकों, केन्द्र-व्यवस्थापकों, स्कूल-कालेजों, सार्वजनिक पुस्तकालयों तथा वाचनालयों को केवल ५) वार्षिक चन्दे में मिलेगी।

पत्र-व्यवहार का पता—

**व्यवस्थापक "राष्ट्रभारती"**

**हिन्दी नगर, वर्धा**

(राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति)

---

**श्री मध्यभारत हिन्दी-साहित्य-समिति इन्दौर**

**की**

## मासिक मुख-पत्रिका

# वीणा

**वार्षिक मूल्य ५)** **एक संख्या ।=)।। आने**

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मध्यप्रदेश, संयुक्त राजस्थान, बिहार और उत्तर प्रदेश की शिक्षा-संस्थाओं के लिए स्वीकृत।

जो पिछले ३२ वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित होकर हिन्दी-साहित्य की अपूर्व सेवा कर रही है। भारत के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इसका उच्च स्थान है।

साहित्य के विभिन्न अंगों पर तथ्यपूर्ण एवम् गंभीर प्रकाश डालनेवाले लेख तथा परीक्षोपयोगी विषयों पर आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित करना इसकी प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा एवम् उत्तमा (रत्न) तथा बी० ए० और एम० ए० के छात्रों के लिए इसके निबन्ध अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

**"वीणा" का भारत में सर्वत्र प्रचार है!**

**ज्ञान-वृद्धि के लिए वीणा अनुपम साधन है!**


CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113062
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक पत्रिका

# "राष्ट्रवीणा"

**सम्पादक---जेठालाल जोशी**

पत्रिका में विद्वानों के चिंतनपूर्ण लेख, गुजराती के साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, कला विषयक लेख, कहानियाँ, नाटक, कविताएँ, गुजराती भाषा सीखनेवालों के लिए उपयोगी सामग्री, आदि कई स्तम्भ नियमित रूप से प्रकाशित होते हैं। पुराने अंकों की फाइलें भी उपलब्ध हैं।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति १)

**गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,**

राष्ट्रभाषा हिन्दी भवन, ऐलिसब्रिज,

अहमदाबाद-६

---

साहित्य, संस्कृति और कला-प्रधान मासिक-पत्रिका

# 'र स वं ती'

**प्रधान संपादक**

**डा० प्रेमनारायण टंडन, पी-एच० डी०**

**'रसवंती' के प्रथम छः अंकों में**

**१०८ रचनाएँ छपी हैं**

प्रत्येक साहित्य-प्रेमी ने 'रसवंती' की प्रशंसा की है। आप भी इसे पढ़कर संतुष्ट होंगे।

'रसवंती' का द्विवार्षिक शुल्क बारह रुपए, वार्षिक सात रुपए, छमाही चार रुपए हैं। नमूने का अंक साठ नये पैसे मिलने पर भेजा जाता है। वी० पी० से 'रसवंती' मँगाने पर शुल्क के अतिरिक्त ७५ नए पैसे अधिक लगते हैं।

**पता —विद्यामंदिर, रानीकटरा, लखनऊ**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महान् कलाकारों की प्रारंभिक रचनाएँ उन पद-चिह्नों के समान हैं, जिन पर चल कर सामान्य लोग जीवन और उसके उद्देश्यों का सधान कर सकते हैं

**हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित**

# हार

युग-कवि पं० सुमित्रानन्दन पंत की किशोरावस्था में लिखी गयी सर्व-प्रथम रचना है

**यह उपन्यास सब के लिए सर्वोत्तम मार्गदर्शक है**

सीमित संस्करण तथा प्रत्येक प्रति पर कवि का तात्कालिक चित्र और हस्ताक्षर

**मूल्य, दस रुपए**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## रजिस्ट्रार न्यूज पेपर्स ऐक्ट के अन्तर्गत

# विज्ञप्ति

| | |
|---|---|
| (१) प्रकाशन का स्थान | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| (२) प्रकाशन की तिथि | त्रैमासिक |
| (३) मुद्रक का नाम | सम्मेलन-मुद्रणालय |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| (४) प्रकाशक का नाम | श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| (५) सम्पादक का नाम | श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल<br>श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| (६) स्वत्वाधिकारी | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |

मैं श्री रामप्रताप त्रिपाठी, घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित विज्ञप्ति मेरी जानकारी के अनुसार बिल्कुल ठीक है।

हस्ताक्षर——रामप्रताप त्रिपाठी

मुद्रक तथा प्रकाशक : रामप्रताप त्रिपाठी : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar